MAST -101

वैदिक वाङ्गमय

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

खण्ड
1

वैदिक सूक्त (भाग - 1)

इकाई- 1

ऋग्वेद का सामान्य परिचय 5

इकाई- 2

देवता परिचय 18

इकाई- 3

वैदिक व्याकरण 29

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

प्रो. यू. पी. सिंह	प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2024

ISBN -

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नही है।

प्रकाशक– उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष – 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी , मथुरा – 281003.

खण्ड-एक :- वैदिक सूक्त

प्रथम खण्ड के दो भाग हैं। इनमें छह इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में ऋग्वेद का सामान्य परिचय, द्वितीय इकाई में देवताओं का सामान्य परिचय तथा तृतीय इकाई में वैदिक व्याकरण का विवेचन है। चतुर्थ इकाई में इन्द्र, सवितृ तथा मरुत सूक्त का वर्णन किया गया है। पञ्चम इकाई में विश्वामित्र नदी संवाद, अग्नि सूक्त तथा अक्ष सूक्तों की व्याख्या की गई हैं। इकाई छह में अथर्ववेदीय सूक्त राष्ट्राभिवर्धनम् तथा पृथिवी सूक्त का वर्णन है।

पाठ्यक्रम परिचय

इस पाठ्यक्रम में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड को दो भागों में बाँटा गया है।इस खण्ड के भाग एक में तीन इकाई हैं। प्रथम इकाई में ऋग्वेद का सामान्य परिचय दिया गया है। द्वितीय इकाई में देवताओं का परिचय है तथा तृतीय इकाई में वैदिक व्याकरण के विषय में बताया गया है। प्रथम खण्ड के भाग दो में भी तीन इकाई हैं चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ। चतुर्थ इकाई में इन्द्र, सवितृ तथा मरुत् सूक्त का वर्णन किया गया है। पञ्चम इकाई में विश्वामित्र नदी संवाद, अग्नि सूक्त तथा अक्ष सूक्त के विषय में बताया गया है। षष्ठ इकाई में अथर्ववेदीय सूक्त राष्ट्राभिवर्धन तथा पृथिवी सूक्त का वर्णन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में पाँच इकाई हैं। प्रथम इकाई में निरुक्त, केनोपनिषद् एव वैदिक वाङ्मय का सामान्य अध्ययन है। द्वितीय इकाई में निरुक्त प्रथम अध्याय 1-5 पाद तक की व्याख्या दी गयी है। तृतीय इकाई में केनोपनिषद् की व्याख्या एवं बोध प्रश्न दिया गया है। संहिताओं चतुर्थ एवं पञ्चम इकाई में वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

इकाई-१ : ऋग्वेद का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य

१.१ वेद

१.२ चार वेद

१.३ चार ऋत्विक्

१.४ वेदत्रयी

१.५ वेद के विभाग

- १.५.१ संहिता
- १.५.२ ब्राह्मण
- १.५.३ आरण्यक
- १.५.४ उपनिषद्

१.६ संहिता ग्रन्थ

- १.६.१ ऋग्वेद संहिता का महत्त्व
- १.६.२ वेदों की शाखाएँ
- १.६.३ ऋग्वेद की शाखाओं का विवरण

१.७ ऋग्वेद का रचना काल

१.८ ऋग्वेद संहिता

- १.८.१ ऋग्वेद का विभाजन
- १.८.२ ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय
- १.८.३ ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ
- १.८.४ ऋग्वेद के आरण्यक ग्रन्थ
- १.८.५ ऋग्वेदीय उपनिषद्

१.९ सम्बन्धित प्रश्न

(१) इकाई प्रथम

१० उद्देश्य

इस यूनिट में ऋग्वेद के सामान्य परिचय से अवगत कराया जायेगा।

१.१ वेद

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा जाता है। 'मनतात् मन्त्राः' के अनुसार जिनके द्वारा यज्ञ-यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा जिनमें उल्लिखित देवताओं की स्तुति का विधान किया जाता है, उन्हें मन्त्र नाम से अभिहित किया जाता है। मन्त्र का सङ्कलन संहिताओं में किया गया है। ब्राह्मण से ग्रन्थविशेष अभिप्रेत है। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है– वर्धन, विस्तार या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थ सामान्य रूप से ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग है– ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इस प्रकार वेद के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् समाहित होते हैं। वेदाङ्ग वेद के उपकारक हैं। अतः वैदिक वाङ्मय में उनका भी समाहार किया जाता है।

विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है– ज्ञान। किन्तु सभी ज्ञान की वेद संज्ञा नहीं है। सायण के अनुसर 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है, वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र के अनुसार 'विद्यते ज्ञायते लभ्यते धर्मादिपुरुषार्थ इति वेद' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान वेद कहलाता है। यद्यपि वेद ज्ञानार्थक है किन्तु उसका अभिधान संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के लिए किया गया है। तदुपकारक होने के कारण वेदाङ्ग भी वैदिक वाङ्मय में समाहित हैं।

१.२ चार वेद

मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है। पहले वेद एक ही था। यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेदव्यास ने वेद का चतुर्धा विभाजन किया। ऋत्विक् होता के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन ऋग्वेदसंहिता में, अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन यजुर्वेद संहिता में, उद्गाता ऋत्विक् के लिए सामवेद संहिता में तथा ब्रह्मा ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन अथर्ववेद संहिता में किया और इनको क्रमशः पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु और जैमिनि को पढ़ाया।

१.३. चार ऋत्विक्

वस्तुतः यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। (१) **हौत्रकर्म** का सम्पादन **होता** नामक ऋत्विक् करता है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करके अपेक्षित देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है जिसका पारिभाषिक नाम है– शस्त्र। (२) **अध्वर्यु** यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विक् होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए यजुर्वेद की संहिता सङ्कलित की गयी। (३) **उद्गाता** तत्तत् देवताओं की स्तुति में सामवेद की संहिता के मन्त्रों का गायन करता है जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। (४) **ब्रह्मा** ऋत्विक् का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा करना, स्वरों में सम्मान्य त्रुटियों का परिमार्जन करना तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दोषों के लिए प्रायश्चित का विधान करना है। इसीलिए ब्रहमा यज्ञ का अध्यक्ष होता है जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों को पूर्णरूपेण निरीक्षण तथा त्रुटिमार्जन करना होता है। यज्ञ निरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व संभालने वाला

ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता है, परन्तु उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है।

१.४. वेदत्रयी

ऋक्, यजुः और साम– इस स्वरूप के भेद से वेद का त्रिधा विभाजन हुआ है। **'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'** (जै०सू० २.१.३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है। **'गीतिषु सामाख्या'** (जै०सू० २.१.३६) अर्थात् इन ऋचाओं पर जो गायन किये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं। **'शेषे यजुः शब्दः'** (जै०सू० २.१.३७) इन ऋचाओं और सामों से अन्य मन्त्रों को यजुष् कहा गया है.। **'गद्यात्मकं यजुः'** के अनुसार यजुष् गद्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना तीन विधाओं में हुई है– ऋक्, यजुष्, और सामन्। इन्हीं के आधार वेद को ऋक्, यजुः, साम– इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद ऋचात्मक, सामवेद सामात्मक (गेयात्मक) और यजुर्वेद यजुषात्मक (गद्यात्मक) हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अथर्ववेद वेदत्रयी के अन्तर्गत नहीं है। वस्तुतः अथर्ववेद के मन्त्रों का छन्दोबद्ध भाग ऋक् (ऋचा) और गद्यात्मक भाग यजुष् के अन्तर्गत समाहित है।

१.५. वेद के विभाग

सभी वेदों के मुख्य चार विभाग हैं– (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक (४) उपनिषद्। यहाँ संहिता का अर्थ है– वह ग्रन्थ जिसमें वेदमन्त्र सङ्कलित किये गये हैं। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व (अथर्वन्) रूपात्मक मन्त्रों के चारों सङ्कलन ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ही संहिता के नाम से कहे जाते हैं।

१.५.१ संहिता

संहिता-ग्रन्थों की संख्या चार है। जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट-ऋक् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है, उसे ऋग्वेद-संहिता; जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले यजुष् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया उसे यजुर्वेद-संहिता, जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में गाये जाने वाले साममन्त्रों का सङ्कलन हुआ है, उसे सामवेद-संहिता एवं शान्तिक तथा पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का जो सङ्कलन तैयार किया गया, उसे अथर्ववेद-संहिता कहा गया। यद्यपि ऋक्-लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में प्राप्त होते हैं, फिर भी जिस सङ्कलन में केवल ऋङ्मन्त्रों (ऋचाओं) का ही सङ्कलन है, उसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। जिस सङ्कलन में यजुष् मन्त्रों की अधिकता है और साथ ही कतिपय ऋक्-लक्षणयुक्त मन्त्र भी गद्य रूप में पढ़े जाते हों, वह सङ्कलन यजुर्वेद-संहिता कहलाता है। इसी प्रकार स्तोम एवं गान के आधारभूत कतिपय ऋचाओं एवं स्तोम-लक्षण कतिपय मन्त्रों के साथ ही उसमें 'साम' का ही सङ्कलन प्राधान्य प्राप्त कर चुका है, उसे सामवेद-संहिता कहते हैं। इस प्रकार पद्य, गद्य एवं साम के आधार पर जो संहिताएँ सङ्कलित की गयीं उनका नामकरण तो हो गया, परन्तु अन्य सङ्कलन का नामकरण क्या हो, इस समस्या का समाधान उन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वा और ऋषियों के नाम से 'अथर्वांगिरस् संहिता' अथवा अथर्ववेद-संहिता नाम रखकर कर लिया गया है।

१.५.२. ब्राह्मण

संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इन ग्रन्थों में संहितागत मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही उनका विविध याज्ञिक कर्मों में विनियोग भी बतलाया गया है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें 'मन्त्र' और 'यज्ञ' अर्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा उनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य समझा गया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की वैज्ञानिक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। विश्व-साहित्य में गद्य का आविर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो गया था परन्तु उसे परिष्कार मिला है ब्राह्मणग्रन्थों में। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध प्रकार की ललित कथाओं के माध्यम से यज्ञ में होने

वाले विविध कर्मकाण्डों का औचित्य समझाने का सफल प्रयास किया गया है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का विधान कब किया जाय, कैसे किया जाय, उसमें कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं, उन यज्ञों के अधिकारी कौन हैं इत्यादि विषयों को सुलझाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विवेच्य विषय है– विधि। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यान प्रस्तुत करके यजमानों के अन्तःकरण में यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक प्रयोजन है। यत्र-तत्र कतिपय शब्दों का निर्वचन करके ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए हैं। सभी संहिताओं के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१.५.३. आरण्यक

जिन ग्रन्थों का प्रणयन विशेष रूप से अरण्य में पढ़ने के लिए किया गया था वे आरण्यक कहलाये। आरण्यक-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है। प्राणविद्या की भी महत्ता इन आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गयी है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

१.५.४. उपनिषद्

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-धारा को सरल प्रवाही रूप में प्रस्फुटित करने का गौरव उपनिषद् साहित्य को ही प्राप्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होने एवं संहिता-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वज्ञान को प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ उपनिषद् ही हैं। उपनिषद्-वाङ्मय भारतीय-संस्कृति के आध्यात्मिक चिन्तन का चरम निदर्शन है। दाराशिकोह जैसे इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उपनिषदों को अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया है। पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में भी उपनिषद् विश्व के अध्यात्म-गुरु का स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाग का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारा सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था– (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष-विभाजन भी किया गया था। सामान्यतः प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम तत्पश्चात् ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ आश्रम और शेष आयु संन्यास आश्रम में व्यतीत करने का विधान था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिता-ग्रन्थों का पढ़ना एवं कण्ठाग्र करना विहित था। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ-यागादि करने का विधान था। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी को पुत्रों पर परिवार का भार सौंपकर जङ्गल में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुरूप कार्य करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करके केवल आध्यात्मिक सुधा-धारा का पान करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन, मनन एवं प्रवचन करते हुए लोकोपकार करने का विधान था।

१.७ संहिता-ग्रन्थ

१.७.१. ऋग्वेद-संहिता का महत्त्व

अधोलिखित कारणों से उपर्युक्त चारों संहिताओं में ऋग्वेद-संहिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है–

१. भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से विचार करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद-संहिता अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

२. भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं भी वेदों का प्रसङ्ग आया है वहाँ ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। ''अभ्यर्हितं पूर्वम्'' न्याय के अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण का ही सर्वप्रथम उल्लेख होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वत्र सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

३. अन्य सभी वेदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को नि:संकोच रूप से ग्रहण किया है। यजुर्वेद के मन्त्र-काण्डों में स्थान-स्थान पर ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ उपलब्ध होती हैं। अथर्ववेद के बारह सौ मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। सामवेद के सभी साम ऋगाश्रित हैं। वस्तुत: सामवेद (कौथुम शाखा) के पचहत्तर मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

४. सभी वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने द्वारा कथित अर्थ में विश्वास को दृढ़ करने के लिए "इस प्रकार ऋक् ने भी कहा है"– यह कहकर ऋक् को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

५. यज्ञ के अङ्गों को दृढ़ करने के कारण भी ऋग्वेद महत्त्वपूर्ण है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के अध्येता घोषित करते हैं– "यज्ञ का जो कार्य साम या यजु: के द्वारा किया जाता है वह शिथिल होता है; किंतु जो ऋक् के द्वारा किया जाता है वह दृढ़ होता है।"

६. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में पुराण-विज्ञान (Mythology) की दृष्टि से भी ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के सूक्तों का मूल्य इसलिए है कि इनमें अभी देवगाथाओं का निर्माण हो ही रहा है– देवता हमारी आँखों के सामने देवत्व प्राप्त करते हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। इस प्रकार भारतीय धर्म की उत्पत्ति ऋग्वेद से ही हुई है।

१.७.२ वेदों की शाखाएँ

भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक मूल वेद को चार संहिताओं में संकलित किया था। संहिताओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने इन संहिताओं को अपने चार शिष्यों को पढ़ाया– पैल को ऋग्वेद-संहिता, जैमिनि को सामवेद-संहिता, वैशम्पायन को यजुर्वेद-संहिता और सुमन्तु को अथर्ववेद-संहिता। इन चारों शिष्यों ने इन चारों संहिताओं को अनेक शिष्यों को पढ़ाया और उन शिष्यों ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। इसी क्रम से अध्यापन-अध्ययन मौखिक रूप से चलता रहा।

संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। यद्यपि संहिताओं के अध्यापकों और अध्येताओं ने संहिताओं के मन्त्रों को अपरिवर्तित रखने का अथक परिश्रम किया, तथापि परिवर्तन हो ही गया। इसके परिणामस्वरूप एक-एक संहिता की अनेक संहिताएँ बन गयीं। एक मूल संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गयी– एक परम्परा से अनेक परम्पराओं का आविर्भाव हुआ।

एक वेद की विभिन्न शाखाओं में परस्पर दो प्रकार के अन्तर हैं– (१) उच्चारण-विषयक अन्तर और (२) कतिपय मन्त्रों का एक शाखा में उपलब्ध होना और दूसरी शाखा में उपलब्ध न होना। एक वेद की शाखाओं में परस्पर अत्यल्प अन्तर उपलब्ध होता है। संहिताओं में सूक्तों और मन्त्रों का क्रम प्राय: समान ही होता है। कतिपय शब्दों अथवा मन्त्रों तक ही अन्तर सीमित होता है। ऐसे उदाहरण अल्प ही हैं जहाँ एक शाखा में दूसरी शाखा की अपेक्षा कतिपय अधिक सूक्त हैं। शाखाएँ प्राचीन सूक्तों के स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु एक ही मूल-संग्रह के विभिन्न संस्करण हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की एक ही शाखा (शाकल) की संहिता अब तक उपलब्ध हुई है। भविष्य में यदि ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं, तो उन हस्तलेखों के आधार पर शाकल-संहिता में ही अन्य संहिताओं के पाठ-भेदों को पाद-टिप्पणियों में दिखलाये जाने से कार्य चल जायेगा।

वेदों की शाखाओं की संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में परस्पर-विरोधी उल्लेख मिलते हैं। अस्तु, पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस (२१), यजुर्वेद की एक सौ एक (१०१), सामवेद की एक हजार (१०००) और अथर्ववेद की नौ (९) शाखाएँ हैं। इनमें से अधिकतर शाखाएँ विनष्ट हो गयी हैं। आजकल अधोलिखित शाखाओं की संहिताएँ ही उपलब्ध हैं–

ऋग्वेद —शाकल

यजुर्वेद (शुक्ल) — (१) काण्व; (२) माध्यंदिन।

यजुर्वेद (कृष्ण) — (१) तैत्तिरीय; (२) मैत्रायणी; (३) कठ; (४) कपिष्ठलकठ (अंशत: उपलब्ध)।

सामवेद — (१) कौथुम; (२) जैमिनीय।

अथर्ववेद — (१) शौनक; (२) पैप्पलाद (अंशत: उपलब्ध)।

१.७.३. ऋग्वेद की शाखाओं का विवरण

ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में पाँच मुख्य हैं— (१) शाकल; (२) बाष्कल; (३) आश्वलायन; (४) शाङ्खायन और (५) माण्डूकायन।

१. शाकल-शाखा— ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध संहिता शाकल-शाखा की है। इस शाखा के प्रवर्तक वेदमित्र शाकल्य हैं। इनके द्वारा प्रोक्त शाखा तथा इनके शिष्य शाकल कहलाते हैं। वेदमित्र शाकल्य के पाँच शिष्य थे— मुद्गल, गालव, खालीय, वात्स्य और शैशिरि। इन शिष्यों ने पाँच उपशाखाओं का प्रवर्तन किया इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं हुई है।

शाकल-संहिता में १०१७ सूक्त हैं। दस मण्डलों की सूक्त-संख्या क्रमशः इस प्रकार हैं— १९१+४३+६२+५८+८७+७५+१०४+९२+११४+१९१ = १०१७। इनके अतिरिक्त अष्टम मण्डल में ग्यारह सूक्त (८.४९-५९) भी हैं, जो 'बालखिल्य' कहलाते हैं। इनका पदपाठ उपलब्ध नहीं है।

२. बाष्कल-शाखा— पैल के दूसरे शिष्य बाष्कल थे। बाष्कल के चार शिष्य हुए— बौध्य, अग्निमाठर, पराशर तथा जातूकर्ण्य। इन चारों ने अपनी-अपनी उप-शाखाओं का प्रवर्तन किया। किन्तु अब तक न बाष्कल-शाखा की संहिता उपलब्ध हुई और न किसी उपशाखा की संहिता। बाष्कल-शाखा की विशेषताओं का उल्लेख आश्वलायन-गृह्यसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र, अनुवाकानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि शाकल-संहिता के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र ''समानी व आकूति:'' है तथा बाष्कल-संहिता के अनुसार ''तच्छंयोरावृणीमहे'' है। शाकल-संहिता के अनुसार सूक्तों की संख्या १०१७ है। बाष्कल-संहिता में आठ सूक्त अधिक हैं। इस प्रकार बाष्कल-संहिता में १०२५ सूक्त हैं। बाष्कल-संहिता में प्रथम मण्डल के मन्त्रों का क्रम भी कहीं-कहीं शाकल-शाखा के क्रम से भिन्न है।

३. आश्वलायन-शाखा— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इसके श्रौतसूत्र (आश्वलायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (आश्वलायन-गृह्यसूत्र) ही मिलते हैं।

४. शाङ्खायन-शाखा— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इसके ब्राह्मण (शाङ्खायन-ब्राह्मण), आरण्यक (शाङ्खायन-आरण्यक), श्रौतसूत्र (शाङ्खायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (शाङ्खायन-गृह्यसूत्र) उपलब्ध हैं।

५. माण्डूकायन-शाखा— इस शाखा का कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुँआ है।

१.७ ऋग्वेद का रचना काल

भारतीय दृष्टिकोण और परम्परायें वेदों को अनादि एवं नित्य मानते हैं। भारतीय साहित्य के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य और अङ्गिरा को दिया था। उस ईश्वरीय ज्ञान, वेद मन्त्रों के ऋषियों ने दर्शन किये। जिन ऋषियों ने जिन मन्त्रों के दर्शन किये, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। मनुस्मृति आदि के प्रमाणों को उद्धृत करके स्वामी दयानन्द ने यह प्रमाणित किया कि सृष्टि की उत्पत्ति १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष पूर्व हुई थी, अत: वेदों का आविर्भाव इतने ही वर्ष पहले हुआ था।

परन्तु वर्तमान युग की ऐतिहासिक दृष्टि, जो विकासवाद पर विश्वास रखती है, इस भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिये सहमत नहीं है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने ऋग्वेद को सबसे प्राचीन मानकर उसके समय के निर्धारण का प्रयत्न किया। इन विद्वानों का कथन है कि प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाणों के अभाव में ऋग्वेद के समय को ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता; परन्तु उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है। हो सकता है कि उस अनुमान

में कुछ शताब्दियों का अन्तर रह जाये। पाश्चात्त्य आलोचकों के अनुकरण में भारतीय आलोचकों ने भी वेदों के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया और ये ऋग्वेद के समय को पाश्चात्त्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय तक खींच कर ले गये। इस स्थल पर ऋग्वेद की रचना के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

मैक्समूलर का मत—इग्लैण्ड की 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद' (शाकल शाखा) का प्रकाशन हुआ था। यह ग्रन्थ १८५९ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना को १२०० ई०पू० का सिद्ध किया।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर ने कहा कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक साहित्य की रचना पूरी हो चुकी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों—छन्दः, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र में विभाजित किया तथा उनके अनुसार प्रत्येक भाग के विकास का एक विशेष काल रहा था। सबसे पहले छन्दों, उसके बाद मन्त्रों, तदनन्तर ब्राह्मणों तथा उनके पश्चात् सूत्रों की रचना हुई। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक विभाग के विकास और उसकी पूर्णता के लिये २०० वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का समय ५०० ई०पू० का है। अत: सूत्रों की रचना ६०० ई०पू० में पूरी हो चुकी होगी। सूत्रों से २०० वर्ष पहले अर्थात् ८०० ई०पू० का समय ब्राह्मणों का है। इस समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हो जानी चाहिये। उससे पहले २०० वर्षों का समय मन्त्रों का है। वेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—छन्द: और मन्त्र। मन्त्रों का विनियोग यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है तथा शेष छन्द हैं। मन्त्रों की रचना और विकास उससे पहले के २०० वर्षों में अर्थात् १००० ई०पू० तक तथा छन्दों की रचना उससे भी २०० वर्ष पहले अर्थात् १२०० ई०पू० में हुई थी।

इस कालगणना के सम्बन्ध में मैक्समूलर स्वयं पूरी तौर पर सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने बाद में स्वयं कहा कि यह समय निर्धारण तो केवल एक अनुमान है। वेदों के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव-सा है। हो सकता है कि वेदों का अस्तित्व इससे पहले भी रहा हो।

विल्सन, कीथ, कोलब्रुक आदि विद्वानों ने 'ऋग्वेद' की रचना के समय के सम्बन्ध में मैक्समूलर का समर्थन किया है।

ऋग्वेद के समय का निर्धारण करने में अनेक विद्वानों ने मैक्समूलर की पद्धति को तो स्वीकार किया; परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिये २०० वर्ष के समय को अपर्याप्त माना। ओल्डनवर्ग के अनुसार ऋग्वेद की रचना का समय २५०० ई०पू० का होना चाहिये।

मैक्डोनल का मत—मैक्डोनल ने ऋग्वेद का रचना काल १३०० ई०पू० प्रतिपादित किया है। मैक्डोनल का विचार है कि आर्यों की भारतीय और ईरानी शाखायें, जो पहले एक ही थीं, १३०० ई०पू० के लगभग पृथक् हुई थीं। इसी समय आर्यों की भारतीय शाखा द्वारा ऋग्वेद की रचना हुई। इसके ५०० वर्ष बाद ८०० ई०पू० में अवेस्ता की रचना हुई। उनका कहना है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के पृथक् होने के समय को ४५०० ई०पू० भी मान लिया जावे, तो भी ३००० वर्षों तक इनकी भाषायें अपरिवर्तित ही रही होंगी। १९०७ ई० में एशिया माइनर में प्राप्त १४०० ई०पू० के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्या आदि देवताओं के उल्लेख उस समय दोनों शाखाओं के साम्य को सिद्ध करते हैं। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखाओं के पृथक् होने को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके कुछ समय बाद होने वाले भाषागत परिवर्तन ऋग्वेद की भाषा में व्यक्त हुए, जो भाषा उस युग की ईरानी से भिन्न हो गई होगी। अत: ऋग्वेद का रचना काल १३०० ई०पू० होना चाहिए।

भण्डारकर का मत—डॉ० आर०जी० भण्डारकर ने इतिहास के आधार पर वेदों की रचना के समय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। 'ईशावास्योपनिषद्' में, जो कि 'यजुर्वेद' का ४०वां अध्याय है, 'असुर्या' शब्द आया है। भण्डारकर के अनुसार यह शब्द 'असीरिया' है। 'ऋग्वेद' में देवों और असुरों

के संग्राम का उल्लेख है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के लोग ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। ये २५०० ई०पू० के लगभग भारत की ओर आये थे। अत: 'यजुर्वेद' की रचना २५०० ई०पू० के लगभग हुई होगी। 'ऋग्वेद' इससे भी पहले रचा गया होगा। अत: ऋग्वेद की रचना का समय ६००० ई०पू० रहा होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीकों ने राजवंशावलियों का संग्रह किया था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले १५४ राजाओं ने ६४५७ वर्ष तक राज्य किया था। यह समय वैदिक ही रहा होगा इससे बहुत वर्षों पहले 'ऋग्वेद' की रचना का समय ८०००-७००० ई०पू० हो सकता है।

जैकोबी का मत—जर्मनी के बोन नगर के निवासी जैकोबी महोदय ने ज्योतिष के आधार पर गणना करके 'ऋग्वेद' का समय ४५०० ई०पू० सिद्ध किया। उनका कहना है कि कल्पसूत्रों में विवाह के प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। उसका अभिप्राय है कि ध्रुव तारा उस समय अधिक चमकीला और स्थिर रहा होगा। यह स्थिति २००० ई०पू० की हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात का उल्लेख है। गणना द्वारा यह समय २५०० ई०पू० का प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्प सूत्रों का समय २५०० ई०पू० के लगभग रहा होगा। 'ऋग्वेद' का समय और भी बहुत पहले ४५०० ई०पू० होना चाहिये।

हाग—ज्योतिष के आधार पर हाग महोदय ने वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना का समय ११८६ ई०पू० निर्धारित करके ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल १४००-१२०० ई०पू० निश्चित किया। उनके अनुसार वैदिक संहितायें २०००-१४०० ई०पू० में निबद्ध हुई। मन्त्रों की रचना का समय १४००-२००० ई०पू० के लगभग रहा होगा।

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों की गणना करके शतपथब्राह्मण का समय ३००० ई०पू० निर्धारित किया और ऋग्वेद की रचना के समय को ३५०० ई०पू० का प्रतिपादित किया।

तिलक का मत—ज्योतिष के आधार पर वेदों के समय को निर्धारित करने में लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। उनके अनुसार संहिताओं का निबन्धन ४५०० ई०पू० में हुआ था और उससे पहले २००० वर्षों में सारे मन्त्र रचे गये थे। इस प्रकार से प्राचीनतम ऋचायें ६५०० ई०पू० तक की हो सकती है।

तिलक का कहना है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी तथा कृत्तिका नक्षत्र के समय दिन और रात बराबर होते थे। वर्तमान समय में २१ मार्च और २३ सितम्बर को दिन और रात बराबर होते हैं और सूर्य उस समय अश्विनी नक्षत्र में रहता है। इतना परिवर्तन ४५०० वर्षों में हो सकता है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना ४५०० वर्ष पूर्व २५०० ई०पू० में हुई होगी। संहिताओं के युग में दिन और रात उस समय बराबर होते थे जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में होता था। यह समय ६५०० वर्ष पहले का है। अत: संहिताओं की रचना का समय ४५०० ई०पू० का है। 'ऋग्वेद' के मन्त्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त ऋतु होती थी और दिन रात बराबर होते थे। यह समय और भी २००० वर्ष पूर्व का रहा होगा। अत: ऋग्वेद के मन्त्रों का रचना काल ६५०० ई०पू० होना चाहिये।

नारायणराव भवनराव पारंगी का मत—'ऋग्वेद' की रचना के समय को निर्धारित करने के लिये भूगर्भशास्त्र को भी आधार बनाया गया है। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विद्वान् नारायण राव भवनराव पारंगी है। उन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना का समय ९००० वर्ष पूर्व का निर्धारित किया है।

ऋग्वेद में अनेक भौगोलिक स्थितियों-नदियों, समुद्रों आदि का वर्णन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋग्वेद १०.१३.६५) में सप्तसैन्धव प्रदेश के दोनों ओर दो समुद्रों का वर्णन आता है। इनमें पश्चिम का समुद्र सम्भवत: अरब सागर था, पूर्व समुद्र वर्तम. : पंजाब के ठीक पूर्व में था और वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान इसमें लुप्त थे। बहुत समय की अवधि में हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से यहीं का समुद्र पाट दिया गया।

ऋग्वेद के दो मन्त्रों (९.३६.६ और १०.४७.२) के अनुसार सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। इनमें से उत्तरी समुद्र सम्भवत: वर्तमान फारस और टर्की के उत्तर-पश्चिम में था। यह समुद्र बहुत कुछ प्राकृतिक कारणों से सूख गया; परन्तु इसके कुछ अवशेष कृष्णसागर, कैस्पियन सागर, अराल झील और बाल्कश झील के रूप में अब भी विद्यमान हैं। पश्चिम में अरब सागर था और पूर्व में वह सागर था जहाँ, अब उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान हैं। वर्तमान राजपूताना के प्रदेश में द्क्षिण समुद्र था, जिसमें सरस्वती नदी गिरती थी। राजपूताने में विद्यमान खारे नमक की झीलें और मरुस्थल में नमक की तहें प्रमाणित करती है कि वहाँ कभी समुद्र रहा होगा। सरस्वती नदी का वर्णन ऋग्वेद में आया है। यह गर्जना करती हुई दक्षिण समुद्र में गिरती थी।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति ९००० वर्ष पूर्व रही होगी। इस आधार पर पारंगी महोदय ने ऋग्वेद की रचना का समय ९००० वर्ष पहले का निर्धारित किया है।

अमलनरेकर का मत—प्रसिद्ध लेखक एच०जी० वेल्स ने अपनी 'आउट लाइन्स ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में २५०००-५०००० वर्ष पहले का नक्शा दिया है। नरेकर महोदय ने इस आधार पर ऋग्वेद का रचना काल ६६०००-७५००० वर्ष पहले का बताया है। प्रोफेसर लौटूसिंह ने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की रचना को ४ लाख ३५ हजार वर्ष पुराना कहा है।

अनेक विद्वानों की यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद के कुछ सूत्र अधिक प्राचीन हैं और कुछ बाद में रचे गये थे। वेद मन्त्रों की रचना की एक परम्परा रही और इनकी रचना क्रमश: होती रही। कालान्तर में इनका सङ्कलन कर लिया गया।

ऋग्वेद एवं अन्य वेदों की रचना के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना प्राय: असम्भव-सा ही है। इनके समय को निर्धारित करने में विभिन्न विद्वानों ने शताब्दियों नहीं, अपितु सहस्राब्दियों का अन्तर किया है; परन्तु यह निश्चित है कि वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। इनके अर्थों को ठीक प्रकार से समझना न केवल गैर भारतीयों के लिये अपितु भारतीय विद्वानों के लिए भी कठिन रहा है। भारतीय विचारधारायें वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानकर इनके समय के सम्बन्ध में विचार नहीं करतीं। इसलिये वेदों के समय-निर्णय की ओर अधिक ध्यान न देकर इनके प्रतिपाद्य विषयों और उपदेशों पर ही ध्यान देना अधिक उचित है।

१.८. ऋग्वेद-संहिता

'ऋग्वेद' सूक्तों का वेद है। सूक्त का अर्थ है– सुभाषित या उत्तम वचन अर्थात् जिन मन्त्रों में उत्तम वचन होते हैं, उनके समूह को सूक्त कहा गया है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। इसमें किसी भी विद्वान् को किञ्चितमात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं है; क्योंकि लगभग सम्पूर्ण सामवेद (७५ मन्त्रों को छोड़कर) और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। ऋग्वेद-संहिता को संक्षेप में 'ऋग्वेद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ छान्दोबद्ध है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं। ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने इस वेद की इक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है– **एकविंशतिधा बाह्वच्यम्**। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होताा है। ये शाखाएँ हैं– शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन और माण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध एवं प्रचलित शाखा 'शाकल' है। इस शाखा की संहित्त में कुल मिलाकर १०१७ + ११ (बालखिल्य) = १०२८ सूक्त हैं। इस ग्रन्थ में लगभग १०६०० ऋचाएँ हैं।

१.८.१ ऋग्वेद का विभाजन

ऋग्वेद-संहिता का दो प्रकार से विभाजन किया गया है— अष्टकक्रम और मण्डलक्रम।

अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ६४ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय अवान्तर विभागों में विभाजित है जिसे वर्ग कहा जाता है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय का नाम है। वर्ग में ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है। ऋग्वेद में वर्गों की कुल संख्या २००६ है।

(२) मण्डलक्रम— ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। ऋग्वेद का यह विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १० मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋग्वेद को 'दशतयी' भी कहा जाता है। ऋग्वेद में कुल ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त बालाखिल्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएँ हैं और ऋचाओं में कुल शब्दों की संख्या १५३८२६ तथा अक्षरों की संख्या ४३२०००० है। यह गणना कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी के आधार पर की गयी है।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अंश को 'वंश-मण्डल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध एक-एक ऋषि के साथ है। द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्सपद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं। नवम मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है। दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है; क्योंकि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर मण्डलों के सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से भी इस मण्डल को अन्य मण्डलों से अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है।

१.८.२ ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय

ऋग्वेद का अर्थ है– ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही नाम ऋक् या ऋचा है। वेद का अर्थ ज्ञान है। अत: ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ हुआ– ऋचाओं का ज्ञान। यद्यपि अन्य वेदों में भी ऋचाओं का सङ्कलन हुआ है परन्तु ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही सङ्कलन है। ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़कर देवताओं की स्तुति करना ही इस वेद का मुख्य प्रयोजन है। किन्तु ऋग्वेद में देवस्तुति के साथ ही साथ ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्यताओं के उद्घाटन भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक-रीति-रिवाज, पशु-पक्षीं तथा वृक्षों आदि से सम्बद्ध कुछ मन्त्र भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र ४० सूक्त इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपरिकथित विषय अनुस्यूत हैं, अन्यथा ऋग्वेद देवताओं की स्तुतिओं से सम्बन्धित मन्त्रों से परिपूर्ण ग्रन्थ है।

ऋग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुत: हिन्दू धर्म और दर्शन की आधारशिला है। भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का सङ्केत भी यहीं पर प्राप्त होता है। विश्व के मूल में रहकर विश्व को नियन्त्रित करने वाली मूलसत्ता के व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ आदि से अनेक पूजन, यजन और मौलिक धार्मिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों की जिज्ञासा, तत्त्वों के रूपकात्मक वर्णन, मानवजीवन की आकाङ्क्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के अध्ययन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं-ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि के ज्ञान के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। देववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी ऋग्वेद में ही दिखलायी पड़ता है।

१.८.३ ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य

के अभिन्न अङ्ग माने जाते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि। वैदिक साहित्य का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद-मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण व्याख्या आदि प्रस्तुत करता है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश है, 'ब्राह्मण' कहलाता है– **ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।**

वास्तव में यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। अनेक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहते हैं। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण भाग का सामूहिक नाम 'वेद' है। शबरस्वामी ने ब्राह्मग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस प्रकार बतलाया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।

उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च।। —शाबर-भाष्य २.१.८

अर्थात् यज्ञ क्यों किए जाएँ, कब किए जाएँ, किन साधनों से किए जाएँ यज्ञ के अधिकारी कौन हैं, कौन नहीं है, इत्यादि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ के वर्ण्यविषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है– १. विधिभाग २. अर्थवाद भाग ३. उपनिषद् भाग तथा ४. आख्यान भाग। **विधिभाग** में यज्ञों के विधानों का वर्णन है। इसमें यज्ञीय कर्मों का अर्थ तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। **अर्थवादभाग** में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का समावेश है। इसमें यज्ञीय कार्यों के समर्थन में सुन्दर-सुन्दर कथाएँ कही गयी हैं। मीमांसाकार जैमिनी ने अर्थवाद के भी तीन भेद बतलाये हैं– गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। ब्राह्मणग्रन्थों के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन है। इसमें रमणीय कथाओं के माध्यम से आत्मा, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित विषयों का मनोहारी वर्णन है। आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों तथा राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं– (१) ऐतरेय ब्राह्मण (२) कौषीतकी ब्राह्मण।

ऐतरेय-ब्राह्मण—

ऐतरेय-ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं पाँच-पाँच अध्यायों की आठ पञ्चिकाएँ हैं। इनके रचयिता 'महीदास ऐतरेय' हैं, इनका जन्म इतरा नामक दासी से हुआ था। इसमें सामयज्ञ का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में तीन सौ साठ दिनों में समाप्त होने वाले 'गवामयन' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है। अवशिष्ट सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है। इन ब्राह्मण के तेईस से चालीसवें अध्याय तक राजपुरोहित तथा राज्याभिषेक आदि की स्थितियों का भी वर्णन है।

कौषीतकि ब्राह्मण—

'कौषीतकी ब्राह्मण' का दूसरा नाम् 'सांखायन ब्राह्मण' भी है। यह ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों की सत्ता भी पायी जाती है। प्रो० बेवर ने 'ईशान' एवं 'महादेव' से सम्बन्धित सूक्तों के आधार पर कहा है कि यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की रचना के अन्तिम काल में रचा गया है। इसी

ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका में 'शुनःशेप' आख्यान है जो संक्षेप में इस प्रकार है– राजा हरिश्चन्द्र वरुण देव को प्रसन्न करके एक पुत्र प्राप्त करते हैं। पुत्र का नाम रोहित है। शर्त यह थी कि वरुण जब चाहेंगे अपने पुत्र को वापस माँग लेंगे। पुत्र रोहित जब पूर्ण युवा हो जाता है, वरुण उसे माँगता है। परन्तु राजा 'वरुण' का बलि देना चाहता है, वरुण यह सुनकर जङ्गल में भाग जाता है। इसके पश्चात् राजा को वरुण के शाप से 'ज़लोदर' का रोग हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्व को समझाकर लौटने नहीं देता। इस प्रकार वह पाँच वर्षों तक जङ्गल में घूमता रहता है। छठें वर्ष रोहित को 'अजीगर्त' ऋषि अपने तीन पुत्रों- 'शुनःपुच्छ', 'शुनःशेप', तथा 'शुनोलाङ्गूल', और अपनी पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित एक पुत्र के बदले ऋषि को सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र 'शुनःशेप' को रोहित के लिए दे देते हैं। वरुण क्षत्रिय 'रोहित' की अपेक्षा ब्राह्मण 'शुनःशेप' को बलि के लिए श्रेष्ठ समझकर स्वीकार कर लेता है। राजसूय यज्ञ में पशु के स्थान पर शुनःशेप की बलि का आयोजन होता है। इसी समय एक समस्या खड़ी हो जाती है कि ब्रह्महत्या का पाप अपने सिर पर कौन लेगा? अजीगर्त स्तम्भ में बाँधने के बदले सौ गायें तथा मारने के बदले सौ गायें लेकर उपस्थित हो जाता है। इसी समय शुनःशेप वेदों की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी ठीक हो जाता है। इसके बाद पुरोहित वर्ग यज्ञमहोत्सव में शुनःशेप का स्वागत करता है। हरिश्चन्द्र यज्ञ के 'होता' बनते हैं तथा अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा करके 'शुनःशेप' को पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र, पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय कहा गया है।

ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ

ऋग्वेद के दो आरण्यक-ग्रन्थ हैं— **ऐतरेय** तथा **कौषीतकि**।

ऐतरेय-आरण्यक

ऐतरेय-आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण के साथ है। इसके पाँच खण्ड प्राप्त होते हैं। दूसरे और तीसरे को उपनिषद् कहा जा सकता है। दूसरे के उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसीलिए यह ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। ऐतरेय-आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शस्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यञ्जन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पाँचवें में कतिपय अन्य विषयों के साथ 'निष्कैवल्य-शास्त्र' का वर्णन है। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त पाँच खण्डों को पाँच आरण्यक मानते हैं। इनके अनुसार पाँच आरण्यकों का संश्लिष्ट रूप ही ऐतरेय-आरण्यक है।

कौषीतकि आरण्यक

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या शांखायन-आरण्यक है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय तथ्य सन्निविष्ट हैं। तीसरा खण्ड कौषितकि-उपनिषद् कहलाता है। अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

१.८.५ ऋग्वेदीय उपनिषद्

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थानों में उपनिषद् का सर्वप्रमुख स्थान है। उपनिषद् वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। उपनिषद् वैदिक-साहित्य की चरम परिणति रूप ग्रन्थ है। वैदिक साहित्य के अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होने से इसे वेदान्त भी कहा गया है। यहाँ पर कतिपय प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है—

ऐतरेयोपनिषद्

इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। यह अत्यन्त लघुकाय है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं, इनमें क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है। इसमें विश्व को आत्मा से उद्भूत बतलाया गया है।

कौषीतकि उपनिषद्

इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कौषीतकि-आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है। इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि ने किया था। इस उपनिषद् में ब्रह्म-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें कतिपय ऐसे याज्ञिक विधानों का भी निरूपण है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में सफल होता है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

१.९ सम्बन्धित प्रश्न

अभ्यास-

(१) वेद के कितने विभाग हैं? इनका परिचय दीजिए?

(२) ऋग्वेद के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए?

(३) ऋग्वेद के विभाजनक्रम पर प्रकाश डालिए?

(४) ऐतरेयब्राह्मण का परिचय दीजिए?

(५) ऋग्वेद के आरण्यकों का परिचय दीजिए?

(६) ऋग्वेदीय उपनिषदों पर प्रकाश डालिए?

(७) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) कौषितकि उपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है?

(ख) ऋग्वेद के कौन-कौन से आरण्यक ग्रन्थ हैं?

(ग) ऋग्वेद में कितने मण्डल हैं?

(घ) ऋग्वेद में अध्यायों की **संख्या** कितनी है?

(ङ) शाकलशाखा किस वेद से सम्बन्धित है?

(च) सबसे पुराना वेद कौन सा है?

(छ) जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, वे मन्त्र किस नाम से अभिहित किये जाते हैं?

इकाई - २ : देवता परिचय

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य

२.१ देवता परिचय

२.१.१ इन्द्र

२.१.२ सवितृ (सविता)

२.१.३ मरुत

२.१.४ विश्वामित्र - नदी संवाद

२.१.५ अग्नि

२.१.६ अक्ष

२.१.७ राष्ट्राभिवर्धनम्

२.१.८ पृथिवी

२.२ सम्बन्धित प्रश्न

२.० उद्देश्य

इस इकाई में निम्नलिखित देवताओं और सूक्तों के परिचयात्मक विवरण से अवगत कराया जायेगा।

२.१ देवता परिचय

२.१.१ इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गयी है तथा ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमशः पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

निरुक्ति—

इन्द्र शब्द का निर्वचन अनिश्चित है। अतः इसका अर्थ भी अस्पष्ट है। निरुक्तकार यास्क ने निर्वचन करते हुए कहा है— इन्द्र इरा (अर्थात् अन्न के जनक मेघ) को विदीर्ण करते हैं अथवा अन्न को (वर्षण के द्वारा अंकुर उत्पन्न करके) विदीर्ण करते हैं, अथवा अन्न को प्रदान करते हैं अथवा अन्न को धारण करते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोमपानार्थ द्रुतगति से जाते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोम में रमण करते हैं, अथवा भूतों को (अन्न-दान) प्रदीप्त करते हैं। आचार्य आग्रयण ने इन्द्र की निरुक्ति 'यह सब करने के कारण' को आधार बनाकर किया है। आचार्य औपमन्यव ने इस सन्दर्भ में कहा है कि इन्द्र यह सब कुछ देख लिये हैं अथवा ऐश्वर्यमुक्त होते हुए वैरियों के विदारक या परिहारक हैं अथवा यज्ञवालों के

आदरकर्त्ता हैं। बृहद्देवताकार शौनक ने यास्क का अनुसरण करते हुए घोषित किया है कि उपयुक्त समय पर मरुतों से संयुक्त होकर अम्बर में घोर गर्जन के साथ अन्न (के कारणभूत मेघ) को विदीर्ण करने के कारण इन्हें ऋषि 'इन्द्र' के नाम से अभिहित करते हैं।

स्वरूप—

ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे-वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजाएँ भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

जन्म एवं देवताओं से सम्बन्ध—

ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उनके पिता द्यौ: या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

कार्य—

इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी-लोक काँप गये। यह आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर-उधर उड़ते हुए पर्वतों का पङ्ख-छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को ४०वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक वज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र-सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम-लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान-कर्त्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं।

प्राकृतिक आधार—

अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में सभी नदियों की धाराएँ जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फों को पिघलाकर जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का वज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के वज्र से आहत होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृञ्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या

आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टतः बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र-वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौः' 'गावः' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओं में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथिवी एवं द्युलोक इन्द्र (= सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

२.१.२ सवितृ (सविता)

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवों में सविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गयी है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता शब्द 'सू' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'सू' धातु 'प्रेरित करने' के अर्थ में होती है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्रेरक'। सविता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

स्वरूप—

सविता स्वर्णमय देव हैं। इनके हाथ, जिह्वा, नेत्र सभी स्वर्णिम हैं। इनके केंश पीले रंग के हैं। ये स्वर्ण की कील वाले रथ पर चलते हैं। इनका रथ भी स्वर्णजटित है। इनके रथ को शुभ्रवर्ण वाले दो चमकीले अश्व खींचते हैं। इनके शरीर से निकलने वाली किरणें भी विचित्र रङ्गों ये युक्त हैं।

कार्य—

अन्धकारमय लोक से आते हुए सविता देव, देवों एवं मनुष्यों को अपने कार्यों में युक्त कराते हैं। रोगों को नष्ट करते हैं। सूर्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। सबको विविध रूपों में देखने वाले सविता देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्यवर्ती स्थान में विचरण करते हैं। राक्षसों एवं मायावियों को नष्ट करते हुए सविता देव स्थित होते हैं। सविता देव जीवधारियों को मार्गप्रदर्शन करने वाले एवं अच्छी प्रकार से सुख प्रदान करने वाले देव हैं। इनका सर्वप्रधान कार्य रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट करना एवं सभी जीवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करना हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करके उनके लिए मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हुए उन्हें पापरहित बना देते हैं। पृथिवी की आठों दिशाओं, अन्तरिक्षादि तीन लोकों एवं सात नदियों को सविता देव विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं। सविता को प्राण (शक्ति) देने वाला देव भी कहा गया है।

निवास-स्थान—

सविता देव का निवास स्थान द्युलोक है। ऋ. १/३५ के मन्त्र सं० ६ में एक विशेष तथ्य उद्घाटित किया गया है, जिसके अनुसार तीन लोक हैं, जिसमें से दो लोक सविता देव के समीप में स्थित हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ द्युलोक एवं भूलोक किया है जिसके कारण इन दोनों लोकों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सवितृ देव का निवास-स्थान भले ही द्युलोक है, परन्तु वह अपना कार्यस्थल भूलोक को ही बनाये हैं। मानव-हितकारिणी चन्द्र नक्षत्रादि ज्योतियाँ एवं जल सवितृलोक में ही सविता के आधार पर स्थित हैं।

प्राकृतिक आधार—

सविता देव को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। वास्तव में उष:काल एवं सूर्योदय काल के मध्य सविता का आगमन होता है। प्रकाशित करने का कार्य सूर्य की सर्वप्रमुख विशेषता है, अत: सवितृ को भी सूर्य मान लिया गया है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में सूर्य और सविता एक ही देवता के रूप में पुकारे गये हैं।

यद्यपि अनेक मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। जैसे...... अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ (ऋ. १/३५/९) उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सविता सूर्य का ही एक विशिष्ट अभिधान है, क्योंकि सूर्य ही विश्व के महान् प्रेरक हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों को अपने महान् आगमन के द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सविता सूर्य की प्रेरकशक्ति के रूप में भी स्तुत हुए हैं। अत: स्पष्ट होता है कि सूर्य ही अपने पूर्णरूपेण उदय के पूर्व इस संज्ञा को प्राप्त करते हुए लोकप्रेरक बन जाते हैं। निरुक्तकार यास्क का स्पष्ट कथन है— (सविता सर्वस्य प्रसविता)।

देवों में स्थान—

वैदिक देवताओं में सविता देव उपासना की दृष्टि से अपना अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी भी देवता की उपासना इतनी श्रद्धा और भक्ति से नहीं हो सकी है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि की प्रेरक शक्ति के रूप में एक अति शक्तिशाली मन्त्र का दर्शन किया है जिसे **गायत्री** मन्त्र के नाम से जाना जाता है। यह गायत्री मन्त्र पूज्य सविता देव की स्तुति रूप में है। इसमें सविता देव की शक्ति का आह्वान बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है; **ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**

आज इस वैज्ञानिक युग में भी सविता देव के इस मन्त्र की उपासना करके अनेकानेक भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस मन्त्र की रहस्यात्मिका शक्ति के अनुसन्धान में संलग्न होकर इसके ऊपर श्रद्धायुक्त बना हुआ है।

२.१.३. मरुत्

मरुत् अकेला देवता नहीं है, अपितु देवों के एक समूह का नाम मरुत् है। इसलिये इनका प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। मरुतों की स्तुति ४२ सूक्तों में है। इनका ३३ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप में, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ और एक-एक सूक्त में अग्नि और पूषा के साथ वर्णन किया गया हैं। मरुत देवता आँधियों के देवता हैं और वृष्टि कराते हैं। वे बड़े प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं तथा इन्द्र के सहायक हैं। विपत्तियों से रक्षा करने के लिये और रोगों के निवारण के लिये ऋग्वेद में इनसे प्रार्थना की गई है।

सभी मरुद्गण समवयस्क हैं और एक साथ उदित होते हैं। ये रुद्र और पृश्नि के पुत्र कहे गये हैं। पृश्नि एक गौ का नाम है। एक स्थान पर मरुतों को वायु का पुत्र भी कहा गया है। मरुत् पृथिवी पर बढ़ते हैं और आकाश में पलते हैं। रोदसी इनके रथ पर विराजमान रहती है, जो कि सम्भवत: इनकी पत्नी हैं।

मरुतों की समृद्धि का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। ये स्वर्ण के समान स्वर्णिम और अग्नि के समान दीप्तिमान् हैं। इनकी तलवारें और भालें बिजलियों के समान चमकने हैं। इनके कुल्हाड़े और धनुष-बाण सुनहरे हैं। ये सुन्दर मालायें, सुनहरी चोगें, भूषण और शिरस्त्राण पहनते हैं। केयूर और वलय इनके आभूषण हैं। इनके रथ बिजलियों की तरह चमकते हैं, जिनमें मटियाली चितकबरी घोड़ियाँ जुती होती हैं।

मरुत् बड़े पराक्रमी देवता हैं। ये पहाड़ों को हिला देते हैं और द्युलोक एवं पृथिवी लोक इनके भय से काँपते हैं। ये सूर्य को ढक लेते हैं और वृक्षों को जङ्गली हाथियों के समान गिरा देते हैं। इन्द्र के ये विशेष सहायक हैं तथा वृत्र के वध के समय उसकी सहायता करते हैं और दैत्य का स्वयं भी संहार

करते हैं। वृत्र को मार कर वे गौओं का उद्धार करते हैं ये गायक भी हैं। इन्द्र दैत्यों का वध करने पर ये उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं तथा सोमरस निकालते हैं।

मरुतों को सामान्यत: आँधी एवं जल-प्रलय का देवता कहा गया है; परन्तु वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और उनके रोगों का निवारण करते हैं। उनकी प्रधान औषधि जल है।

भौतिक आधार—

अश्विनों के भौतिक आधार के विषय में ऋषियों ने अत्यन्त अस्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है। फलत: ये देवयुग्म किस भौतिक दृश्य के प्रतिरूप थे, इसका उचित तथा असन्दिग्ध निर्णय यास्क तथा अन्य भाष्यकारों के लिए भी कठिन हो गया। इसीलिए यास्क अनेक मतों को उद्धृत करते हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार अश्विनद्वय आकाश तथा पृथिवी थे। कुछ के अनुसार रात्रि तथा दिन एवं अन्य के अनुसार सूर्य तथा चन्द्र थे। ऐतिहासिको के अनुसार पुण्यकृत्ययुक्त दो राजा थे। रॉथ का विचार है कि यास्क इन दोनों को इन्द्र तथा सूर्य मानते थे, जबकि गोल्डस्टुक का कहना है कि यास्क अन्धकार तथा प्रकाश के मध्य की द्वैतयुक्त अवस्था मानते थे। हॉप्किंस के अनुसार ये देवयुग्म उष:काल के पूर्व उस मन्दप्रभ प्रकाश के प्रतिरूप हैं, जो अर्ध तमस् एवं अर्ध भास् से युक्त होता है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार ये प्रात:कालिक एवं सायंकालिक तारों के, मैक्समूलर के अनुसार प्रात:काल एवं सायंकाल के, बेर्गाने के अनुसार स्वर्गाग्नि एवं वेद्यग्नि के, वोड्स्कोव् (Vodskov) के अनुसार वर्षा देने वाले एवं ओस देने वाले के, ब्रन्नहोफर् (Brunnhofer) के अनुसार प्रात:कालिक एवं सायंकालिक वायु के तथा वेबर के अनुसार जैमिनि तारामण्डल के उभय तारों के प्रतिरूप थे। इन सबके विपरीत गेल्डनर का यह मत है कि अश्विन् किसी भी भौतिक दृश्य के प्रतिरूप न होकर साहाय्य प्रदान करने वाले सन्तद्वय थे। अश्विनों के विषय में विद्यमान इस अनिश्चयता का एक प्रमुख कारण यह है कि ये निस्सन्देह एक प्रागैतिहासिक देव हैं। अत: ये अपने विकास-क्रम में इतने अधिक परिवर्तनों से ग्रस्त रहे हैं कि इनका मूलभूत भौतिक आधार विस्मृतप्राय हो चुका है।

माता-पिता—

ऋग्वेद में अश्विनों के एकाधिक माता-पिता का उल्लेख किया गया है। ये द्यौस् की सन्तान हैं। इनकी माता सिन्धु है। ये विवस्वान् तथा सरण्यू के भी पुत्र कह गये हैं। ये पूषा के पिता तथा उषा के भ्राता हैं। इनका मधुर तथा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ चित्रित किया गया है, जो इनकी पत्नी है।

स्थान—

अश्विनों के स्थान के रूप में द्युलोक, द्युलोक के समुद्र, अन्तरिक्षलोक, वायुलोक, वनस्पति तथा पर्वत के सर्वोच्च शिखर का उल्लेख किया गया है। इनका आविर्भाव उषा के प्रारम्भिक काल में होता है। ये दोनों अपने रथ के द्वारा उषा का अनुसरण करते हैं। ये भास्वर, युवा परन्तु पुरातन, शीघ्रगामी, अनेक रूप, सुन्दर, अरुण, शक्तिमान् तथा तीक्ष्ण मेधा-सम्पन्न हैं। 'नासत्य' तथा 'दस्र' इसके अत्यन्त प्रचलित विशेषण हैं। 'नासत्य' तो एक प्रकार से अश्विनों का पर्याय सा बन गया है।

अन्य देवताओं की तुलना में अश्विनों का मधु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके रथ के वाहक पक्षी भी मधु से सिक्त होते हैं। अश्विन् मधु से पूर्ण एक चर्म को रखते हैं। इन्होंने एक बार मधु के शत कुम्भों को गिराया तथा मधु-मक्षिका को भी मधु प्रदान किया। इन्हें 'मधुयु' (मधु का अभिलाषी) तथा 'मधुपा' कहा गया है।

वाहन—

अश्विनों का प्रधान वाहन रथ है, जो पूर्णरूपेण स्वर्णिम है तथा ऋभुओं द्वारा निर्मित है। यह मन से भी अधिक त्वरित गति वाला है। इस रथ का वाहन प्राय: हंस या श्येन करते हैं, परन्तु कभी-कभी

अश्व भी करते हैं। यदा-कदा इस कार्य को ककुह (पंख-युक्त अश्व) तथा रासभ भी करते हैं। यह रथ द्युलोक तथा सूर्य की परिक्रमा करता है।

कार्य—

अश्विन् किसी भी प्रकार की आपत्ति में सद्यः सहायता प्रदान करने वाले अद्वितीय देवता के रूप में विख्यात हैं। ये असाध्य से असाध्य व्याधि को शीघ्र दूर कर देते हैं। इसीलिए इन्हें 'दिव्य भिषक्' कहा गया है। अन्धों, रुग्णों तथा पङ्गुओं की पूर्ण सहायता करते हैं। ये देवताओं तक के चिकित्सक हैं तथा इनकी अमरता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये अपने आराधकों को अपार धन तथा प्रचुर सन्तान प्रदान करते हैं।

ऋग्वेद अश्विनों के सहायताविषयक अनेक कथाओं का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, इन्होंने ये वृद्ध तथा तिरस्कृत च्यवन को नव यौवन प्रदान करके अनेकों कुमारियों का पति बनाया, असहाय विमद के लिए अपने रथ के द्वारा पत्नी लाये, विश्वक के लिए उसके लुप्त पुत्र विष्णापू को लाये, सागर के मध्य भयंकर लहरों से आक्रान्त सुकुमार भुज्यु का उद्धार किये, रेभ, वन्दन, अत्रि आदि को गर्त से ऊपर निकाले तथा नपुंसकभर्तृका जाया को पुत्र प्रदान किये।

ऋग्वेद के ये अन्त्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता अश्विन्द्वय भी परवर्ती साहित्य पुराणों, महाकाव्यों इत्यादि में महत्त्वहीन हो जाते हैं।

२.१.४ विश्वामित्र-नदी-संवाद

ऋग्वेद में अनेक संवाद-सूक्त हैं जो कला की दृष्टि से मनोरम, सरस एवं भावपूर्ण हैं। ऐसे अनेक सूक्तों में कथोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें संवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डाक्टर ओल्डेनवर्ग की पुष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी दृष्टि में ऋग्वेदीय आख्यान गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। डाक्टर श्रोदर आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटकों के अवशिष्ट अंश हैं। डाक्टर विन्टरनित्स इन्हें प्राचीन लोगगीत काव्य का नमूना मानते हैं। इन्हीं से अवान्तर काल में एक ओर महाकाव्य का उदय हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन संवाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्त्व है।

इन संवादसूक्तों में विश्वामित्र-नदी-संवाद भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्राचीन काल में विश्वामित्र पैजवन के राजा सुदास के पुरोहित हुए। वह पौरोहित्य से प्राप्त प्रचुर धन लेकर शकट से अपने घर लौटते हुए मार्ग में विपाट् (विपाशा) और शुतुद्री (सतलज) के तट पर पहुँचे। उनके पार जाने की इच्छावाले महर्षि विश्वामित्र उनकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि— पर्वतों की गोद से निकलकर खुले लगाम वाली दो घोड़ियों की तरह विपाट् और शुतुद्री दो नदियाँ समुद्र की ओर जाने की इच्छा करती हुई प्रवाह से तेजी से बह रही हैं। ऐसी श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सुन्दर विपाट् के पास आया हूँ। बछड़े को चाटती हुई दो माताओं की तरह, एक ही स्थान समुद्र को लक्ष्य कर बहती हुई शुतुद्री और विपाट् के पास आया हूँ। इस प्रकार विश्वामित्र द्वारा स्तुत नदियाँ कहती है—

हम लोग देव इन्द्र के द्वारा निर्मित स्थान पर अपनी धारा से उमड़ती हुई बह रही है। हम लोगों की गति स्वाभाविक रूप से बहने के लिए है, रूकने के लिए नहीं। इस लिए किस इच्छा से ऋषि बार-बार नदियों की स्तुति कर रहा है। इस प्रर कुशिक-पुत्र विश्वामित्र अपनी रक्षा के लिए सोमयुक्त वचनों के द्वारा नदियों को क्षणभर रुकने की बार-बार स्तुति कर रहे हैं। वज्रहस्त इन्द्र ने नदियों को घेरने वाले वृत्र को मारकर बहने के लिए हमें बाहर निकाला। इन्द्र के पराक्रमयुक्त कार्य, जो उसने अहि को मारा, अवश्य कहने योग्य है। इस कथन को विश्वामित्र नदियों से कहते हैं। इसपर नदियाँ उत्तर देती है— हे स्तुतिगायक!

इस वचन को कभी भी मत भूलो, ताकि भावी युगों के लोग तुम्हारे इस वचन को सुन सके। हे ऋषि! अपनी स्तुतियों के द्वारा हमारा आदर करो तथा हमें मनुष्यों की कोटि में नीचे मत लावो। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। इस पर विश्वामित्र नदियों को बहन सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर बहनों मुझ कवि की बात सुनों, क्योंकि तुम्हारे पास मैं बहुत दूर से गाड़ी तथा रथ से आया हूँ। अच्छी प्रकार झुक जाओ। हे नदियो! अपनी जलधारा से अच्छ के नीचे होकर बहती हुई आसानी से पार करने योग्य हो जाओ। ऋषि विश्वामित्र की प्रार्थना सुनकर नदियाँ नीचे झुक जाती है। इस पर विश्वामित्र नदियों का समर्थन चाहते हुए अपने परिजनों के साथ नदियों को पार कर रहे हैं। पार करने के उपरान्त नदियों को अपनी जगह पर पुन: प्रवाहित होने के लिए कहते हैं।

इस प्रकार यह समग्र संवाद सूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओत-प्रोत है और कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक है।

२.१.५ अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है—

ऋग्वेद में स्थान—

ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देवता हैं। अग्नि का अर्थ है— वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के २०० सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गयी है। प्राय: ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

अग्नि शब्द की निरुक्ति—

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति 'अज्' धातु से सम्भावित है, फलत: इसका अर्थ गतिमान् होता है। निरुक्तकार यास्क अग्नि शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि अग्नि अग्रणी होता है, यज्ञों में सबसे अग्र (प्रथम) वह ले जाया जाता है। अथवा तृण या काष्ठ आदि को अपना अङ्ग बना लेता है। बृहद्देवताकार शौनक यास्क का ही अनुसरण करते हुए अग्नि का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। स्थौलाष्ठीवि नामक आचार्य के अनुसार यह अक्रोपन होने के कारण स्निग्ध नहीं करता है, अर्थात् सब रसों को शुष्क कर देता है या रुक्ष कर देता है। अतएव अग्नि नाम से अभिहित होता है। शाकपूणि नामक आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द 'इण्', 'अञ्जू' या 'दह्' और 'णीञ्' इन तीन धातुओं से निष्पन्न हुआ है। 'इण्' से अकार तथा 'अञ्जू' या 'दह्' से गकार को लेकर 'णीञ्' (नी) में मिला देने पर 'अग्नि' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

उत्पत्ति—

अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसों अङ्गुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहस: पुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

स्वरूप—

अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अङ्गारमय है, प्रकाशमय है (अङ्गिरा, राजन्तम्) ऋग्वेद में

अग्नि को घृत-पृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृत-लोम, मद्रजिह्व, शौचिषकोश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वलाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उषा, सूर्य एवं विद्युत जैसी है।

कार्य—

अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण-भावना रखता है, उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

प्राकृतिक आधार—

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सम्मुख अग्नि के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं— काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के सङ्घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वडवाग्नि को ही सम्भवत: अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न आकाशीय विद्युत भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अग्नि के उपर्युक्त रूप ही है।

मानव जीवन से सम्बन्ध—

अग्नि का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन-पाक तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो जाती है।

इसलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

२.१.६ अक्ष

ऋग्वेद संहिता में जहाँ एक ओर देवताओं की स्तुति करते हुए उनसे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए याचनाएँ की गयी हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों एवं मानवीय दुर्व्यसनों को दूर करने से सम्बन्धित सूक्तों का सङ्कलन भी किया गया है। समाज में जब भोग-विलास और शक्ति का उदय होता है, तब द्यूतकर्म भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ऋग्वैदिक युग में जुआ खेलना एक बहुप्रचलित सामाजिक दुर्व्यसन था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ३४वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अक्षों की संख्या एवं खेलने का स्थान—

ऋग्वेद में अक्षों की संख्या के लिए 'त्रिपञ्चाश:' शब्द प्रयुक्त है। विद्वानों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किये हैं— जैसे- पन्द्रह, तिरपन एवं एक सौ पच्चीस। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में पासा फेंकने से सम्बन्धित व्याहृतियों की तालिकाएँ प्राप्त होती हैं। पासा फेंकने के लिए भूमि पर ही एक नीचा

सा स्थान बना लिया जाता था। दाँव पर रखी हुई वस्तु 'विज' कहलाती थी।

अक्षों का स्वरूप एवं प्रभाव—

अक्षों को द्यूतकार देवता मानता है। उसके हृदय में अक्षों के प्रति वही श्रद्धा है जो शिल्पकार को अपने उपकरणों में, लेखक को अपनी लेखनी में तथा वणिक् को अपनी तुला में होती है। अक्ष किसी वृक्ष के फलों के बीजरूपी विग्रह वाले होते हैं। इनका रंग भूरा होता है। अक्षों को किसी पात्र-विशेष में डालकर भली-भाँति हिलाकर द्यूतपटल पर फेंका जाता है। द्यूतपटल पर फुदकते हुए वे अक्ष बड़े ही मनोहारी दिखलायी पड़ते हैं। अक्षों को दिव्य अङ्गार-स्वरूप एवं महाशक्तिशाली कहा गया है।

अक्ष द्यूतकार को उसी प्रकार आनन्दित करते हैं जैसे सोमरस देवताओं को। ये द्यूतकार को जगाने का कार्य भी करते हैं। द्यूतकार चिन्ता के वशीभूत होकर रात भर जागता रहता है। अक्षों के अन्दर एक प्रकार की मोहिनी शक्ति होती है। द्यूतकार इसी मोहिनी शक्ति के वश में रहता है। द्यूतकार अनेक बार द्यूतकार्य से विमुख होने का निश्चय करके भी ज्यों ही द्यूतपटल पर पासों को फुदकते हुए देखता है त्यों ही अपने सङ्कल्प को भूल जाता है। अक्षगण कभी भी उग्र से उग्र व्यक्ति के समक्ष भी पराजय को नहीं स्वीकारते। अक्षों की ध्वनि को द्यूतपटल पर सुनकर जुआरी उसी प्रकार द्यूतस्थल की ओर दौड़ पड़ता है जैसे कुलटा स्त्री संकेत-स्थल की ओर दौड़ पड़ती है।

अक्षों की विलक्षणता—

द्यूतपटल पर पड़े हुए भी अक्ष द्यूतकार के मर्मस्थल को भेदने वाले होते हैं। स्वयं दन्तविहीन होकर भी सहस्र द्यूतकार को पराभूत करते रहते हैं। शीतल स्पर्श वाले होकर भी द्यूतकार के हृदय को जलाते रहते हैं। स्वरूप से काष्ठवत् होते हुए भी अक्ष किसी द्यूतकार को क्षणमात्र के लिए बसा देते हैं तथा किसी को उजाड़ देते हैं। विजेता द्यूतकार के लिए वे प्रसन्नतादायक तथा पराजित के लिए दुःखप्रद भी होते हैं।

द्यूतक्रीड़ा का कुपरिणाम—

द्यूतकार व्यक्ति को समाज निकृष्ट कोटि का व्यक्ति समझने लगता है। द्यूतकार की पत्नी, सास तथा अन्य शुभाकांक्षी व्यक्ति उससे द्वेष करते हैं। द्यूतकार के प्रति कोई भी व्यक्ति दया-भाव नहीं दिखलाता। द्यूतकार एक बूढ़े किन्तु मूल्यवान् अश्व की भाँति किसी के लिए प्रिय नहीं रह पाता। द्यूतकार अनुकूल आचरण वाली अपनी पतिपरायणा पत्नी तक को दाँव पर हार जाता है। दूसरों की पत्नियों को देखकर तथा सुसंस्कृत आवास-गृहों को देखकर वह मानसिक क्लेश पाता है। द्यूतकार्य का सबसे कठिन दुष्परिणाम तो यह होता है कि उसकी प्राणप्रिया पत्नी को दूसरे लोग आलिङ्गित करते हैं। जब दाँव हारकर द्यूतकार विजेता द्यूतकार को दाँव पर रक्खी हुई सम्पत्ति नहीं चुका पाता तो राजा के कर्मचारी उसे रज्जुबद्ध करके ले जाते हैं। उस समय उसके मित्र, पिता, माता, भाई उसको देखना पसन्द नहीं करते तथा यह भी कह डालते हैं कि हम लोग बँधे हुए इसको नहीं जानतें।

अमर संदेश—

अक्षसूक्त के अधिकांश भाग में द्यूतकार्य के दुष्परिणामों को बतलाकर वैदिक ऋषि एक अमर सन्देश प्रदान करता है कि अक्षों से कभी भी मत खेलो, खेती करो। कृषि द्वारा प्राप्त धन को ही आदर-भाव से अपना समझो तथा उसमें ही आनन्द का अनुभव करो। कृषि-कार्य में ही गायें हैं, पालतू पशु हैं तथा सम्पूर्ण समृद्धि है।

हे अक्षों ! हमसे मित्रता करो। अपनी मोहिनी शक्ति का प्रयोग हम पर मत करो तथा सदैव हमारी सहायता करो।

२.१.७ राष्ट्राभिवर्धनम्

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य वेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। इस सन्दर्भ में पृथिवी सूक्त, रक्षा सूक्त आदि अनेक सूक्त हैं। राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्त का भी एक विशिष्ट स्थान है। इसमें राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे ब्रह्मणस्पति चारों ओर घूमने वाली मणि जिससे इन्द्र बड़ा हुआ उसमें हम लोगों को राष्ट्र की समृद्धि के लिए बढ़ाओं। हमारे विपक्षियों को जो हमें कुछ नहीं देने वाले हैं तथा हमसे युद्ध की इच्छा करने वाले हैं तथा दुर्व्यवहार करने वाले हैं उनको हमसे पराजित करो। पुनः ऋषि कहता है कि हे मणि सवितृ देव ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है ताकि तुम चारों तरफ घूमकर रक्षा करने वाले बने रहो। इस प्रकार चारों तरफ घूमने वाली, विपक्षियों को पराजित करने वाली तथा उनका संहार करने वाली मणि, राष्ट्र की समृद्धि के लिए मेरे में बँधे। जिस प्रकार सूर्य नभोमण्डल में ऊपर चला गया है, मेरा यह मन्त्र भी ऊपर गया है ताकि में शत्रुओं को मारने वाला, प्रतिद्वन्द्विरहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला, प्रजाओं की इच्छा को पूर्ण करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ) ताकि मैं शत्रुपक्ष के इन वीरों का तथा अपने एवं पराये लोगों का शासक बनूँ। इस प्रकार राष्ट्रभिवर्धनम् सूक्त का अथर्ववेद में विशिष्ट महत्त्व है।

२.१.८. पृथिवी

पृथिवी-सूक्त अथर्ववेद में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सूक्त में पृथिवी के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता पर विशद विवेचन किया गया है।

पृथिवी की उत्पत्ति एवं प्राकृतिक स्वरूप— उत्पत्ति से पूर्व पृथिवी की सत्ता समुद्र में जल के भीतर थी। विद्वान् (मनीषी) लोगों ने उसे अपने पराक्रम से प्राप्त किया। पृथिवी का सत्य से आवृत एवं अनश्वर हृदय परम व्योम में स्थित है। पृथिवी का कुछ भाग जलमय है तथा कुछ स्थलमय। उसमें बाधारहित ऊँचे, नीचे तथा समतल भाग हैं। इसी पृथिवी पर समुद्र, नदियाँ तथा अनेक जलाशय भी स्थित हैं। पृथिवी पर झरने भी प्रवाहित होते रहते हैं। इसमें श्वास लेने वाले एवं गतिशील प्राणी आनन्दपूर्वक रहते हैं। पृथिवी पर ही चारों दिशाएँ हैं, अन्न हैं एवं अनेक कृषक जन हैं। यह पृथिवी, भूरी, काली एवं लाल वर्णों वाली तथा अचल है।

पृथिवी से सम्बन्धित पुराकथाएँ— विष्णु ने इसी पृथिवी को अपने तीन डगों में नापा था। दोनों अश्विनीकुमारों ने भी इसे नापा है। अश्विनीकुमारों से तात्पर्य है— सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद का सन्धिकाल। इन दोनों सन्धिकालों के मध्य पृथिवी प्रकाशित रहती है। विष्णु द्वारा पृथिवी को नापा जाना रूप क्रिया का तात्पर्य है सूर्य द्वारा पृथिवी को प्रकाशित करना। इन्द्र ने भी पृथिवी को शत्रु-रहित कर दिया है। इस पृथिवी पर हमारे पूर्वजों ने अनेक-विध पराक्रमयुक्त कार्य किये हैं।

उपकारिता एवं दानशीलता— पृथिवी प्राणिमात्र को अपना अमृततुल्य जल उसी भाँति प्रदान करती है जैसे माता अपने पुत्र को दुग्ध प्रदान करती रहती है। पृथिवी हमारे लिए उसी प्रकार धन प्रदान करती है जैसे गाय दुग्ध दान करती है। वह सबका समान रूपेण उपकार करने वाली है। माँ जिस प्रकार अच्छे-बुरे सभी बच्चों को प्यार करती है उसी प्रकार पृथिवी भी बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों को धन, अन्न इत्यादि प्रदान करती है। विविध धर्मावलम्बी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी इच्छानुसार आवासगृह बना कर रहने वाले सभी लोगों को धारण करती है। लोग उसके सौजन्य के कारण ही पृथिवी से गाय, अश्व, पक्षी, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य एवं वर्चस्विता की याचना करते हैं।

पृथिवी के धारक तत्त्व— समाज में निरन्तर अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ दोनों ही विद्यमान रहती हैं। परन्तु पृथिवी को सत्य, ऋत, महनीयता, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ धारण किये हुए हैं, अर्थात् पृथिवी पर जब तक उपर्युक्त गुणों की सत्ता बनी रहेगी तब तक पृथिवी टिकी रहेगी अन्यथा वह जलमग्न हो सकती है।

पृथिवी से विविध प्रार्थनाएँ— वैदिक ऋषियों ने पृथिवी से लोकों को विस्तृत करने के लिए तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए विविध प्रकार से प्रार्थनाएँ की हैं। गौवों और अन्नों को प्रदान करने के लिए, वर्चस्व के लिए तथा जल और तेजस्विता से सम्पृक्त करने के लिए विविध प्रकार की प्रार्थनाएँ भी की गयी हैं।

अन्त में ऋषि पृथिवी से प्रार्थना करता है कि हे पृथिवी ! मेरे लिए तुम उसी प्रकार भूमि विस्तृत कर दो जैसे माता पुत्र के लिए दूध प्रदान करती है।

२.२ सम्बन्धित प्रश्न

(१) वरुण देवता का परिचय दीजिए?

(२) इन्द्र देवता का परिचय दीजिए?

(३) अग्निदेवता का स्वरूप निर्धारित कीजिए?

(४) विश्वामित्रनदीसंवाद सूक्त तथा राष्ट्राभिवर्धन सूक्त की समीक्षा कीजिए?

(५) पृथिवी की महत्ता पर प्रकाश डालिए?

(६) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

(क) पृथिवी का वर्णन किस वेद में हुआ है?

(ख) पराक्रम का देवता कौन है?

(ग) ऋग्वेद में सर्वाधिक मन्त्र किस देवता के लिए प्रयुक्त हुए हैं?

(घ) सवितृ किस लोक का देवता है?

(ङ) अक्षसूक्त किस वेद में वर्णित है?

इकाई-३ : वैदिक व्याकरण

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य

३.१ वैदिक-ध्वनियाँ

- ३.१.१ स्वर
- ३.१.२ व्यञ्जन
- ३.१.३ यम ध्वनियाँ
- ३.१.४ अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ
- ३.१.५ अल्पप्राण तथा मद्यप्राण ध्वनियाँ
- ३.१.६ जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय
- ३.१.७ स्वरभक्ति

३.२ ध्वनियों के भेद

- ३.२.१ काल के आधार पर स्वरों के भेद
- ३.२.२ स्थान के आधार पर ध्वनियों का विभाजन

३.३ वैदिक संधियाँ

- ३.३.१ प्रश्लिष्ट सन्धि
- ३.३.२ क्षैप्रसन्धि
- ३.३.३ अभिनिहित सन्धि
- ३.३.४ भुग्न सन्धि
- ३.३.५ उद्ग्राह सन्धि
- ३.३.६ पादवृत्त सन्धि

३.४ व्यञ्जन - सन्धियाँ

- ३.४.१ अवशंगम सन्धि
- ३.४.२ वशंगम सन्धि
- ३.४.३ परिपन्न सन्धि
- ३.४.४ आन्-पद पदवृत्ति सन्धि

३.५ विसर्ग सन्धि

- ३.५.१ प्रश्रित - सन्धि
- ३.५.२ उदग्राह पदवृत्ति सन्धि
- ३.५.३ नियत सन्धि
- ३.५.४ अकाम सन्धि
- ३.५.५ उपाचरित सन्धि

३.५.६ रेफ सन्धि

३.६ वैदिक शब्द रूप

३.७ वैदिक धातुरूप

३.८ वैदिक प्रत्यय

३.८.१ पूर्वकालिक क्रिया-रूप

३.८.२ तुमर्थक प्रत्यय

३.८.३ कृदन्त प्रत्यय

३.८.४ तद्धित प्रत्यय

३.९ क्रिया-विशेषण तथा अव्यय

३.१० वैदिक उपसर्ग

३.११ वैदिक स्वर

३.११.१ स्वरों की संख्या

३.११.२ उदात्तादि स्वरों का परिचय

३.११.३ स्वरित के भेद

३.११.४ स्वराङ्कन पद्धति

३.१२ सम्बन्धित प्रश्न

३.० उद्देश्य

इस यूनिट में सङ्क्षेप में वैदिक-व्याकरण का ज्ञान दिया जायेगा।

३.१ वैदिक-ध्वनियाँ

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कुल अधोलिखित वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है।

३.१.१ स्वर

अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ऋ३, ऌ, ॡ, ऌ३; ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३ औ, औ३ ।

३.१.२ व्यञ्जन

क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (कवर्ण)
च्, छ्, ज्, झ्, ञ् (चवर्ग)
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग)
त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग)
प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग)

य् र् ल् व् (अन्तःस्थ) श् ष् स् ह् (ऊष्म)ᳵकᳵख (जिह्वामूलीय)ᳶप, ᳶफ (उपध्मानीय) अं (अनुस्वार) अँ (अनुनासिक) कँ, खँ, गँ, घँ, (यम)। स्वरभक्ति; ळ, ळ्ह (उत्क्षिप्त मूर्धन्य) अः

(विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य)।

उपर्युक्त ध्वनियों का परिगणन प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है। इनमें उन सभी ध्वनियों की गणना की गयी है, जो किसी भी वैदिक ग्रन्थ में ध्वनि के रूप में उच्चारित होती हैं। 'अ' से औ३ तक २३ स्वर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। व्यञ्जनों में क् से म् तक २५ वर्ण 'स्पर्श', य् से व् तक चार वर्ण 'अन्तःस्था', श् से ह् तक चार वर्ण 'ऊष्म', तथा इसी क्रम में दो 'जिह्वामूलीय', एक 'अनुनासिक', चार 'यम' एक 'स्वरभक्ति' (जिसका कोई लेखन-चिह्न नहीं होता) है।

'ळ्' तथा 'ळ्ह्' ये दोनों वर्ण लौकिक संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते; परन्तु वैदिक भाषा में इनकी सत्ता है। आचार्य वेदमित्र के अनुसार जब दो स्वर-वर्णों के मध्य मे 'ड्' का उच्चारण किया जाता है तब वही 'ड्' 'ळ्' का रूप ग्रहण कर लेता है तथा जब 'ढ्' वर्ण दो स्वरों के मध्य उच्चारित होता है तब 'ळ्ह्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

३.१.३ यम ध्वनियाँ

जब अपञ्चमस्पर्श के बाद पञ्चमस्पर्श आता है, तब दोनों ध्वनियों के मध्य अपञ्चमस्पर्श से प्रभावित एक अतिरिक्त अनुनासिक ध्वनि का आगम हो जाता है, इसे 'यम' कहते हैं। अनुनासिक स्पर्श वर्णों की संख्या २० है अतः यमध्वनियाँ भी बीस होती हैं जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है– कँ् खँ् गँ् और घँ्। कँ् अघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (कँ् चँ् टँ् तँ् पँ्) का, खँ् अघोषमहाप्राण यमध्वनियों (खँ् छँ् ढँ् पँ् फँ्) का, गँ् सघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (गँ् जँ् ढँ् दँ् बँ्) का तथा घँ् सघोष महाप्राण यमध्वनियों (धँ् झँ् ढँ् धँ् मँ्) का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे पलिक्नी = पलिक्कँ्नीं, जघ्नतुः = 'जघ्घँ्नतुः'। यहाँ पर 'कँ्' तथा 'घँ्' ध्वनियाँ अतिरिक्त आगम स्वरूप उच्चरित होती हैं, यही ध्वनियाँ 'यम' कहलाती हैं।

३.१.४. अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार स्पर्श व्यञ्जनों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय व्यञ्जन हकार व्यतिरिक्त ऊष्म अघोष हैं तथा शेष व्यञ्जन और सभी स्वर ध्वनियाँ सघोष हैं।

३.१.५ अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियाँ

प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण तथा य्, व्, र्, ल् अल्पप्राण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यञ्जन महाप्राण कहलाते हैं।

३.१.६ जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय

'क' तथा 'ख' वर्णों के पूर्व यदि विसर्ग (:) का उच्चारण होता है, तब विसर्ग जिह्वामूलीय कहलाता है। तथा 'प' एवं 'फ' ध्वनियों से पूर्व यदि विसर्ग का उच्चारण होता है तब विसर्ग उपध्मानीय कहलाता है। इन ध्वनियों को इस प्रकार लिखने की परम्परा प्राचीनकाल में थी, जो अब प्रायः लुप्त हो गयी है— 'रामः करोति', 'रामः खादति में, क, ख जिह्वामूलीय तथा सः पठति, वृक्षः फलति में, प, फ उपध्मानीय हैं। ध्यातव्य है कि जिह्वामूलीय तथा उपध्यानीय संज्ञाएँ विसर्ग ध्वनि की ही होती हैं, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में ᳵ के रूप में प्रदर्शित करने की प्रथा थी।

३.१.७ स्वरभक्ति

स्वर से बाद 'र्'-या 'ल्' वर्ण होने पर तथा उन रेफ और लकार से बाद में ऊष्म-वर्ण होने पर 'र्' या 'ल्' तथा ऊष्म वर्ण के मध्य एक अतिरिक्त स्वर-ध्वनि का आगम होता है। यह आगम-ध्वनि 'र्' के बाद 'ऋ' के सदृश तथा 'ल्' के बाद 'ऌ' के सदृश श्रुतिगोचर होती है। प्रायः ऊष्म वर्णों में हकार एवं शकार बाद में होने पर ही स्वरभक्ति के उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे कर्हि = (कर्ऋहि) शतवल्शः = (शतवल्ऌशः)। यहाँ पर 'ऋ' तथा 'ऌ' ध्वनियाँ स्वरभक्ति के रूप में आयी हुई हैं।

३.२. ध्वनियों के भेद

स्वर वर्ण दो प्रकार के होते हैं—

१. समानाक्षर— अ, इ, उ, ऋ एवं ऌ स्वर अपने सभी भेदों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) सहित समानाक्षर कहलाते हैं।

२. सन्ध्यक्षर— ए, ओ, ऐ, और औ स्वर अपने सभी (दीर्घ एवं प्लुत) भेदों सहित सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने के कारण ये सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं। अ + इ = ए, अ + उ = ओ, अ + ए = ऐ तथा अ + ओ = औ।

३.२.१ काल के आधार पर स्वरों के भेद

मात्रा (उच्चारण में लगने वाले काल) की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के होते हैं—

१. ह्रस्व – जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है, जैसे– अ, इ, उ, ऋ,ऌ।

२. दीर्घ – जिनके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता हैं, जैसे– आ, ई, ऊ, ॡ, ए, ओ, ऐ, औ।

३. प्लुत – जिनके उच्चारण में कम से कम ३ मात्रा का समय लगता है, जैसे– आ३, ई३, ऊ३, ऋ३, ऌ३, ए३, औ३। प्लुत स्वर को दीर्घ स्वर से बाद '३' संख्या लिखकर प्रदर्शित किया जाता हैं।

३.२.२ स्थान के आधार पर ध्वनियों का विभाजन

१. कण्ठ्य— सभी प्रकार के अ, हकार तथा विसर्जनीय कण्ठ से उच्चारित होने के कारण कण्ठ्य कहलाते हैं। कतिपय आचार्य हकार तथा विसर्जनीय को औरस्य (उरस् से उच्चारित) मानते हैं।

२. जिह्वामूलीय— ऋ०प्रा० के अनुसार सभी प्रकार के ऋ ऌ ×क ×ख तथा कवर्ग के स्पर्श जिह्वा मूल से उच्चरित होने से जिह्वामूलीय हैं।

३. तालव्य— सभी प्रकार के इ, ए, ऐ यकार, शकार तथा चवर्ग वाले स्पर्श तालुस्थान से उच्चरित होने के कारण तालव्य कहे जाते हैं।

४. मूर्धन्य— टवर्गीय स्पर्श, षकार, ळ, ळ्ह मूर्धा से उच्चरित होने के कारण मूर्धन्य कहलाते हैं।

५. दन्तमूलीय— तवर्ग वाले स्पर्श, स्, र्, ल ये दन्तमूल से उच्चरित होने के कारण दन्त्य या दन्तमूलीय है।

६. ओष्ठ्य— सभी प्रकार वाले उकार, ओकार, औकार, पवर्गीय स्पर्श, वकार तथा ×प् ×फ ओष्ठस्थान से उच्चारित होने के कारण ओष्ठ्य कहलाते हैं।

७. नासिक्य— नासिक्य तथा यम ध्वनियाँ नासिका से उच्चरित होने से नासिक्य कहलाती हैं।

८. अनुनासिक— मुख और नासिका दोनों से उच्चरित होने वाली ङ् ञ् ण्, न् म् ध्वनियाँ अनुनासिक कहलाती हैं।

३.३ वैदिक सन्धियाँ

वैदिकभाषा में सन्धियाँ प्राय: लौकिकसंस्कृत की सन्धियों के सदृश ही हैं, किन्तु वेदों में यत्र-तत्र कतिपय विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में सन्धियों के नाम लौकिकभाषा की सन्धियों से भिन्न हैं। यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है—

३.३.१ प्रश्लिष्ट सन्धि—

लौकिकभाषा की स्वर-सन्धियों में दीर्घ, 'गुण' तथा 'वृद्धि' के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में

'प्रश्लिष्ट' नाम दिया गया है । इसमें दो स्वर मिलकर एक ही में श्लिष्ट हो जाते हैं । अर्थात् दोनों में से किसी एक स्वर के दूसरा साथ चिपक जाता हैं । 'अक: सवर्णे दीर्घ:'; 'आद् गुण:' तथा 'वृद्धिरेचि' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं । उदाहरणार्थ— अश्व + अजनि: = अश्वाजनि:, हि + ईमिद्ध: = हीमिद्ध:, मधु + उदकम् = मधूदकम्, आ + इन्द्र: = एन्द्र:, एतायाम + उप = एतायामोप, आ + एनम् = ऐनम्, पर + ऐत = परैत, यत्र + ओषधी: = यत्रौषधी:, प्र + औक्षन् = प्रौक्षन् इत्यादि ।

३.३.२ क्षैप्रसन्धि

लौकिकभाषा की 'यण्' सन्धि के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'क्षैप्र' नाम दिया गया है । इसमें इ, उ, ऋ, ऌ के बाद असवर्ण (इ, उ, ऋ,ऌ के अतिरिक्त अन्य स्वर आने पर इ को य्, उ को व्, ऋ को र् तथा ऌ को ल् हो जाता है । इसी प्रकार उपर्युक्त स्वरवर्णों के दीर्घ रूपों को भी उक्त आदेश समझना चाहिए । इस सन्धि में सन्धि होने पर पहले की अपेक्षा उच्चारण में कुछ 'क्षिप्रता' आ जाती है, अत: इसे 'क्षैप्र' कहा जाता है । 'इको यणचि' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं । उदाहरणार्थ– अभि + 'आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्, अनु + अत्र = अन्वत्र । उपर्युक्त उदाहरणों में 'अभि' की इकार के बाद 'आ' स्वर आने पर 'इ' को 'य्' आदेश हो गया है, जो 'इ' की अपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है । इसी प्रकार 'अनु' के उकार के बाद 'अत्र' का अकार आने से 'उ' को 'व्' आदेश हुआ है, जो 'उ' की उपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है ।

३.३.३. अभिनिहित सन्धि

लौकिकसंस्कृत की 'पूर्वरूप' सन्धि के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'अभिनिहित' नाम दिया गया है । इसमें किसी पद या पाद के अन्त में 'ए' अथवा 'ओ' हो तथा परवर्ती पद अथवा पाद के आदि में 'अ' हो, तब वह 'अ' पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है । लौकिकसंस्कृत के 'एङ: पदान्तादति' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग मे आती है । उदाहरणार्थ– सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने, रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने, गावो + अभित: = गावोऽभित: इत्यादि ।

३.३.४. भुग्न सन्धि

लौकिकसंस्कृत की 'अयादिचतुष्टय' या 'अयादि' सन्धि को ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'भुग्न' नाम दिया गया है । इसमें 'ओ' अथवा 'औ' के बाद अनोष्ठ्य स्वर होने पर 'ओ' के स्थान पर 'अव्' तथा 'औ' के स्थान पर 'आव्' हो जाता है । भुग्न का अर्थ 'बँट जाना' होता है । इस सन्धि में एक वर्ण 'ओ' बँटकर दो वर्णों 'अव्' में तथा 'औ' बँटकर दो वर्णों 'आव्' में परिवर्तित हो जाते हैं । लौकिक- भाषा के 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं । उदाहरणार्थ– वायो + आ याहि = वायवा याहि, तौ + इन्द्राग्नी = ताविन्द्राग्नी । इन उदाहरणों में ओकार तथा औकार क्रमश: 'अव्' तथा 'आव्' में परिवर्तित हो गए हैं ।

३.३.५. उद्ग्राह सन्धि

लौकिकसंस्कृत के 'एचोऽयवायाव:' तथा 'लोप: शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ ऋक्प्रातिशाख्य में 'उद्ग्राह' सन्धि के नाम से कही गयी हैं । इसमें एकार या ओकार के बाद स्वर होने पर सर्वप्रथम एकार को 'अय्' तथा ओकार को 'अव्' आदेश होते हैं, तत्पश्चात् 'य्' तथा 'व्' का लोप हो जाता है । उदाहरणार्थ– अग्ने + इन्द्र: = अग्न् अय् इन्द्र: = अग्न इन्द्र:, वायो + उक्थेभि: = वाय् अव् उक्थेभि: = वाय उक्थेभि: ।

३.३.६. पादवृत्त सन्धि

यह सन्धि भी 'एचोऽयवायाव:' तथा 'लोप: शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियों के अन्तर्गत आती है । इसमें 'ऐ' तथा 'औ' के बाद ओष्ठ्य स्वर आने पर 'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर 'आ' हो जाता है । वस्तुत: इसमें भी सर्वप्रथम 'ऐ' को 'आय्' होकर 'य्' का लोप हो जाता है तथा औ को आव् होकर 'व्' का लोप हो जाता है । उदाहरणार्थ– अन्वेतवै + उ = 'अन्वेतवा उ', तथा उभौ + उ = 'उभा उ' ।

३.४. व्यञ्जन-सन्धियाँ

वेदों में अनेक प्रकार की व्यञ्जन-सन्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का विवेचन किया जा रहा है।

३.४.१. अवशंगम सन्धि

इस सन्धि में दो व्यञ्जन वर्ण बिना किसी विकार के परस्पर मिल जाते हैं। पाणिनि-व्याकरण में इसे सन्धि नाम से अभिहित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ— आरैक् + पन्थाम् = आरैक्पन्थाम्, वषट् + ते = वषट्ते, यत् + पतये = यत्पतये। ऋक्प्रातिशाख्य 'स्पर्शवर्ण + कोई भी प्रथमस्पर्श' के योग में ही इस सन्धि को स्वीकार करता है।

३.४.२. वशंगम सन्धि

ऋक्प्रातिशाख्य में उन सभी व्यञ्जन सन्धियों को इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, जिनमें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से किसी का परिवर्तन अन्य व्यञ्जन के रूप में हो जाता है। लौकिकसंस्कृत के 'झला जश् झशि', 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा', 'शश्छोऽटि', 'झयो होऽन्यतरस्याम्', 'स्तोश्चुना श्चुः', तोर्लि, 'वा पदान्तस्य', इत्यादि सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– वाक् + वदन्ति = वाग्वदन्ति, यत् + वाक् = यद्वाक्, अर्वाक् + नराः = अवाङ् नराः, वट् + महान् = वण्महान्, अर्वाक् + शफाविव = अर्वाक्छफाविव, विपाट् + शुतुद्री = विपाट्छुतुद्री, अवाट् + हव्यानि = अवाड्ढव्यानि, तच् + शयोरा = तच्छयोरा, यत् + जिगासि = यज्जिगासि, अङ्गात् + लोम्नः = अङ्गाल्लोम्नः, जिगीवान् + लक्षमादत् = जिगीवाँल्लक्षमादत्, भद्रम् + करिष्यति = भद्रङ्करिष्यति।

३.४.३. परिपन्न सन्धि

'म्' के बाद जब ऊष्मवर्ण (श् ष् स् ह्) अथवा 'र्' हो तो 'म्' अनुस्वार हो जाता है। उदाहरणार्थ– होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम्, त्वाम् = ह = त्वांह।

विशेष— पाणिनि-व्याकरण में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से पदान्त 'म्' के बाद कोई भी व्यञ्जन रहने पर 'म्' को अनुस्वार में परिवर्तित होने का विधान है, परन्तु वैदिक संस्कृत में 'म्' से बाद र् या श्, ष्, स्, ह् वर्णों के रहने पर ही अनुस्वार होने का विधान है। इसी अनुस्वार को 'यजुर्वेदी लोग' 'ग्वङ्' के रूप में उच्चरित करते हैं। यजुर्वेदसंहिता एवं यजुर्वेद से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों– ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में उपर्युक्त स्थलों पर ँ(ग्वङ्) की सत्ता प्राप्त होती है। जैसे– गणानां त्वा गणपतिम् + हवामहे = गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे।

३.४.४. आन्-पद पदवृत्ति सन्धि

पदान्त 'आन्' के बाद स्वर होने पर 'न्' का लोप होकर 'आ' अनुनासिक हो जाता है। उदाहरणार्थ– सर्गान् + इव = सर्गाँ इँव, महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

३.५ विसर्ग-सन्धि

३.४.१ प्रश्रित-सन्धि

ह्रस्व अकार के बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग के बाद ह्रस्व अकार अथवा सघोष व्यञ्जन हो तब विसर्ग 'उ' में बदल जाता है तथा अ + उ = 'ओ' हो जाते हैं। लौकिकसंस्कृत 'अतो रोरप्लुतादप्लुते', 'हशि च' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– यः + अस्कभायत् = यो अस्कभायत्। इस उदाहरण में विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार है तथा बाद में भी ह्रस्व अकार है, अतः उपर्युक्त

३.५.२ उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि

जब विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार हो तथा बाद मे अ या आ के अतिरिक्त कोई भी स्वर हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे य: + इन्द्र = य इन्द्र: क: ईषते = क ईषते।

३.५.३. नियत सन्धि

ह्रस्व स्वर के बाद विसर्ग होने पर तथा विसर्ग के बाद 'र्' होने पर विसर्ग का लोप होता है तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। पाणिनि-व्याकरण के 'रोरि', ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण:' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही जाती हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार विसर्ग के 'र्' का लोप होकर पूर्ववर्ती ह्रस्वस्वर दीर्घस्वर में बदल जाता है। उदाहरणार्थ– प्रात: + रत्नम् = प्राता रत्नम्, अग्नि: + रक्षांसि = अग्नी रक्षांसि।

३.५.४. अकाम सन्धि

(१) जब आ, ई अथवा ऊ के बाद विसर्ग हो, तथा विसर्ग के बाद 'र्' हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। यह सन्धि भी 'रोरि' सूत्र से होने वाली सन्धि के समान कही जा सकती है। उदाहरणार्थ– अश्वा: + रथ: = अश्वा रथ:।

(२) 'आ' से बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग से बाद कोई सघोष वर्ण हो तब भी विसर्ग का लोप जाता है। जैसे– या: + ओषधी: = या ओषधी:, पुनाना: + यन्ति = पुनाना यन्ति।

३.५.५. उपाचरित सन्धि

स्वर से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद 'क्' अथवा 'प्' हो तब विसर्ग को 'स्' आदेश हो जाता है। जैसे– शश्वत: + क: = शश्वतस्क:, य: + पति: = यस्पति:, नि: + कृति: = निष्कृति:। यह सन्धि 'विसर्जनीयस्य स:' सूत्र से होने वाली सन्धि के सदृश है।

३.५.६. रेफ सन्धि

जब स्पर्श वर्ण से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद सघोष वर्ण हो तब विसर्ग 'र्' में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ– प्रात: + अग्निम् = प्रातरग्निम्, प्रात: + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा, अग्नि: + अस्मि = अग्निरस्मि।

३.६. वैदिक शब्द-रूप

वैदिकभाषा में भी शब्दों के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में पाये जाते हैं। इस भाषा में भी लौकिकसंस्कृत के समान प्रथमा से सम्बोधन पर्यन्त सभी विभक्तियाँ पायी जाती है किन्तु वैदिकसंस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक विभक्तियों में वैकल्पिक रूप भी प्राप्त होते हैं। पाणिनि-सूत्रों के आधार पर शब्द-रूपों से सम्बन्धित कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

आज्जसेरसुक् (७/१/५०)— अकारान्त प्रातिपदिक से 'जस्' (प्रथमा एवं सम्बोधन बहुचन) प्रत्यय लगने पर जस् प्रत्यय को 'असुक्' का आगम होता है। असुक् प्रत्यय में 'क्' वर्ण की इत्संज्ञा होने से यह 'कित्' है, अत: 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र से यह अन्त (बाद) में होता है। उदाहरणार्थ– देव + जस् = देव + जस् + असुक् (अस्) = देवास: रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जनास:, रथास:, ब्राह्मणास: रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा में सुप् प्रत्ययों को शब्दों के साथ जुड़ने से निम्नलिखित ११ प्रकार की वैकल्पिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७.१.३९)

(१) सु— किसी भी 'सुप्' विभक्ति के स्थान में 'सु' (प्रथमा, एकवचन) लगती है। उदाहरणार्थ– ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०.८५.२३) मन्त्रांश में 'सन्तु' क्रिया-पद बहुवचन में होने के कारण 'पन्थानः' (प्रथमा बहुवचन में) होना चाहिए परन्तु उपर्युक्त सूत्र (सुपां सुलुक्०) से पन्थाः ('स' विभक्ति) होकर बना है।

(२) लुक्— वैदिकभाषा में यत्र-तत्र किसी भी सुप् (विभक्ति) प्रत्यय का लोप हो जाता है। जैसे– 'परमे व्योमन्' (ऋ० १.२९.७) मन्त्रांश में 'परमे' पद सप्तमी एकवचन में होने के कारण 'व्योमन्' पद को भी सप्तमी ए०व० अर्थात् 'व्योमनि' होना चाहिए, परन्तु ऐसा न होकर सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति का लोप होकर 'व्योमन्' रूप भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार विश्वा, विश्वानि इत्यादि अनेक वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं।

(३) पूर्वसवर्ण— जहाँ पर स्वरादि 'सुप्' (विभक्ति) प्रत्यय लगने पर 'यण्' का विधान हो, वहाँ पूर्वसवर्ण अर्थात् प्रातिपदिक और प्रत्यय को प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर का सवर्णी स्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे– धीति + टा (आ), मति + टा (आ) तथा सुस्तुति + टा (आ) प्रत्यय होने पर पूर्वसवर्ण होकर क्रमशः धीती, मती एवं सुष्टुती पद बन जाते हैं। लौकिक संस्कृत में यण् होकर धीत्या, मत्या तथा सुष्टुत्या रूप बनते हैं।

(४) आ— प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन (औ, औट्) प्रत्ययों से बने पदों के औकार के स्थान पर 'आ' आदेश होता है। जैसे– यत् शब्द के पुल्लिङ्ग द्विवचन के 'यौ' को 'या' हो जाता है। सुरथ, देव, दिविस्पृश्, अश्विन् नासत्य आदि शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया द्विवचन में क्रमशः सुरथा, देवा, द्विवस्पृशा, आश्विना नासत्या आदि रूप भी बनते हैं।

(५) आत्— द्वितीया एकवचन (अम्) विभक्ति के स्थान पर 'आत्' आदेश होता है। जैसे 'नत' शब्द के द्वितीया एकवचन में नत् + अम् = नत + आत् होकर 'नतात्' रूप भी बनता हैं।

(६) शे— सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति तथा चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति के स्थान पर 'शे' = 'ए' आदेश होता है– जैसे युष्मद् + सुप् = युष्मद् + शे (ए) = दकार का लोप होकर 'युष्मे' रूप बनता है। इसी प्रकार अस्मद् + सुप् = अस्मद् + शे (ए) = 'अस्मे' रूप बनता है। चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति लगने पर भी इसी प्रकार के रूप अर्थात् युष्मे, अस्मे ही बनते हैं।

(७) या— तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति के स्थान पर 'या' आदेश होता है परन्तु यह आदेश वहीं होता है जहाँ 'टा' को पहले 'ना' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'उरु' शब्द के तृतीया एकवचन में 'उरुणा' के स्थान पर उरुया, 'घृष्णु' शब्द के घृष्णुना के स्थान पर घृष्णुया रूप भी प्राप्त होते हैं।

(८) डा— सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति के औकारान्त रूपों में 'औ' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है। 'डा' आदेश डित् है, अतः प्रातिपदिक 'टि' (अन्तिम स्वरवर्ण या अन्तिम स्वरवर्ण जिस वर्णसमूह के आदि में स्थित हो) का लोप होता है। उदाहरणार्थ– नाभि + ङि = नाभि + डा (आ) = नाभ् + आ = नाभा (नाभि शब्द के अन्तिम 'इ' स्वर का लोप होकर) रूप बनता है।

(९) ड्या— तृतीया एकवचन के रूप में कहीं-कहीं आङ् होता है। इसी 'आङ्' के स्थान पर 'ड्या' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– अनुष्ठा शब्द का 'अनुष्ठया' होना चाहिए परन्तु वैदिक भाषा में 'अनुष्ठ्या' रूप भी प्राप्त होता है।

(१०) याच्— सम्बोधन एकवचन में 'याच्' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'साधु' शब्द के सम्बोधन एकवचन में साधु + सु = साधु + याच् = 'साधुया' रूप भी होता है। लौकिक संस्कृत में 'साधों' रूप ही होता है।

(११) आल्— सप्तमी एकवचन के रूपों में आने वाले अन्तिम वर्ण 'ए' के स्थान पर 'आल्' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– 'वसन्त' के 'वसन्ते' के स्थान पर वसन्त + आल् (आ) = 'वसन्ता' रूप भी होता है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषताएँ वैदिकभाषा मे यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अकारान्त पुल्लिंग शब्दों से तृतीया बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है। जैसे– देवैः, देवेभिः, प्रियैः, प्रियेभिः, रामैः रामेभिः इत्यादि।

(२) अकारान्त शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' अथवा 'एण' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियेण आदि।

(३) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के प्रथमा एवं सम्बोधन बहुवचन के अन्त में 'आः' तथा 'आसः' दोनों प्रत्यय होते हैं। जैसे– प्रियाः, प्रियासः। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियया आदि।

(४) इकारान्त पुल्लिंग शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'ना' अथवा 'या' होता है। जैसे शुचिना, शुच्या।

(५) इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के तृतीया एवचन के अन्त में 'आ' होता है अथवा कोई भी विभक्ति-चिह्न नहीं होता है तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एकवचन में पुल्लिग के समान रूप बनते हैं।

(६) उकारान्त पुल्लिग शब्दों के रूप इकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही होते हैं। षष्ठी एकवचन में कुछ भिन्नता होती है। जैसे– 'मधु' शब्द का षष्ठी एकवचन में 'मध्वः' तथा 'मध्वोः' दोनों रूप बनते हैं।

(७) संख्यावाची 'एक' शब्द के पञ्चमी एकवचन में 'एकस्मात्' तथा 'एकात्' दोनों रूप होते हैं। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन में 'एकस्मित्' तथा 'एके' दोनों रूप बनते हैं।

(८) 'तिसृ' एवं 'चतसृ' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में 'तिसृणाम्' चतसृणाम् रूप भी विकल्प से होते हैं।

(९) 'अस्मद्' और 'युष्मद्' शब्द के रूपों की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

अस्मद्	**युष्मद्**
प्रथमा द्विवचन में वाम् तथा आवाम्।	प्रथमा द्विवचन में युवाम् तथा युवम्। चतुर्थी एकवचन में
मह्यम्, मह्य।	तृतीया एकवन में त्वा, त्वया।
सप्तमी बहुवचन में अस्मासु, अस्मे।	तृतीया द्विवचन में युवभ्याम्, युवाभ्याम्।
	पञ्चमी एकवचन 'त्वत्' द्विवचन में 'युवत्', 'युवाभ्याम्'।
	सप्तमी एकवचन में 'त्वे', 'त्वयि', बहुवचन में 'युष्मे', 'युष्मासु'।

(१०) 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियों में प्राप्त होता है (तृतीया च होश्छन्दसि)। जैसे– 'यवाग्वाऽग्निोत्रं जुहोति'। यहाँ पर यवागू (हव्य वस्तुविशेष) अग्निहोत्र का विशेषण है, उसमें कर्मकारक होने पर भी तृतीया विभक्ति है।

(११) कहीं-कहीं चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति एवं षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि। (पा० २.३.६२) एवं षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्। (वार्तिक)। उदाहरणार्थ– 'गोधा कालका दार्वाघा-टस्ते वनस्पतीनाम्' तथा 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'! इन उदाहरणों में 'वनस्पतीनाम्' का अर्थ है– वनस्पतियों के लिए। परन्तु इसमें चतुर्थी न होकर षष्ठी है।

(१२) 'यज्' धातु का 'करण' तृतीया तथा षष्ठी दोनों विभक्तियों में हो सकता है। 'यजेश्च करणे' (पा० २.३.६३)। उदाहरणार्थ– घृतस्य घृतेन व यजते = घृत से हवन किया जाता है।

३.७ वैदिक धातुरूप

वैदिक भाषा में धातु-रूपों की विविधता प्राप्त होती है। उस समय तक धातु-रूपों के प्रयोगों एवं स्वरूपों के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे। महर्षि पाणिनि ने वैदिक धातुओं के लकारों के कालविभाजन के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख विधान किया हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (पा०सू० ३.४.६)।

वैदिकभाषा में लुङ्, लङ् तथा लिट् लकारों का प्रयोग सभी कालों के अर्थों का बोध कराने के लिए हुआ है। ये लकार अपने निश्चित अर्थों का बोध भी कराते हैं। जैसे– 'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० १.१.५) 'देव (अग्नि) देवताओं के साथ आवें'। यहाँ पर 'अगमत्' गम् धातु के लुङ् लकार का रूप है, परन्तु इसका अर्थ लोट् लकार के लिए है। 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यमानः' 'आज यह यजमान अग्नि को ही होता के रूप में वरण करता है', यहाँ पर अवृणीत पर 'वृ' धातु के लङ् लकार का रूप है परन्तु इसका प्रयोग वर्तमानकाल के अर्थ में हुआ है। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ०१०.८५.१६) 'मैं यह नमस्कार उनके लिए करूँ'। यहाँ पर 'अकरम्' पद 'कृ' धातु के लुङ् लकार का रूप है जिसका प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ के लिए हुआ है। मैकडानल आदि पाश्चात्त्य वैदिक अध्येताओं ने वेदों में प्राप्त होने वाले धातु-रूपों को इस प्रकार से वर्णीकृत किया है—

Present (वर्तमान काल)।

Imperfect (लङ् लकार, सामान्य भूतकाल)।

Perfect (पूर्ण भूतकाल, लिट् लकार के समान)।

Aorist (लुङ् लकार के समान)।

Future (लृट् लकार भविष्यत् काल)।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्तवृतियों (Moods) में भी रूप प्राप्त होते है, जो इस प्रकार हैं—

द्योतकभाव (Indicative)।

विधिलिङ् (Optative)।

आज्ञार्थक भाव (Imperative)।

विधानात्मक भाव (Injunctive)।

लेट् लकार (आत्ममूलक भाव या वस्तुपरक भाव) (Subjunctive)।

लेट् लकार केवल वेदों में प्राप्त होता है, इसके रूपों का प्रयोग विभिन्न अर्थों के प्रकाशन में हुआ है। पाणिनि ने 'लिङर्थे लेट्' (३.४.७) सूत्र द्वारा इसे स्पष्ट कर दिया है। विधि का अर्थ आज्ञा तथा अनुमति, निमन्त्रण का अर्थ जोरदार रूप से निमन्त्रित करना, आमन्त्रण का अर्थ इच्छानुसार आचरण की अनुमति अधीष्ट का अर्थ सत्कार-पूर्वक काम में लगाना, सम्प्रश्न का अर्थ पूछकर आज्ञा या अनुमति, लेना, प्रार्थना का अर्थ किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से की जाने वाली अभ्यर्थना है। इन सभी अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग प्राप्त होता है।

उपसंवादाशङ्कयोश्च (पा० ३.४.८)।

'उपसंवाद' तथा 'आशंका' इन दोनों अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। उपसंवाद का अर्थ है– कर्तव्य में बाँधना (Conditional contract) अर्थात् यदि आप ऐसा करें तो मैं आपको दूँ। कारण से कार्य की सम्भावना आशंका कहलाती है। उदाहरण– 'अहमेव पशूनामीशै' (मैं यह कर सकता हूँ, यदि मैं ही सभी पशुओं पर शासन करूँ), यहाँ उपसंवाद है। 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' ऐसा न हो जाय कि हम पाप करते-करते नरक में गिर जाँय, यहाँ आशंका है। अतः 'ईशै' तथा 'पताम' क्रियापद लेट् लकार के रूप हैं।

लेट् लकार अत्यन्त जटिल लकार है। इसीलिए लौकिकसंस्कृत में इसके रूप प्रायः लुप्त हो गये। 'भू' धातु के लेट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में ये अनेक प्रकार के रूप बनते हैं– भवति, भवाति,

भाविषति, भविषति, भविषाति, भाविषत्, भवत्, भवात्, भविषत् तथा भविषात्।

वैदिक भाषा में भी कर्तृवाच्य (Active voice) तथा कर्मवाच्य (Middle voice) धातुओं के रूप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने 'आत्मनेपद' के लिए (Middle voice) तथा 'परस्मैपद' के लिए (Active voice) शब्दों का ही प्रयोग किया है। कतिपय अपवादों को छोड़कर वैदिकभाषा के धातु-रूप का लौकिक संस्कृत के धातुरूपों के समान ही है। लेट् लकार में कुछ धातुओं के विशिष्ट रूप इस प्रकार हैं—

'भू' (सत्तायाम्)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	भवाति, भवात्	भवात:	भवान्
मध्यम पुरुष	भवासि, भवा:	भवाथ:	भवाथ
उत्तम पुरुष	भवानि, भवा	भवाव	भवाम

'इ' (अय्) (गमने)

प्रथम पुरुष	अयति, अयत्	अयत:	अयन्
मध्यम पुरुष	अयसि, अय:	अयथ:	अयथ
उत्तम पुरुष	अयानि, अया	अयाव	अयाम

ब्रू (कथने)

आत्मनेपद

प्रथम पुरुष	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त
मध्यम पुरुष	ब्रवसे	ब्रवैथे	ब्रवध्वे
उत्तम पुरुष	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

वैदिकसंहिताओं में लुङ् लकार (Aorist) में भी अनेक प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस लकार के रूपों को आगम तथा विकरण के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है, पुन: विकरण या आगम की भिन्नता के अनुसार भी रूपों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा जाता है। इस रेखाचित्र द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा—

लुङ् (Aorist)

विकरणयुक्त　　　　　　　　विकरणरहित

'स' विकरण　'स्' विकरण　'इष्' विकरण　'सिष्' विकरण　　सामान्य　　द्वित्वीकृत

'अ' आगमयुक्त　　मूलधातुयुक्त

लुङ् लकार के कतिपय रूपों में कहीं 'स' कहीं 'स्' कहीं 'इष्' कहीं 'सिष्' विकरण प्राप्त होते हैं। कुछ रूपों में धातु के आदि-अक्षरों का द्वित्व हो गया है तथा कुछ रूपों धातु अपने मूलरूप में ही दृष्टिगोचर होती है। आदि में 'अ' का आगम तो इस लकार के रूपों का सामान्य वैशिष्ट्य है, इस प्रकार इस लकार के रूप भी अनेकश: प्राप्त होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने इनके लिए 'Sa' aorist, 'S' aorist, 'Is' aorist, 'Sis' aorist, Reduplicated aorist तथा Root aorist नामों का प्रयोग किया है। ध्यात्तव्य है कि इन सभी प्रकार के रूपों से सम्बन्धित पद सभी पुरुष और सभी वचनों में उपलब्ध नहीं होते। यहाँ कुछ धातुओं के रूप दिए जा रहे हैं।

'स' विकरणयुक्त 'बुध्' धातु (आत्मनेपद)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	अबुद्ध	अभुत्साताम्	अभुत्सत
मध्यम पुरुष	अबुद्धा:	अभुत्साथाम्	अभुद्ध्वम्

उत्तम पुरुष	उभुत्सि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि

'स्' विकरणयुक्त 'भृ' धातु (परस्मैपद)

प्रथम पुरुष	अभार्	अभार्ष्टाम्	अभार्षुः
मध्यम पुरुष	अभार्	अभार्ष्टम्	अभार्ष्ट
उत्तम पुरुष	अभार्षम्	अभार्ष्व	अभार्ष्म

'इष्' विकरणयुक्त क्रम धातु (परस्मैपद) द्योतकभाव

प्रथम पुरुष	अक्रमीत्	अक्रमिष्टाम्	अक्रमिषुः
मध्यम पुरुष	अक्रमीः	——	——
उत्तम पुरुष	अक्रमिषम्	——	अक्रमिष्म

इस धातु के अवशिष्ट रूप नहीं प्राप्त होते।

'अ' आगमयुक्त 'विद्' धातु

प्रथम पुरुष	अवदित्	——	अविदन्
मध्यम पुरुष	अविदः	——	अविदत
उत्तम पुरुष	अविदम्	अविदाव	अविदाम

वैदिक Aorist (लुङ् लकार) के रूप लङ्लकार, लिट्लकार, विधिलिङ् आदि कई लकारों के रूपों से साम्य रखते हैं। इसका प्रधान कारण है— वैदिकयुग तक भाषा का व्याकरण के कठोर नियम से मुक्ति तथा भौगोलिक विभिन्नता।

ऊपर धातु-रूपों के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख नियमों का विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग के कुछ प्रक्रिया-रूपों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ये रूप हैं– प्रेरणार्थक या णिजन्त, इच्छार्थक या सन्नन्त, पौनःपुन्यार्थक या यङन्त तथा संज्ञा अथवा विशेषण शब्दों से बने हुए नामधातु।

णिजन्त रूप— सम्पूर्ण वैदिकभाषा में लगभग २०० धातुओं के णिजन्त रूप प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया में भी लौकिकसंस्कृत के समान 'अय' का योग पाया जाता है। धातु का प्रथम स्वर इ, उ, ऋ तथा ऌ होने पर इन स्वरों का गुण हो जाता है, उदाहरणार्थ– क्रुध् धातु से लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में क्रोधयति, गम् धातु का गमयति, पठ् धातु का पाठयति आदि रूप बनते हैं। इस प्रकार के रूप भी सभी लकारों में नहीं प्राप्त होते हैं।

सन्नन्त रूप— वेदों में इस प्रकार रूपों का भी अनेकशः प्रयोग प्राप्त होता है। प्रायः सभी लकारों में इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार के रूपों में धातु के साथ 'स' का योग रहता है, तथा धातु के प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है। धातु के अन्तिम 'इ' तथा 'उ' को दीर्घ तथा 'ऋ' को 'ईर्' हो जाता है। जैसे– निनीष, निगीष, चिकीर्ष आदि। इसी प्रकार विवासति, विवासतः, विवासन्ति, विवाससि, विवासथः, विवासथ, विवासामि, विवासावः, विवासामः, जिगमिषति, जिगमिषतः जिगमिषन्ति, इत्यादि रूप भी उपलब्ध होते हैं।

यङन्त रूप— किसी क्रिया के अतिशय अथवा बार-बार होने को बतलाने के लिए इस प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। इस प्रक्रिया में धातु में 'य' जुड़ता है तथा प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व होता है। कहीं-कहीं 'य' का लोप हो जाता है। इस प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– नेनेक्ति, नेनेजीति, नेनिजति, नेनेक्षि, नेनिक्तथः, नेनेक्ते, नेनिजानि, जागृताम्, जगृहि, जागरीहि, अचाकशम्, अजागर, अदर्दर, अवरीवर, अदेदिष्ट, अन्नत, मर्मृजत् इत्यादि।

नामधातु रूप— वैदिक भाषा में इस प्रकार के रूपों का प्रयोग भी अधिक हुआ है। संज्ञा शब्दों में 'क्यच्' जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं। क्यच् का केवल 'य' बचा रहता है तथा 'य' के पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जाता है। ऋकार 'री' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया के रूप निम्नलिखित रूपों की भाँति होते हैं—

लट्लकार

पुत्रकाम्यति	पुत्रकाम्यतः	पुत्रकाम्यन्ति
पुत्रकाम्यसि	पुत्रकाम्यथः	पुत्रकाम्यथ
पुत्रकाम्यामि	पुत्रकाम्यावः	पुत्रकाम्यामः

इस प्रक्रिया के रूप प्रायः सभी लकारों में प्राप्त होते हैं।

वैदिक धातुरूपों की अन्य विशेषताएँ

(१) इदन्तो मसि (पा०सू० ७.१.४५)– वेद में उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रत्यय 'मस्' अपने साथ 'इ' को लिए हुए रहता है, परन्तु सर्वत्र ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। उदाहरण–'नमो भरन्त एमसि'। यहाँ 'आगच्छामः' के स्थान पर 'एमसि' का प्रयोग है।

(२) छन्दसि लिट् (पा०सू० ३.२.१०५)– वेद में लिट् लकार का प्रयोग सामान्य भूतकाल के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ– 'अह द्यावापृथिवी आततान (वाज० ८.९), मैंने द्युलोक तथा पृथिवी को फैलाया। इस मन्त्रांश में तन् धातु के लिट् लकार के रूप का प्रयोग सामान्य भूतकाल का बोध कराने के लिए हुआ है।

(३) लिटः कानज्वा (पा०सू० ३.२.१०६), क्वसुश्च (पा०सू० ३.२.१०७)– लिट् लकार के स्थान पर 'कानच्' और 'क्वसु' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जैसे– 'चक्राणा वृष्णिम्' तथा 'यो नो अग्ने अररिवाँ अधायुः' (ऋ० १.१४७.४)। हे अग्ने ! जिसने मुझे दान नहीं दिया वह पापी है। इन उदाहरणों में 'चक्राण' तथा अररिवान् पद क्रमशः कानच् तथा क्वस् प्रत्यय से बने हुए हैं। कृ धातु + कानच् प्रत्यय = चक्राण, छान्दस् दीर्घता होकर 'चक्राणा' बना है। रा धातु + क्वसु प्रत्यय = अररिवान्, नकार लोप तथा पूर्वस्वर को अनुनासिक होकर 'अररिवाँ' पद बना है। इन दोनों पदों का प्रयोग लिट् लकार के अर्थ में हुआ है।

(४) आत्मनेपद में रहने वाले तकार का वेद में लोप होता है। जैसे– अदुहत् (दुह् धातु लङ्लकार प्र०पु ए०व०) के तकार का लोप होकर अदुह रूप मिलता है।

(५) आत्मनेपद के 'ध्वम्' प्रत्यय को 'ध्वात्' आदेश होता है। जैसे– वारयध्वात्। लोक में 'वारयध्वम्'।

(६) लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'त' प्रत्यय के स्थान पर 'तात्' होता है। जैसे– 'कृणुतात्'। लोक में 'कृणुत'।

(७) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान में तम्, तनप्, तन और 'यन' इन चार आदेशों का प्रयोग भी वैदिक भाषा में पाया जाता है। जैसे– शृणोत, सुनोतन, दधातन, जुषुष्टन तथा ष्ठन इत्यादि। इनके लौकिक रूप क्रमशः– शृणुत, सुनोत, धत्त, जुषध्वम् तथा स्थ हैं।

दीर्घीकरण

वैदिक ग्रन्थों में कतिपय पद इस प्रकार के हैं जो मूलरूप में ह्रस्व स्वरान्त हैं परन्तु छन्द की दृष्टि से वे दीर्घ रूप में पाये जाते हैं। पदपाठ में वे दीर्घ नहीं दिखलाये जाते, संहिता मंत्रों में ही उनके दीर्घ रूप मिलते हैं। वेदपाठियों में यह परम्परा है कि वेदमन्त्रों को किसी भी परिस्थिति में छन्द के नियमों के विपरीत नहीं पढ़ना चाहिए। नीचे कुछ प्रमुख तथ्यों को पाणिनिसूत्रों के आधार पर दिया जा रहा है—

(क) द्व्यचोऽतस्तिङ् (पा०सू० ६.३.१३५)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले धातु रूपों के अन्तिम अकार को दीर्घ होता है, यदि पद अकारान्त हो। जैसे– यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

(ख) निपातस्य च (पा०सू० ६.३.१३६)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले निपातों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ– एवा हि ते।

(ग) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (पा०सू० ६.३.१३३)– ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। **तु** (तो), **नु** (अभी), **घ** (निश्चयार्थक अव्यय), **मक्षु** (शीघ्र), तङ् (लोट् म०पु० बहुवचन), **कु** (बुरा), **त्र** (स्थान वाचक त्रल् प्रत्यय) तथा उरुष्य (रक्षा करना)। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है– तु– 'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।' नु– 'नु मर्त्यः' ! घ– 'उत वा घा स्यालात्'। मक्षु– 'मक्षु गोमन्तमीमहे'। तङ्– 'मा ते भरता नरः'। कु– 'कू मनाः'। त्र– 'यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्'।

उरुष्य– 'उरुष्या णः' ।

(घ) इकः सुञि (पा०सू० ६.३.१३४)– ऋग्वेद में किसी पद के अन्त में आने वाले इ, उ, ऋ, ऌ स्वर दीर्घ हो जाते हैं, यदि बाद में सुञ् (सु अव्यय) हो । उदाहरणार्थ– अभीष्णु णः सखीनाम् ।

(च) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् (पा०सू० ६.३.१३२)– 'ओषधि' शब्द के बाद प्रथमा के अतिरिक्त विभक्ति आने पर अन्तिम स्वर इकार को दीर्घ हो जाता है– जैसे 'यदोषधीभ्यः', 'अदधात्योषधीषु' । इन उदाहरणों में क्रमशः 'भ्यस्' तथा 'सुप्' अप्रथमा विभक्ति होने के कारण ओषधि के इकार को दीर्घ हो गया है ।

(छ) मन्त्रे सोमश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (पा०सू० ६.३.१३१)– मन्त्रों में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में मतुप् प्रत्यय जुड़ा हो । जैसे– अश्व + मतुप् = अश्वावती । इसी प्रकार सोमावती, इन्द्रियावान् तथा विश्वदेव्यावान् ।

(ज) छन्दसि च (पा०सू० ६.३.१२६)– वेद में अष्टन् शब्द के बाद कोई भी शब्द रहने पर नकार का लोप होकर पूर्ववर्ती स्वर अकार का दीर्घ होता है । जैसे– अष्टन् + वक्रः = अष्टावक्रः, अष्टन् + पदः = अष्टापदः ।

३.८ वैदिक प्रत्यय

वैदिक भाषा के प्रत्ययों में भी लौकिक संस्कृत के प्रत्ययों से कुछ विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

३.८.१ पूर्वकालिक क्रिया-रूप

लौकिक संस्कृत में 'क्त्वा प्रत्यय तथा 'ल्यप्' प्रत्यय जोड़कर बनाये जाने वाले पद वैदिक भाषा में 'त्वी' 'त्वाय' तथा 'त्वा' प्रत्यय जोड़कर भी बनाये जाते हैं । जैसे– 'त्वी'– कृत्वी, गत्वी, भूत्वी, वृक्त्वी, जनित्वी, स्कमित्वी आदि । 'त्वा'– पीत्वा भित्वा, मित्वा, युक्त्वा, तृप्त्वा, श्रुत्वा, हत्वा, हित्वा आदि । 'त्वाय'– जगध्वाय, गत्वाय, दत्त्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय आदि ।

लौकिक संस्कृत में धातु के पूर्व उपसर्ग रहने पर 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय होता है– जैसे परिगृह्य, आगम्य आदि । परन्तु वैदिक भाषा में कहीं-कहीं उपसर्ग पहले रहने पर भी धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है । जैसे– प्रज्ञापयित्वा ।

३.८.२. तुमर्थक प्रत्यय

कतिपय वैदिक विद्वानों के मतानुसार तुमर्थक प्रत्यय वस्तुतः धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियों के रूप हैं । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में चतुर्थी विभक्ति के पदों का अधिक प्रयोग प्राप्त होता है । 'तुमुन्' के अर्थ में जो प्रत्यय वेदों में पाये जाते हैं उनको पाणिनि ने एक ही सूत्र में बतला दिया है, जो इस प्रकार हैं—

'तुमर्थे सेसेन् असे असेन्क्सेकसेनध्यै ।

अध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै शध्यैन्तवैतवेङतवेनः (पा० ३.४.९)' ।

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक भाषा में– से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् तथा तवेन् ये १५ प्रत्यय होते हैं । उपर्युक्त प्रत्ययों में न्, क्, ङ्, श् वर्णों की इत् संज्ञा होती है । जिस प्रत्ययों में 'न्' वर्ण इत्संज्ञक होता है, उनसे बने शब्दों का आदि अक्षर उदात्त होता है । 'क्' इत्संज्ञक वाले (कित्) प्रत्ययों के लगने पर 'गुण' का निषेध हो जाता है । ङित् प्रत्ययान्त शब्दों में भी गुणनिषेध होता है । शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है, अतः 'अय्' आदेश होता है ।

से– √वच् + से = 'वक्षे' पुकारने के लिए, √वह् + से = 'वक्षे' ढोने के लिए ।

सेन्– √इ + सेन् = 'एषे' (जाने के लिए)।

असे– √जीव + असे = 'जीवसे' जीने के लिए।

असेन्– √जीव + असेन् = जीवसे (आदि उदात्त) जीने के लिए।

क्से– √इ + क्से = (स् को ष् होकर) इषे, 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रेषे' शब्द बना (भली प्रकार जाने के लिए)।

कसेन्– √श्रि + कसेन् (इयङ आदेश होकर) श्रियसे।

अध्यै, अध्यैन्– √पृ + अध्यै = पृणध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्यय लगने पर आदि स्वर उदात्त होता है।

कध्यै, कध्यैन्– आङ् (आ) उपसर्ग + √हु + कध्यै अथवा कध्यैन् प्रत्यय, कित् होने से 'उवङ्' आदेश होकर रूप बना-आहुवध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्ययान्त होने से 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त होता है।

शध्यै– √मद् + णिच् + शध्यै = मादयध्यै।

शध्यैन्– √पा (पिब् आदेश) + 'शध्यैन्' = पिबध्यै। 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त।

तवै– √दा + तवै = दातवै। दातवै + उ = 'दातवा' उ ('एचोऽयवायाव:' से आय्, 'लोप: शाकल्यस्य' से यकार लोप)।

तवेङ्– √सू + तवेङ् प्रत्यय = सूतवे (ङित् प्रत्यय लगने से गुण का निषेध)।

तवेन्– √कृ + तवेन् = कर्तवे (गुण कार्य होकर)।

उपरिकथित प्रत्ययों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

"ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (पा० ३.४.१५)" से 'ईश्वर' शब्द उपपद रहने पर 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक भाषा में 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्यय होते हैं– जैसे– 'ईश्वरो विचरितो:', वि + √चर् + तोसुन् (तोस्) = विचरितो: (विचरण करने में समर्थ)। 'ईश्वरो लिखित:' √लिख् + कसुन् (अस्) = लिख् (इट् का आगम) + अस् = लिखित: (लिखने में समर्थ)।

"प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै (पा० ३.४.१०)" से प्रयै, रोहिष्यै, तथा अव्यथिष्यै शब्द तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रयै = जाने के लिए, रोहिष्यै = चढ़ने के लिए, अव्यथिष्यै = पीड़ित न करने के लिए।

"दृशे विख्ये च (पा० ३.४.११)" से 'दृशे विश्वास सूर्यम्' (ऋ० १.५०.१) तथा 'विख्ये त्वा हरामि' मन्त्रांशों में √दृश् + के = दृशे (देखने के लिए) तथा वि + √ख्या + के = विख्ये (देखने के लिए) शब्द तुमुन् के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। यहाँ पर 'के' प्रत्यय 'तुमुन्' का अर्थ बतलाता है।

"शकि णमुल्कमुलौ (पा० ३.४.१२)" से यदि उपपद में शक् धातु का प्रयोग हो तब तुमुन् के अर्थ में 'णमुल्' तथा कमुल ये दो प्रत्यय होते हैं। उदाहरणार्थ– वि + √भज् + णमुल् = विभाजम् (विभाग करने के लिये), अप + √लुक् + कमुल् = 'अपलुकम्' अशकत् (विभाजन या लोप नहीं कर सका)।

३.८.३ कृदन्त प्रत्यय

वैदिकभाषा के कृदन्त रूपों में लौकिकसंस्कृत से कतिपय विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

वर्तमानकालिक कृदन्त— 'शतृ' और 'शानच्' वर्तमानकालिक कृदन्त हैं। वैदिक भाषा में इनका रूप लौकिक संस्कृत के समान ही बनता है। जैसे– गच्छत् = √गम् + शतृ, वर्तमान् = √वृत् + शानच्, युज्जान = √युज् + शानच्, क्रियमाण = कृ + शानच्।

भूतकालिक कृदन्त— 'क्त' और 'क्तवतु' भूतकालिक कृदन्त हैं। उदाहरणार्थ– हत: = √हन् + क्त, हतवान् = √हन् + क्तवतु, कुपित: = √कुप् + क्त, स्तुत: = √स्तु + क्त, भिन्न: = √भिद् + क्त।

पूर्णकालिक कृदन्त— वेद में परस्मैपद में 'वांस' प्रत्ययान्त शब्द इस प्रकार के अर्थ का द्योतन करते हैं। जैसे– चकृवांस, चक्राण, जघन्वांस, तस्तभ्वांस, तस्थिवांस, पप्तिवांस, ईयिवांस, चिकित्वांस आदि। आत्मनेपद में 'आन्' प्रत्यय जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं, जैसे– आनजान, आनशान, आराण, ईजान, ऊचान, चक्राण, शशमान, शशयान इत्यादि।

भविष्यत्कालिक कृदन्त— परस्मैपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'मान' जोड़कर बनता है। उदाहरणार्थ– भविष्यन्त तथा यक्ष्यमाण पद क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद के हैं।

३.८.४. तद्धित प्रत्यय

प्रातिपदिक शब्दों के साथ जुड़कर उनसे सम्बद्ध अर्थों को बतलाने वाले प्रत्यय 'तद्धित' कहलाते हैं। वैदिकभाषा के कतिपय प्रमुख तद्धित प्रत्यय तथा उनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ– देव, मानव, पार्थिव, मारुत।

आ– प्रिया, नवा, गता।

आयन– काण्वायन, दाक्षिणायन।

इ– पौरुकुत्सि, सारथि, साबरणि।

इन्– अर्किन, अर्चिन्, वर्मिन्, रेतिन।

इय– अभ्रिय, इन्द्रिय, समुद्रिय।

ई– अदती, पृथ्वी, अवित्री, देवी।

ईन– अर्वाचीन, प्राचीन, विश्वजनीन।

ईय– गृहमेधीय, पर्वतीय, आहवनीय।

एय– आदितेय, पौरुषेय।

क– अन्तक, दूरक, ममक, पादक।

तन– सनातन, नूतन।

तम– उत्तम, पुरुतम, शततम, तवस्तम।

तर– तवस्तर, रथीतर, उत्तर।

ता– बन्धुता, वसुता, देवता।

ताति– सर्वताति, ज्येष्ठताति।

त्य– अमात्य, नित्य, अपत्य, निष्ट्य।

त्व– मघवत्व, अमृतत्व।

त्वन्– जनित्वन्, सखित्वन्।

थ– कतिथ, चतुर्थ।

नी– पत्नी, परुष्णी, एणी, अशिक्नी।

भ– ऋषभ, वृषभ, गर्दभ, रासभ।

म– अवम, मध्यम, नवम, दशम।

मन्त– अशनिमन्त, क्रतुमन्त।

मय– मृण्मय, मनस्मय।

म्न– द्युम्न, सुम्न।

य– पशव्य, तुप्रय।

र– अवर, रथिर।

ल– कपिल, वृषल, बहुल।

वत्– उद्वत्, निवत ।

वन्– मघवन्, समद्वन्, श्रुष्टीवन् ।

वन्त– अश्वावन्त, अश्ववन्त, सखिवन्त, पयस्वन्त ।

विन्– उभयाविन्, अष्ट्राविन्, यशस्विन् ।

श– एतश, युवश, रोमश ।

३.९ क्रिया-विशेषण तथा अव्यय

क्रिया की विशेषता बतलाने वाले शब्द क्रियाविशेषण कहलाते हैं। अव्यय पद भी कहीं-कहीं क्रिया-विशेषण के समान कार्य करते हुए प्राप्त होते हैं। वैदिकभाषा में अनेक क्रिया-विशेषण एवं अव्यय पदों का प्रयोग हुआ है, जिनसे विभक्ति के अर्थ का द्योतन होता है। कतिपय शब्दों में विभक्ति-चिह्न भी दृष्टिगोचर हैं। कतिपय क्रिया-विशेषण शब्द हैं—

अछ = ओर, **अति** = पारकर, **अनु** = पीछे, **अभि** = ओर, **प्रति** = ओर, **तिरः** = पारकर, इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति लगती हैं।

अव = नीचे से, इनके योग में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है।

परि = चारों ओर, का प्रयोग चतुर्थी के योग में होता हैं।

उप = समीप में, **अपि, अधि, अन्तर** (बीच में), **आ** = ऊपर, **पुरः** = आगे, का प्रयोग सप्तमी के योग में होता है।

अव = नीचे से, यह पंचमी के योग में प्रयुक्त होता है।

वैदिक भाषा में कतिपय 'निपात' शब्द इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जो मूलतः क्रिया-विशेषण हैं परन्तु वे स्वतन्त्र रूप से विभक्तियों के साथ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे– **अन्तरा** = बीच में, **अभितः** = चारों ओर, **उपरि** = ऊपर, परे, **परः** = परे, **परितः** = चारों ओर, **सनितुः** = अतिरिक्त– ये सभी शब्द द्वितीया विभक्ति के साथ पाये जाते हैं। सह, साकम्, सुमद्, स्मद, (ये सभी 'साथ' के अर्थ में), **अव** = नीचे, **पर** = बाहर, ये शब्द तृतीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

अधः = नीचे से, **आरे** = दूर या भिन्न।

ऋते = बिना, **पर** = अलग से, **पुरा** = पहले, **बहिर्धा** = बाहर से।

सनुतः = दूर, इनका प्रयोग पञ्चमी के साथ होता है। षष्ठी के साथ **'पुरस्तात्'** = 'सामने' का प्रयोग देखा जाता है।

सचा = साथ, निपात का प्रयोग सप्तमी के साथ प्राप्त होता है।

प्रत्यययुक्त क्रियाविशेषण

'था' प्रत्यय से निष्पन्न– अथा, इत्था यथा, तथा, कथा, अन्यथा, विश्वथा, ऊर्ध्वथा, पूर्वथा, प्रत्नथा, ऋतुथा, नामथा, एवथा।

'धा' प्रत्यय से निष्पन्न– एकधा, द्विधा, त्रेधा, कतिधा, पुरुधा, बहुधा, शश्वंधा, विश्वधा, प्रियधा, मित्रधा, बहिर्धा, अधा, अद्धा, सधा।

'ह' प्रत्यय से निष्पन्न– इह, कुह, विश्वह, समह।

'वत्' प्रत्यय से निष्पन्न– पूर्ववत्, मनुवत्, पुराणवत्।

'शः' प्रत्यय से निष्पन्न– शतशः, सहस्रशः, ऋतुशः, पर्वशः।

'स्' प्रत्यय से निष्पन्न– द्विस्, त्रिस्, अवस् (अवः), अन्येद्युस् (अन्येद्युः)।

'तस्' प्रत्यय से निष्पन्न– अतः, अमुतः, इतः, मत्त, दक्षिणतः, हतः, परितः, अभितः ।

'तात्' प्रत्यय से निष्पन्न– अधस्तात्, आरात्तात्, पश्चात्तात्, पुरस्तात्, प्राक्तात् ।

'अस्' प्रत्यय से निष्पन्न– तिरः, परः, पुरः, सदिवः, सद्यः, श्वः, ह्यः, मिथः ।

'त्रा' या **'त्र'** प्रत्यय से निष्पन्न– अत्र, विश्वत्र, अन्यत्र, अस्मत्रा, सत्रा, दक्षिणत्रा । पुरुत्रा, बहुत्रा, देवत्रा, मर्त्यत्रा, शयुत्रा ।

'दा' प्रत्यय से निष्पन्न– इदा, कदा, तदा, यदा, सदा, सर्वदा ।

'दानीम्' प्रत्यय से निष्पन्न– इदानीम्, तदानीम्, विश्वदानीम् ।

कतिपय अव्यय पदों के अर्थ

अङ्ग– पूर्वकथित शब्द पर जोर देने के लिए ।

अत्र– कभी-कभी 'जब' अर्थ में भी आता है ।

अथ– वाक्यों को तथा उपवाक्यों को जोड़ता है ।

अयो– समुच्चय बोधक ।

अवि– बाद वाले शब्द पर जोर देता है ।

अह– पहले आने वाले शब्द पर जोर देता है ।

आद– समय के क्रम को बतलाता है ।

इति– प्रायः किसी कथन के अन्त में तथा क्रिया के पूर्व ।

इत्था– इस प्रकार, कभी-कभी विशेषण के रूप में ।

इद्– पहले आने वाले शब्द पर जोर देने के लिए ।

उतो, उतो– 'और', प्रायः दो शब्दों को जोड़ते हैं ।

घ– पहले वाले शब्द पर जोर देने के लिए ।

नकीम्, नकिः– नकारात्मक अर्थ को पूरा करने के लिए ।

नूनम्– 'अब' के अर्थ में या 'प्रश्नवाचक' अर्थ में ।

माकिः– नकारात्मक अर्थ में ।

माकीम्– नकारात्मक अर्थ को पुष्ट करने के लिए ।

वै– निश्च ही ।

सीम्– अवधारणार्थक ।

सु, सू– अच्छी प्रकार के अर्थ में क्रियाविशेषण है ।

स्विद्– वाक्य के पहले शब्द पर जोर देता है ।

ह– प्रसिद्धि का वाचक तथा प्रारम्भिक शब्द के बाद आता है ।

इनके अतिरिक्त कतिपय विस्मयबोधक अव्ययों के प्रयोग भी वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे– बत, बट्, हन्त, है, हिरक्, हुरुक्, चिश्चा, फट्, फल्, बाल्, कुक्, शल् आदि ।

३.१० वैदिक उपसर्ग

निरुक्तकार यास्क के अनुसार वैदिक भाषा में २० उपसर्ग हैं । उनके अनुसार 'निस्' तथा 'निर्' दोनों एक ही हैं तथा 'दुस्' और 'दुर्' भी एक ही हैं । लौकिकसंस्कृत के शेष सभी उपसर्ग वैदिकभाषा में भी यथावत हैं । लौकिकसंस्कृत में उपसर्ग सदैव क्रियापद के साथ ही रहते हैं । क्रियापद के पूर्व

जुड़कर ही प्रादिगण के शब्द उपसर्ग संज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रियापद से दूर भी प्राप्त होते हैं, जैसे—

'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म' ।– ऋ० १.१५४.३

'प्र तद्विष्णु: स्तवते वीर्येण' ।– ऋ० १.१५४.१

'तदस्य प्रियमभि पायो अश्याम्' ।– ऋ० १.१५४.५

उपर्युक्त उदाहरणों में 'प्र' उपसर्ग 'एतु' तथा 'स्तवते' क्रियापदों से दूर हैं, एवं 'अभि' उपसर्ग 'अश्याम्' क्रियापद से पृथक् है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोग देखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि वैदिक भाषा में उपसर्गों को पृथक् पद मानकर उनकी अर्थवाचकता को स्वीकार किया गया था। यास्क ने भी अपने निरुक्त में उपसर्गों को अर्थवान् माना है।

समास

वैदिक भाषा के समासों में भी कतिपय विशेषताएँ पाई जाती है। जो इस प्रकार हैं—

'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (पा० २.४.२८)' लौकिक संस्कृत में समस्त पदों की लिङ्ग-व्यवस्था से सम्बन्धित सूत्र 'परवल्लिङ्ग' द्वन्द्वतत्पुरुषयो: (पा०२.४.२६)' है। जिसके अनुसार द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परवर्ती शब्द के लिङ्ग के समान समस्तपद का लिङ्ग होता है, परन्तु वैदिक भाषा में 'हेमन्तशिशिरौ' (हेमन्तश्च शिशिरं च), तथा 'अहोरात्रे' (अहश्च रात्रिश्च), इन दो समस्त पदों में हेमन्त (पुं०) के अनुसार पुल्लिंग तथा अहन् (नपुं०) के अनुसार नपुंसकलिंग है। उक्त लौकिक संस्कृत के नियमानुसार इन समस्त पदों को क्रमश: 'हेमन्तशिशिरे' तथा 'अहोरात्रे' बनना चाहिए। वेद में 'अहोरात्राणि' पद भी मिलता है।

समस्त पदों में भी कभी-कभी दोनों पद किसी एक या अनेक शब्द को बीच में आ जाने से पृथक् हो जाते हैं। जैसे– 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' यहाँ पर 'द्यावा' तथा 'पृथिवी' इन दो पदों के मध्य 'चित्' तथा 'अस्मै' पदों का व्यवधान है।

देवताद्वन्द्व समास में पूर्वपद दीर्घ भी प्राप्त होता है, जैसे– मित्रावरुणौ।

वेद में द्वन्द्व समास में 'पितरामातरा' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

३.११ वैदिक स्वर

'स्वर' वैदिक भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं सही अर्थज्ञान के लिए भी स्वर की उपादेयता है। कतिपय आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वरों से अङ्कित हैं। पाणिनीय शिक्षा में स्वरों की महत्ता के विषय में स्पष्ट कहा गया है—

मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा।
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह॥
स वाग्वज्र: यजमानं हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्।

अर्थात् स्वर अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या रूप में प्रयुक्त होने के कारण उस (वास्तविक) अर्थ को नहीं बतलाता है; वह तो वाणीरूपी वज्र बनकर यजमान का ही वध कर डालता है; जैसे स्वर के अपराध के कारण 'इन्द्रशत्रु:' शब्द ने यजमान (वृत्र) का वध कर दिया।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार 'वेंकटमाधव' ने वेदार्थज्ञान में स्वरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरै: प्रणातीनां भवन्त्यर्था: स्फुटा इति॥

जिस प्रकार अन्धकार में दीपिकाओं के सहारे चलता हुआ व्यक्ति ठोकरें खाकर गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से अर्थ भी पूर्णत: स्पष्ट होते हैं।

३.११.१ स्वरों की संख्या

स्वर मूलत: दो प्रकार के हैं– (१) उदात्त (२) अनुदात्त। उदात्त स्वर किसी भी परिस्थिति मे अपरिवर्तनीय ही रहता है परन्तु अनुदात्त स्वर उदात्त के बाद आने पर स्वरित में एवं स्वरित के बाद आन पर 'प्रचयं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अत: आपातत: स्वर को चार प्रकार का भी होता है। कुछ द्वि-उदात्त पदों को छोड़कर पद में उदात्त एवं स्वरित की संख्या एक-एक ही हो सकती है, जबकि अनुदात्त और प्रचय अनेक भी होते हैं। ये उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जन तं अपने अङ्गीभूत स्वर-वर्ण के स्वर (Accent) से सस्वर होते हैं।

३.११.२ उदात्तादि स्वरों का परिचय

उदात्त

वैदिक स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य है। यह किसी अन्य स्वर की सन्धि के प्रभाव से परिवर्तित नह होता है। प्रातिशाख्यों के विशेष विधान से अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट-सन्धियों में उदात्त स्वर स्वरि रूप में परिवर्तित हो जाता है।

'उद् उच्चैरादीयते उच्चार्यते उदात्त:' अर्थात् जो वर्णस्वर कण्ठताल्वादि पर ऊँचे स्थान से उच्चरि हो उसे उदात्त कहते हैं यह उदात्त शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। उदात्त के लक्षण के लिए उच्चैरुदात सूत्र उपलब्ध होता है, जिसका तात्पर्य है उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है

अनुदात्त

अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर न उठाया हुआ। अनुदात्त के लक्षण में 'नीचैरनुदात्त:' ए उपलब्ध है जिसका अर्थ है नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले स्वर को अनुदात्त कहा जाता है। भाष्यका उवट एवं अनन्त के मतानुसार गात्रों (शरीरा-वयवों) के मार्दव अर्थात् अधोगमन से जो स्वर प्रगट होत है, उसे अनुदात्त कहते हैं।

स्वरित

उदात्त और अनुदात्त इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है। समाहार-स्स्वरित: उदा का प्रयत्न गात्रों (शरीरावयवों) का ऊर्ध्वगमन है तथा गात्रों (शरीरावयवों) का अधोगमन अनुदा का प्रयत्न है। इन दोनों प्रयत्नों के समाहार (मेल) से जो स्वर उच्चरित होता है उसे स्वरित संज्ञक कह हैं।

३.११.३. स्वरित के भेद

स्वरित स्वर के सात भेद बतलाये गये हैं (१) जात्य (२) अभिनिहित (३) क्षैप्र (४) प्रश्लिष्ट (५ तैरोव्यञ्जन (६) तैरोविराम और (७) पादवृत्त। इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा ज सकता है। संधिज स्वरित २. असंधिज स्वरित ३. सामान्य स्वरित। इसको निम्नलिखित रेखा-चित्र द्वार इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

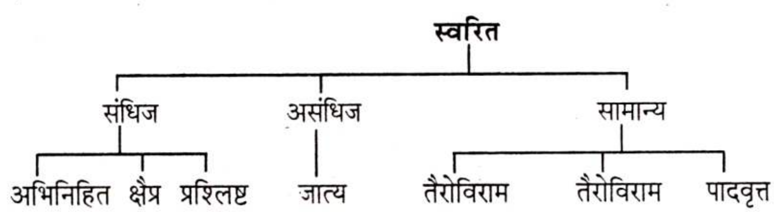

अभिनिहित स्वरित— पदान्तीय एकार तथा ओकार से परे पदादि ह्रस्व अकार का अभि-निहित या पूर्व रूप हो जाता है। अभिनिहित सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। पदान्तीय उदात्त एकार, ओकार से परे पदादि अनुदात्त अकार का लोप होने पर सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। जैसे— ते + अवन्तु = तेंऽवन्तु।

क्षैप्र-स्वरित— पाणिनीय व्याकरण की यण् सन्धि ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्र सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋ०प्रा० में सन्धि के अन्तर्गत इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है; किन्तु भावि स्वर, इ, उ आदि के सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्तस्थ य् व् आदि वर्ण के उच्चारण क्षिप्रता (शीघ्रता) होने के कारण इस सन्धि को क्षैप-सन्धि कहते हैं। इस प्रकार की सन्धि पर जो स्वरित आश्रित होता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। उदात्त इकार तथा उकार का यकार तथा वकार होने पर क्षैप्र स्वरित होता है अर्थात् उदात्त धर्मवान् इ या उ असमान स्वर बाद में होने पर जब क्रमशः यकार एवं वकार हो जाता है तब उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इसे ही क्षैप्र स्वरित कहते हैं। जैसे—नु + इन्द्र = न्विंद्र

प्रश्लिष्ट स्वरित— पाणिनीय व्याकरण की दीर्घ-सन्धि, गुण-सन्धि एवं वृद्धि-सन्धि को प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट-सन्धि कहा जाता है। ऋ०प्रा० में प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया गया है पदान्त उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के प्रश्लेष में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। जैसे— स्रुचि + इव = स्रुचींव।

असन्धिज-स्वरित (जात्य)— स्वतंत्र स्वरित के अन्तर्गत असंधिज स्वरित एक भिन्न वर्ग है। इस असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत केवल एक स्वरित आता है और वह है जात्य-स्वरित। इसे नित्य स्वरित भी कहा जाता है। एक पद में अनुदात्त पूर्व में होने पर या कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर यकार वकार युक्त स्वर स्वरित जात्य स्वरित होता है। उदाहरण— (१) **अनुदात्तपूर्व-कन्या** (२) **अपूर्व-स्वः** (प०पा०) **= स्वः** (सं०पा० १८.६४)।

तैरोव्यञ्जन-स्वरित— नानापद में अथवा एकपद में जहाँ व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं। उदाहरण- **देवो वः**।

तैरोविराम-स्वरित— अवग्रहगत मात्राकालिक विराम को तिरोहित मानकर स्वरित हो जाने को तैरोविराम स्वरित कहते हैं। संहितापाठ के एक पद को जब पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा दो पद्यों में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यों के उच्चारणों के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। इस व्यवधान के परिणामस्वरूप पूर्व पद्य के अन्तिम उदात्त स्वर के प्रभाव से उत्तर पद्य के प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे— गोऽपंतौ।

पादवृत स्वरित— दो स्वर वर्णों के मध्य कालकृत व्यवधान को विवृति कहा जाता है। इस विवृति का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जिसे पादवृत्त स्वरित कहा जाता है। उदाहरण— **ध्रुवा। असदन्** (प०पा०) = **ध्रुवाऽअंसदन्।**

प्रचय— यह स्वर मूल रूप से अनुदात्ता हो जाता है किन्तु पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से परवर्ती एक या अनेक अनुदात्त उदात्त के समान उच्चारित होते हैं, जो प्रचय कहे जाते हैं। जैसे— इमं में गङ्गे यमुने सरस्वति। यहाँ मे के स्वरित के प्रभाव से परवर्ती सभी अनुदात्त प्रचय हैं।

कम्प— जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित से बाद में उदात्त या स्वरित आने पर पूववर्ती स्वरित को परवर्ती अनुदात्त भाग के उच्चारण में कम्पन्न हो जाता है, जिसे कम्प कहा जाता है। जैसे—व्य१र्थिनः।

३.११.४. स्वराङ्कन पद्धति

ऋग्वेद संहिता में अनुदात्त स्वर को स्वरवर्ण के नीचे पड़ी रेखा (–) द्वारा एवं स्वरित स्वर को स्वरवर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) द्वारा अङ्कित किया गया है। उदाहरणार्थ– **'वीर्येण'** पद में **'वी'** का ईकार स्वर अनुदात्त है तथा 'ण' का अकार स्वर स्वरित है; उदात्त एवं प्रचय दोनों ही अनङ्कित होते हैं। पद-पाठ में जब अनङ्कित स्वर के ठीक पूर्व अनुदाताङ्कित स्वर हो अथवा वह अनङ्कित स्वर किसी पद के आदि में अवस्थित हो तो ऐसा स्वर उदात्त होता है। इसी प्रकार एक ही पद में जिस अनङ्कित स्वर के पूर्व निश्चित रूप से स्वरिताङ्कित स्वर हो वह प्रचय कहलाता है। प्रचय स्वर लगातार एक से अधिक भी होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल प्रथम प्रचय स्वर के पूर्व ही स्वरित की स्थिति होती है, शेष के पूर्व प्रचय ही होते हैं।

जैसे— 'संमवर्तत' पद में 'स' का अकार स्वरित है एवं उसके बाद आने वाले चार अकार स्वर प्रचय हैं।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद संहिता में जब स्वतंत्र स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त स्वर आ जाय तो वह 'कम्प' कहलाता है तथा उसको **१** या **३** चिह्न से अङ्कित करते हैं। स्वतंत्र स्वरित परं ह्रस्व स्वर होने पर **१** तथा दीर्घ स्वर होने पर **३** चिह्न लगा होता है। जब स्वरित स्वर ह्रस्व होता है तब वह अचिह्नित ही रहता है। जैसे– व्यर्थिनः = व्य **१** र्थिनः। तथा जब स्वरित स्वर दीर्घ होता है, तब वह अनुदात्त स्वर से चिह्नित होता है। ऋ० प्रा० पर उव्वट–भाष्य के अनुसार ह्रस्व स्वरित में आधी मात्रा उदात्त एवं आधी मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् स्वरित स्वर के दो बराबर भागों में एक भाग उदात्त और अवशिष्ट एक भाग अनुदात्त होता है, अतः कम्प को ह्रस्वस्वर पर होने पर **१'** से चिह्नित करते हैं। इसी प्रकार दीर्घस्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् ४ बराबर भागों में १ भाग उदात्त तथा ३ भाग अनुदात्त होता है। अतः कम्प दीर्घ स्वर पर होने पर उसे ३ से चिह्नित किया जाता है।

(१) यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता में स्वराङ्कन पद्धति निम्नलिखित अपवादों को छोड़कर ऋग्वेद संहिता के समान ही है।

(i) अनुदात्त स्वर के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित होने पर उसके (स्वरित के) नीचे ( ) चिह्न पाया जाता हैं।

(ii) स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद उदात्त स्वर आने पर उसके (स्वरित के) नीचे (w) चिह्न प्राप्त होता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः– **'यातु- धा न्योऽधराची'; नस्तत्वा शन्तमवा ॥**

(२) शतपथब्राह्मण की स्वराङ्कन पद्धति ऋ०सं० से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ पर उदात्त के नीचे पड़ी रेखा मिलती है तथा अनुदात्त और स्वरित अचिह्नित होते हैं।

(३) तैत्तिरीय संहिता, उसके ब्राह्मण और आरण्यक स्वरांकन में ऋग्वेद संहिता से पूर्णतः समानता रखते हैं, परन्तु स्वरित के बाद उदात्त आने पर होने वाला 'कम्प' स्वर यहाँ नहीं प्राप्त होता हैं।

(४) अथर्ववेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति पूर्णतः ऋग्वेद सं० की स्वराङ्कन पद्धति जैसी ही है। केवल स्वतंत्र स्वरित को (√) चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जब इसके पश्चात् कोई अनुदात्त स्वर आता है। जैसे– **दिवी √व चक्षुराततम्; हिरण्यपाणिसु क्रतुः कु** पात् √स्व।

(५) सामवेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति ऋग्वेदसंहिता की स्वरांकन पद्धति से पूर्णतः भिन्न है। इसमें स्वरों के ऊपर अङ्कों को निम्नलिखित रूप में दर्शाया गया है—

(i) उदात्त– इसे १ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य³जा¹य²जा (जा¹)।

(ii) अनुदात्त– इसे ३ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य³जा¹य²जा (य³)।

(iii) स्वरित– इसे २ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य³जा¹य²जा (य²)।

(iv) प्रचय– अचिह्नित, जैसे– (जा)।

ऊपर दिये गये सामान्य नियमों के कतिपय अपवाद नीचे दिये जा रहे हैं—

(i) जब उदात्त के ठीक बाद कोई अनुदात्त स्वर हो तो उदात्त को '२' से अंकित किया जाता है।

(ii) जब एक या अनेक उदात्त स्वर पादान्त में आते हैं, तब प्रथम उदात्त '२' से अंकित होता है, शेष अचिह्नित ही रहते हैं।

(iii) यदि किसी पद में लगातार दो उदात्त स्वर हो तथा उसके ठीक बाद में एक अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम उदात्त को '२उ) से अङ्कित करते हैं तथा द्वितीय उदात्त को अचिह्नित ही छोड़ देते हैं,

उदाहरणार्थ– त्वमित्सप्रथा में (त्व)।

(iv) जब एक उदात्त स्वर के बाद दूसरा उदात्त स्वर आता है तब प्रथम उदात्त को '१र) से प्रदर्शित करते हैं तथा द्वितीय को अनङ्कित छोड़ देते हैं तथा इसके बाद आने वाले स्वरित को '२र) से अङ्कित करते हैं। जैसे– मित्रं न शꣳ शिषम्।

(v) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त न हो, उसे '२र' से अङ्कित किया जाता है तथा स्वतन्त्रस्वरित के पूर्वस्थित अनुदात्त '३क' से

अङ्कित होता है। जैसे– अभ्येति रैभन्।

(vi) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त स्वर आता है उसे '२' से अङ्कित करते हैं, तथा वह प्लुत रूप में उच्चरित होता है, जैसे–

दूत्या ¹²चरन्।

(vii) जब किसी पद में दो उदात्त स्वरों के मध्य स्वतन्त्र स्वरित आता है तब उसे अनङ्कित ही छोड़ देते हैं। जैसे– विद्धी त्वा३स्य (त्वा३)।

(viii) जब दो या दो से अधिक अनुदात्त स्वर लगातार आवें तथा उनके बाद एक उदात्त स्वर आवे तो प्रथम अनुदात्त को '३' से अङ्कित करते हैं एवं शेष अनुदात्तों को अचिह्नित छोड़ देते हैं। ज³नि- ताग्ने (³जनिता)।

३.१२ सम्बन्धित प्रश्न

(१) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए-

(क) यम

(ख) स्वरभक्ति

(ग) प्रश्लिष्ट-सन्धि

(घ) क्षैप्र-सन्धि

(ङ) अभिनिहित-सन्धि

(च) वंशगम-सन्धि

(छ) उपाचरित-सन्धि

(२) तुमर्थक प्रत्ययों का विवेचन कीजिए?
(३) वैदिक स्वरों का परिचय दीजिए?
(४) स्वरितस्वर के भेदों का निरूपण कीजिए?
(५) निम्नलिखित सभी प्रश्नों के उत्तर दीजिए-
(क) एकार का उच्चारणस्थांन बताइये?
(ख) समानाक्षर ध्वनियाँ कौन-कौन-सी हैं?
(ग) दन्तमूलीय वर्ण कौन-कौन हैं?
(घ) प्लुतवर्णों के उच्चारण में कितना समय लगता है?

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

MAST -101
वैदिक वाङ्मय

खण्ड
1
वैदिक सूक्त (भाग - 2)

इकाई- 4
इन्द्र 4.1, सवितृ 4.2, मरूत् 4.3 57

इकाई- 5
अश्विन्, विश्वमित्रनदी संवाद 5.1, अग्नि 5.2, अक्ष 5.3 93

इकाई- 6
अर्थर्ववेदीय सूक्तः राष्ट्राभिवर्धन 6.1, पृथिवीसूक्त 6.2 (1.10 मन्त्र मात्र) 150

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

प्रो. यू. पी. सिंह	प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नही है।

प्रकाशक- उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार , कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष - 2023.

मुद्रक - के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी , मथुरा - 281003.

खण्ड-एक वैदिक सूक्त

प्रथम खण्ड के दो भाग हैं। इनमें छह इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में ऋग्वेद का सामान्य परिचय, द्वितीय इकाई में देवताओं का सामान्य परिचय तथा तृतीय इकाई में वैदिक व्याकरण का विवेचन है। चतुर्थ इकाई में इन्द्र, सवितृ तथा मरुत सूक्त का वर्णन किया गया है। पञ्चम इकाई में विश्वामित्र नदी संवाद, अग्नि सूक्त तथा अक्ष सूक्तों की व्याख्या की गई हैं। इकाई छह में अथर्ववेदीय सूक्त राष्ट्राभिवर्धनम् तथा पृथिवी सूक्त का वर्णन है।

इकाई -४ इन्द्र, सवितृ तथा मरुत सूक्त

इकाई की रूपरेखा

४.० उद्देश्य

४.१ इन्द्रसूक्त

४.२ सवितृसूक्त

४.३ मरूत्सूक्त

४.० उद्देश्य

इस यूनिट में निम्नलिखित सूक्तों के मन्त्रों की व्याख्या से परिचित कराया जायेगा।

४.१ इन्द्रसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद **मण्डल संख्या-१** **सूक्त संख्या-३२**

ऋषि-हिरण्यस्तूप देवता-इन्द्र **छन्द-त्रिष्टुप्**

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं

यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द

प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥१॥

पदपाठ— इन्द्रस्य । नु । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यानि । चकार । प्रथ-मानि । वज्री ॥ अहन् । अहिम् । अनु । अपः । ततर्द । प्र । वक्षणाः । अभि-नत् । पर्वतानाम् ॥

सा०भा०— वज्री वज्रयुक्तः इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार तस्य इन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । कानि वीर्याणीति तदुच्यते । अहिं मेघम् अहन् हतवान् । तदेतदेकं वीर्यम् । अनु पश्चात् अपः जलानि ततर्द हिंसितवान् भूमौ पातितवानित्यर्थः । इदं द्वितीयं वीर्यम् । पर्वतानां संबन्धिनीः वक्षणाः प्रवहणशीलाः नदीः प्र अभिनत् भिन्नवान् कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः । इदं तृतीयं वीर्यम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ वीर्याणि । 'शूरवीर विक्रान्तौ' । ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति यत् । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं न भवति । आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहौ 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' इत्यनेनैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् 'वीर-वीर्यौ च' इति पुनस्तद्विधानमनर्थकं स्यात् । अतोऽवगम्यते 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं वीरशब्दे न प्रवर्तते इति । अतः परिशेषात् 'तित्स्वरितम्' इति प्रत्ययस्य स्वरित-त्वमेव । वोचम् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेः अङादेशः । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः । चकार । णलि लित्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । यद्वृत्तयोगादनिघातः । अहन् । लङि 'इतश्च' इति इकारलोप 'हल्ङ्याब्भ्यः०' इति तकारलोपः । अहिम् । आङ्पूर्वात् हन्तेः 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' (उ०सू० ४.५७७) इति इप्रत्ययः, आङो ह्रस्वत्वं च । चशब्देन 'वेञो डित् समाने ख्यश्चोदात्तः' इत डित्वं पूर्वपदोदात्तत्वं चानुकृष्यते । ततः टिलोपे पूर्वपदस्योदात्तत्वम् । ततर्द । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । वक्षणाः । 'वक्ष रोषे' । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' (पा०सू० ३.२.१५१) इति युच् । चित्स्वरं

बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः ।।

अन्वय— नु इन्द्रस्य वीर्याणि प्रवोचम् यानि वज्री प्रथमानि चकार । अहिम् अहन्, अनु अपः ततर्द । पर्वतानां वक्षणा अभिनत् ।

पदार्थ— नु = अभी, अब, शीघ्र । इन्द्रस्य = इन्द्र के । वीर्याणि = पराक्रम युक्त कार्यों को । प्रवोचम् = प्रकृष्ट रूप से कहता हूँ, उच्च स्वर से कहूँगा । यानि = जिन को । वज्र = वज्रधारी, वज्र को धारण करने वाले (इन्द्र) ने । प्रथमानि = सबसे पहले । चकार = किया था । अहिम् = मेघ को । अहन् = मारा । अपः = जलों को । ततर्द = हिंसित किया, काटा, बरसाया । वक्षणाः = प्रवहणशील नदियाँ । पर्वतानाम् = प्रर्वतों के । प्र अभिनत् = तोड़ा, काटकर प्रवाहित किया ।

अनुवाद— अब मैं इन्द्र के पराक्रम युक्त कार्यों का वर्णन करूँगा जिनको वज्रधारी (इन्द्र) ने सबसे पहले किया था । उसने अहि (मेघ) को मारा, (उसके पश्चात्) जलों को हिंसित किया (बरसाया) तथा पर्वतों के बीच नदियों को काटकर प्रवाहित किया ।

व्याकरण—

१. वीर्याणि – √वीर + यत् = वीर्य । प्रथमा विभक्ति बहुवचन ।
२. वोचम् – √वच् (बोलना), लुङ्मूलक लेट् उत्तमपुरुष एकवचन ।
३. अहन् – √हन् (मारना), लङ्लकार प्रथमपुरुष एकवचन ।
४. चकार – √कृ (करना), लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन ।
५. ततर्द – √तृद्– (चीरना, फाड़ना), लिट्लकार, प्रथमपुरुष एकवचन ।
६. अभिनत् – √भिद्– (भेदना, चीरना), लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

विशेष—

१. इस मन्त्र में पृथिवी पर जल बरसने की प्रक्रिया कही गयी है । इन्द्र मेघ पर वज्र का प्रहार करता है, इसके बाद जल बरसता है ।
२. पर्वतों पर जल बरसने से चट्टानों के टूटने पर नदियों के बहने के मार्ग बनते हैं तथा नदियाँ बहती हैं ।
३. मेघों में विद्युत् के चमकने के लिए इन्द्र के वज्र-प्रहार की कल्पना की गयी है ।

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं
त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ।
वा॒श्राइ॑व धे॒नव॒ः स्यन्द॑माना॒
अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒राप॑ः ।।२।।

पदपाठ— अह॑न् । अहि॑म् । पर्व॑ते । शि॒श्रि॒या॒णम् । त्वष्टा॑ । अ॒स्मै॒ । वज्र॑म् । स्व॒र्य॑म् । त॒त॒क्ष॒ ।। वा॒श्राःऽइ॑व । धे॒नव॑ः । स्यन्द॑मानाः । अञ्ज॑ः । स॒मु॒द्रम् । अव॑ । ज॒ग्मु॒ः । आप॑ः ।।

सा० भा० — पर्वते शिश्रियाणम् आश्रितम् अहिं मेघम् अहन् हतवान् । अस्मै इन्द्राय स्वर्यं सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रं ततक्ष तनूकृत-वान् । तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ताः आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यक् अव अग्मुः प्राप्ताः । तत्र दृष्टान्तः । वाश्राः वत्सान्प्रति हम्भारवोपेताः धेनवः इव । यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत् ।। शिश्रियाणम् । 'श्रिञ् सेवायाम्' । लिटः कानच् । द्विर्भावहलादिशेषयङादेशाः । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । स्वर्यम् । 'ऋ गतौ' । अस्मात् सुपूर्वात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् । 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति वृद्ध्य-भावः । यद्वा । 'स्वृ शब्दोपतापयोः' इत्यस्मात् ण्यति पूर्ववत् वृद्ध्यभावः । 'तित्स्व-रितम्' इति स्वरितत्वम् । वाश्यन्ते इति वाश्राः । 'वाशृ शब्दे' । 'स्फायितञ्चि०' इत्यादिना रक् । जग्मुः । उसि 'गमहन०' इति उपधालोपः ।।

अन्वय— (इन्द्रः) पर्वते शिश्रियाणम् अहिम् अहन् । त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष । वाश्राः धेनव

इव स्यन्दमाना आप अञ्जः समुद्रम् अव जग्मुः ।

पदार्थ— (इन्द्रः = इन्द्र ने) पर्वते = पर्वत पर । शिश्रियाणम् = आश्रय लेने वाले, निवास करने वाले । अहिम् = मेघ को, बादल को । अहन् = मारा । त्वष्टा = त्वष्टा, विश्वकर्मा, परमात्मा । अस्मै = इस (इन्द्र) के लिए । स्वर्यम् = शब्द करने वाले, गरजने वाले । वज्रम् = वज्र को । ततक्ष = बनाया, निर्माण किया । वाश्राः = रंभाती हुई । धेनवः = गायें । इव = समान । स्यन्दमानाः = बहता हुआ । आपः = जल । अञ्जः = सीधे, तेजी से । समुद्रम् = समुद्र की ओर । अव = नीचे । जग्मुः = जाने लगा ।

अनुवाद— (इन्द्र ने) पर्वत पर आश्रय लेने वाले अहि (मेघ) को मारा, त्वष्टा (विश्वकर्मा, परमात्मा) ने इसके (इन्द्र) लिए गरजने वाले वज्र को बनाया (निर्माण किया), रँभाती हुई (बछड़े की तरफ तेजी से जाने वाली) गायों के समान बहता हुआ जल तेजी से नीचे समुद्र की ओर जाने लगा ।

व्याकरण—

१. शिश्रियाणम् – श्रि + लिट् के अर्थ में कानच्, इयङ् आदेश तथा न को ण होकर = शिश्रियाण द्वितीया विभक्ति, एकवचन ।

२. स्वर्यम् – सु + √ऋ + ण्यत् = स्वर्यम् । अथवा √स्वृ (शब्दोपनापयोः) + ण्यत् ।

३. ततक्ष – √तक्ष् (गढ़ना, बनाना), लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. वाश्राः – √वाशृ (शब्दे) धातु से रक् प्रत्यय ।

५. स्यन्दमानाः – √स्यन्द् (बहना) + शानच्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन ।

६. जग्मुः – √गम् (जाना), लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

विशेष—

१. 'तक्ष' धातु का अर्थ होता है किसी वस्तु को छीलकर गढ़कर बनाना । इसी से तक्षन् शब्द बना है जिसका अर्थ है– बढ़ई ।

२. मेघ पर्वतों पर पहुँचते हैं तथा वहाँ बरसते हैं । यहाँ से जल नदियों में बहते हुए तेजी से समुद्र में पहुँचते हैं ।

३. विश्व की रचना करने वाले परमात्मा को त्वष्टा कहा गया है ।

४. स्वर्यम्' पद का अर्थ सायण ने दो प्रकार से किया है । सु + ऋ + ण्यत् । इस प्रकार 'ऋ गतौ' धातु से व्युत्पत्ति करने पर इसका अर्थ होगा– उत्तम गतिशील । अथवा स्वृ + ण्यत् । स्वृ शब्दोपनापयोः से इसका अर्थ होगा— गरजने वाला अथवा शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने वाला ।

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं
त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्र-
महन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥

पदपाठ— **वृषऽयमाणः । अवृणीत । सोमम् । त्रिऽकद्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य ॥ आ । सायकम् । मघऽवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ॥**

सा० भा०— वृषायमाणः वृष इवाचरन् सोमम् अवृणीत वृतवान् । त्रिकद्रुकेषु ज्योतिः गौः आयुः इत्येतन्नामकाः त्रयो यागाः त्रिकद्रुकाः उच्यन्ते । तेषु सुतस्य अभि-षुतस्य सोमस्यांशम् अपिबत् पीतवान्। माधवा धनवान् इन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रम् आ अदत्त स्वीकृतवान् । तेन च वज्रेण अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघं अहन् हतवान् ॥ वृषायमाणः । वृष इवाचरन् । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३.१.११) इति क्यङ् । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । अदुपदेशात् धातोः अन्तोदात्तत्वे क्यङन्तात् धातोः अन्तोदात्तत्वम् । सायकम् । 'षिञ् बन्धने' । सिनोतीति सायकः । ण्वुल्। लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । प्रथमजाम् । प्रथमं जायते इति प्रथमजाः । 'जनसन-खनक्रमगमो विट्' । 'विड्वनोः' इति आत्वम् ॥

अन्वय— वृषायमाणः सोमम् अवृणीत । त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत् । मघवा सायकं वज्रम् आ अदत्त, अहीनां प्रथमजाम् एनम् अहन् ।

पदार्थ— वृषायमाणः = शक्तिशाली साँड़ के समान आचरण करते हुए । सोमम् = सोम को । अवृणीत = वरण किया, चुना । त्रिकद्रुकेषु = (ज्योतिः गौ और आयु नामक तीन यज्ञों में । सुतस्य = पीसे हुए का, अभिषव किये गये का । अपिबत् = पान किया, पीया । मघवा = धनवान्, उदार, दानी । सायकम् = बाँधने वाले, शस्त्र । वज्रम् = वज्र को । आ अदत्त = धारण किया, ग्रहण किया । अहीनाम् = राक्षसों में, बादलों में । प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न । एनम् = इसको (मेघ को) । अहन् = मारा ।

अनुवाद— शक्तिशाली साँड़ के समान आचरण करते हुए (इन्द्र) ने (अपने आहार के लिए) सोम को (अपना प्रिय पान) वरण किया (चुना), उसने (ज्योति गौ और आयु नामक) तीन यागों में पीसे हुए (अभिषव किये गये सोम) का पान किया । उदार (इन्द्र) ने शस्त्र तथा वज्र को ग्रहण किया; (और उससे) राक्षसों में प्रथम उत्पन्न इसको (मेघ को) मारा ।

व्याकरण—

१. वृषायमाणः – वृष इव आचरन् क्यङ् प्रत्यय । वृष + य, दीर्घ + शानच् प्रत्यय, मुक् आगम एवं न को ण आदेश वृषायमाण, प्रथमा विभक्ति, एकवचन ।

२. सायकम् – √षिञ् (बन्धने) + ण्वुल्, अक आदेश इ को ऐ वृद्धि एवं ऐ को आय् = सायकम् ।

३. मघवा – मघ + वतुप् = मघवत् , प्रथमा विभक्ति, एकवचन ।

विशेष—

१. त्रिकद्रुक का अर्थ सायण ने किया है– ज्योतिः, गौ और आयुः नाम के तीन यज्ञ । इन यज्ञों में सोम का अभिषव किया गया, जिसका इन्द्र ने पान किया । ग्रासमान और पीटर्सन इस शब्द का अर्थ तीन प्याले करते हैं । इन्द्र ने तीन प्यालों में सोम पीया । गोल्डर के अनुसार त्रिकद्रुक किसी स्थान विशेष का नाम है । पीटर्सन के अनुसार 'सायक' पद का अर्थ है फेंक कर प्रहार करने वाला अस्त्र ।

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीना-
मान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।
आत्सूर्यं जनयन्द्यामुषासं
तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥४॥

पदपाठ— **यत् । इन्द्र । अहन् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् । आत् । मायिनाम् । अमिनाः । प्र । उत । मायाः ॥ आत् । सूर्यम् । जनयन् । द्याम् । उषसम् । तादीत्ना । शत्रुम् । न । किल । विवित्से ॥**

सा० भा०— उत अपि च हे इन्द्र यत् यदा अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन हतवानसि आत् तदनन्तरं मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्ब-न्धिनीः मायाः प्र अमिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि । अनन्तरं सूर्यम् उषसम् उषकालं द्याम् आकाशं च जनयन् उत्पादयन् आवरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्तसे । तादीत्ना तदानीम् आवश्यकान्धकाराभावात् शत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल त्वं न लब्धवांन खलु ।। अहन् । हन्तेः लङि 'हल्ङ्याब्भ्यः०' इति सिलोपः । अडागम उदात्तः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । मायिनाम् । मायाशब्दस्य व्रीह्यादिषु पाठात् 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (पा०सू० ५.२.११६) इति मत्वर्थीय इनिः । अमिनाः । 'मीञ् हिंसायाम्' । क्रैयादिकः । मीनाते-र्निगमे' (पा०सू० ७.३.८१) इति ह्रस्वत्वम् । तादीत्ना । तदानीम् इत्यस्य पृषोदरा-दित्वात् वर्णविपर्ययः । किल । 'निपातस्य०' इति दीर्घत्वम् । विवित्से । 'विद्लृ लाभे' । क्रादिनियमात् प्राप्तः इट् व्यत्ययेन न भवति ।।

अन्वय— उत इन्द्र ! यत् अहीनां प्रथमजाम् अहन्, आत् मायिनां माया: प्र अमिना:, आत् सूर्य उषसं द्यां जनयन् तादीत्ना किल शत्रुं न विवित्से ।

पदार्थ— उत = और भी । इन्द्र = हे इन्द्र । यत् = जब, जिस समय । अहीनाम् = राक्षसों में, मेघों में । प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न को, पहले उत्पन्न हुए को । अहन् = मारा । आत् = तदनन्तर । मायिनाम् = कपटी असुरों के, धूर्तों की, मायावियों की । माया: = धूर्तता को, माया को, कपटों को । प्र = विशेष रूप से । अमिना: = नष्ट किया । सूर्यम् = सूर्य को । उषसम् = उषा को । द्याम् = द्युलोक को आकाश को । जनयन् = उत्पन्न करते हुए । तादीत्ना = तब, उस समय । किल = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात । शत्रुम् = शत्रु को । न = नहीं । विवित्से = पाया ।

अनुवाद— और भी, हे इन्द्र ! जिस समय (तुमने) राक्षसों (मेघों) में प्रथम उत्पन्न (राक्षस या मेघ) को मारा, तदनन्तर कपटी असुरों के कपटों को अच्छी प्रकार से नष्ट कर दिया, तदनन्तर सूर्य को, उषा को और आकाश को उत्पन्न किया (अर्थात् आवृत करने वाले मेघ का निवारण करके इनको प्रकट किया) तब (तुमने) निश्चित रूप से किसी शत्रु को नहीं पाया ।

व्याकरण—

१. मायिनाम् – माया शब्द से वतुप् के अर्थ में इनि प्रत्यय = मायिन् षष्ठी विभक्ति बहुवचन ।

२. अहन् – √हन् (मारना), लिट्, मध्यमपुरुष एकवचन ।

३. अमिना: – √मी (नष्ट करना), लङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।

४. जनयन् – √जन् (उत्पन्न करना) + शतृ, प्रथमा एकवचन ।

५. विवित्से – √विद् (पाना), आत्मनेपद लिट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

विशेष—

१. पीटर्सन के अनुसार 'तादीत्ना' पद तदीत्न से बना है । यहाँ वौदिक दीर्घ हुआ है । उसकी व्याख्या के अनुसार 'किल उषसम्' का 'किला उषासम्' दीर्घ हुआ ।

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंस-
मिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा-
हिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥५॥

पदपाठ— अहन् । वृत्रम् । वृत्रऽतरम् । विऽअंसम् । इन्द्रः । वज्रेण । महता । वधेन ॥ स्कन्धांसिऽइव । कुलिशेन । विऽवृक्णा । अहिः । शयते । उपऽपृक् । पृथिव्याः ॥

सा०भा०— अयम् इन्द्रः वज्रेण सम्पादितो यो महान् वज्रः तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानाम् आवरतम् अन्धकाररूपम् । यद्वा । वृत्रैः आवरणैः सर्वान् शत्रून् तरति तं वृत्रम् एतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतासं छिन्नबाहुः यथा भवति तथा अहन् हतवान् । अंसच्छेदे दृष्टान्तः । कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धां-सीव । यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत् । तथा सति अहिः वृत्रः पृथिव्याः उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तः शयते शयनं करोति छिन्नकाष्ठवत् भूमौ पततीत्यर्थः ॥ वृत्रतरम् । 'वृतु वर्तने' 'स्फायितश्चि०' इत्यादिना भावे रक्प्रत्ययान्तो वृत्रशब्दः । वृत्रेण आवरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः । तरतेः पचाद्यच् । 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्त-रपदाद्युदात्तत्वम् । तरपि तु व्यत्ययेन व्यंसम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'उदात्तस्यरियोर्यणः०' इति स्वरितत्वम् । वधेन । 'हनश्च वधः' इति भावे अप; तत्संनि-योगेन धातोः वधादेशः । स च अन्तोदात्तः । अन्त्यस्य अकारस्य 'अतो लोपः' इति लोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्रत्ययस्योदात्तत्वम् । विवृक्णा । 'ओव्रश्चू छेदने' । कर्मणि निष्ठा । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । 'ओदितश्च' (पा०सू० ८.२.४५) इति परत्वात् निष्ठानत्वम् । ततो 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति षत्वे प्राप्ते 'निष्ठादेशः षत्व-स्वरप्रत्ययेड्-विधिषु सिद्धौ वक्तव्यः' (पा०सू० ८.२.६.७) इति नत्वस्य सिद्धत्वेन

झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति । कुत्वे तु कर्तव्ये तदसिद्धमेव (पा०सू० ८.२.१) इति 'चोः कुः' इति कुत्वम् । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वर- त्वम् । शयते । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः । पृथिव्याः । 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

अन्वय— इन्द्रः महता वधेन वज्रेण वृत्रं अहन् वृत्रतरं व्यंसं (अहन्) । कुलिशेन स्कन्धांसि विवृक्णा इव अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते ।

पदार्थ— महता = महान् । वधेन = शस्त्र से । वज्रेण = वज्र से । वृत्रम् = वृत्र को । अहन् = मारा । वृत्रतरम् = वृत्र से बड़ा, अथवा लोकों को अत्यधिक आवृत करने वाले अन्धकार रूप । व्यंसम् = कन्धों से रहित, व्यंस नामक असुर को । कुलिशेन = कुठार से । स्कन्धांसि = वृक्ष की शाखाएँ । विवृक्णा = काटकर गिराये गए । इव = तरह, जिस प्रकार । अहिः = मेघ को, राक्षस के रूप में मानवीकृत नाम । पृथिव्याः = पृथिवी के । उपपृक् = समीप, गोद में । शयते = सो रहा है ।

अनुवाद— इन्द्र ने (अपने) महान् शस्त्र वज्र से वृत्र को मारा, वृत्र से बड़े शत्रु व्यंस को (मारा) । कुठार से काटकर गिराये गए वृक्ष की शाखाओं की तरह (वह) राक्षस पृथिवी की गोद में सो रहा है ।

व्याकरण—

१. वृत्रतरम् – अतिशयते वृत्रम् = वृत्रतरम् । तरप् प्रत्यय । ***अथवा*** वृत्रैः तरति इति वृत्रतरम् = वृत्र + त् + अच् = वृत्रतर, द्वितीय विभक्ति, एकवचन ।

२. व्यंसम् – विगतौ अंसौ यस्य तम् (बहुव्रीहि) ।

३. वधेन – वधः येन तेन । हन् + अप्, हन् को वध आदेश ।

४. विवृक्णा – वि + √व्रश्च् + क्त प्रत्यय = निष्ठा के त को न आदेश, च् को क् आदेश एवं श का लोप होकर विवृक्ण । नपुंसक लिङ्ग प्रथमा विभक्ति बहुवचन वैदिकरूप ।

विशेष—

१. शयते – √शी (सोना), आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. उपपृक् – √उप + पृच् + क्विप् ।

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे
महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां
सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥६॥

पदपाठ— अयोद्धाऽइव । दुःऽमदः । आ । हि । जुह्वे । महाऽवीरम् । तुविऽबाधम् । ऋजीषम् ॥ न । अतारीत् । अस्य । सम्ऽऋतिम् । वधानाम् । सम् । रुजानाः । पिपिषे । इन्द्रऽशत्रुः ॥

सा०भा०— दुर्मदः दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः अयोद्धेव योद्धृरहित इव इन्द्रम् आ जुह्वे हि आहूतवान् खलु । कीदृशमिन्द्रम् । महावीरं गुणैः महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहुनां बाधकं ऋजीषं शत्रूणामपार्जकम् । अस्य ईदृशस्य इन्द्रस्य संबन्धिनी ये शत्रुवधाः सन्ति तेषां वधानां समृतिं संगमं नातारीत् पूर्वोक्तो दुर्मदः तरीतुं नाशक्नोत् । इन्द्रशत्रुः इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्रः इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजानाः नदीः सं पिपिषे सम्यक् पिष्टवान् । सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीनां कूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः ॥ अयोद्धा इव । न विद्यते योद्धास्येति बहुव्रीहौ 'नञ्युभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । समासान्तविधेरनित्वात् । (परिभा० ८४) नद्यृतश्च' (पा०सू० ५.४.१५३) इति कवभावः । जुह्वे । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' । 'अभ्यस्तस्य च' (पा०सू० ६.१.३३) इति संप्रसारणम् । उवङादेशाभाव-श्छान्दसः । यद्वा । 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' (पा०सू०

६.४.८७) इति यणादेशः। अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा (परिभा० १०५) लक्ष्यानुरोधान्नाश्रीयते। इतरथा हि आजुह्वानः इत्यादिषु यणादेशो न स्यात्। न चैवं सति 'सातये हुवे वाम्' (ऋ०सं० ६.६०.१३) इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यं अनेकाच्त्वाभावात्। अनेकाच इति हि तत्रानुवर्तते। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। 'हि च' इति निघातप्रतिषेधः। महावीरम्। महांश्चासौ वीरश्च महावीरः। 'आन्महतः०' (पा०सू० ६.३.४६) इति आत्वम्। तुविबाधम्। 'बाधृ विलोडने'। तुवीन् प्रभूतान् बाधते इति तुविबाधः। पचाद्यच्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। समृतिम्। 'तादौ च०' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। रुजानाः। 'रुजो भङ्गे'। रुजन्ति कूलानीति रुजाना नद्यः। 'रुजानां नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि' (निरु० ६.४) इति यास्कः। व्यत्ययेन शानच्। 'तुदादिभ्यः शः'। नुमभावश्छान्दसः। अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वर। पिपिषे। 'पिष्लृ संचूर्णने। व्यत्ययेन लिट्। इन्द्रशत्रुः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

अन्वय— दुर्मदः महावीरं तुविबाधम् ऋजीषम् अयोद्धा इव हि आ जुह्वे। अस्य बधानां समृतिं न अतारीत्। इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे।

पदार्थ— दुर्मदः = मिथ्या अभिमान करने वाला, दर्पयुक्त। महावीरम् = महान् शक्तिशाली को, महान् गुणों से युक्त वीर को। तुविबाधम् = बहुतों का अभिभूत करने वाले। ऋजीषम् = शत्रुओं को भगाने वाले, अन्तिम अवशिष्ट बूँद तक सोमपान करने वाले। अयोद्धा इव = युद्ध न करने वाले (व्यक्ति) के समान, असमर्थ योद्धा के समान। आ जुह्वे = ललकारा। अस्य = उस इन्द्र के। बधानाम् = शस्त्रों के प्रहार को। समृतिम् = संगति को, संगम को। न = नहीं। अतारीत् = पार पा सका। इन्द्रशत्रुः = इन्द्र है जिसको सताने वाला अर्थात् वृत्र ने, इन्द्र द्वारा मारे गये व्यक्ति ने। रुजानाः = नदियों की। सं पिपिषे = पीस डाला, कुचल डाला।

अनुवाद— मिथ्या अभिमान करने वाले वृत्र ने महान् गुणों से युक्त, वीर, बहुतों को मारने वाले और शत्रुओं को भगाने वाले (इन्द्र) को युद्ध न करने वाले (व्यक्ति) के समान निश्चय से ललकारा। (परन्तु वह) उस (इन्द्र) के शस्त्रों के संगति को न पार पा सका और इन्द्र द्वारा मारे गये (वृत्र ने) नदियों को भी पीस डाला।

व्याकरण—

१. अयोद्धा – न + योद्धा (अयोद्धा), नञ्तत्पुरुषसमास। **अथवा** न विद्यते योद्धा अस्य सः अयोद्धा (बहुव्रीहि समास)।

२. दुर्मदः – दुष्टः मदः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)।

३. तुविबाधम् – तुवीन् बाधते इति तम्। तुवि + बाध् + अच् = तुविबाध।

४. समृतिम् – सम् +√ऋ + क्तिन्।

५. रुजानाः – √रुज् + शानच् = रुजान। रुजानि कूलानि इति रुजानाः नद्यः।

६. पिपिषे – √पिष् (पीसना), लिट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

७. अतारीत् – √तृ (पार करना), लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

८. इन्द्रशत्रुः – इन्द्रः शत्रुः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)।

विशेष—

१. ऋजीषम् – पीटर्सन के अनुसार तलछल तक सोमपान करने वाले।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र-
मास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूष-
न्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः॥७॥

पदपाठ— **अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ।**

जघान ॥ वृष्णः । वध्रिः । प्रतिऽमानम् । बुभूषन् । पुरुऽत्रा । वृत्रः । अशयत् । विऽअस्तः ॥

सा०भा०— अपात् वज्रेण च्छिन्नत्वात् पादरहितः अहस्तः हस्तरहितः वृत्रः इन्द्रम् उद्दिश्य अपृतन्यत् पृतनां युद्धम् ऐच्छत् । द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः । अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रम् आ जघान इन्द्रः आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान् । अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः । वध्रिः छिन्नमुष्कः पुरुषः वृष्णः रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति तद्वदयमिति शेषः । सः वृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तः विविधं क्षिप्तः ताडितः सन् अशयत् भूमौ पतितवान् ॥ अपात् । बहुव्रीहौ पादशब्दस्य अन्त्यलोपश्छान्दसः । अहस्तः । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्यु-त्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अपृतन्यत् । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'कव्यध्वरपृतनस्य०' इति अन्त्यलोपः । बुभूषन् । 'सनि ग्रहगुहोश्च' (पा०सू० ७.२.१२) इति इट्प्रतिषेधः । पुरुत्रा । 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा०सू० ५.४.५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । अशयत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः । व्यस्तः । 'असु क्षेपणे' इत्यस्मात् कर्मणि क्तः । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । संहितायाम् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् ॥

अन्वय— अपात् अहस्तः इन्द्रम् अपृतन्यत् । अस्य सानौ अधि वज्रम् आ जघान । वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन् वध्रिः वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत् ।

पदार्थ— अपात् = पैरों से रहित । अहस्तः = हाथों से रहित । इन्द्रम् = इन्द्र के प्रति । अपृतन्यत् = युद्ध की इच्छा की । अस्य = इस वृत्र के । सानौ = पर्वत शिखर के समान कन्धे पर । अधि = ऊपर । वज्रम् = वज्र को । जघान = प्रहार किया । वृष्णः = साँड, शक्तिशाली । प्रतिमानम् = सादृश्य को, समानता को । बुभूषन् = प्राप्त करना चाहता हुआ, होने की इच्छा करता हुआ । वध्रिः = वधिया किया हुआ, नपुंसक । वृत्रः = वृत्र । पुरुत्रा = अनेक अङ्गों में, कई स्थानों पर । व्यस्तः = क्षतविक्षत होकर, विखरे अंग वाला होकर । अशयत् = गिर गया, सो गया, पड़ गया ।

अनुवाद— (वज्र से) पैरों तथा हाथों से रहित हो जाने पर भी वृत्र ने इन्द्र के प्रति युद्ध करने की इच्छा की । (इन्द्र ने) इस वृत्र के पर्वत शिखर के समान (मजबूत) कन्धे पर सामने आकर प्रहार किया । साँड के सादृश्य को प्राप्त करना चाहते हुए बधिया बैल के समान वह वृत्र अनेक अङ्गों में क्षत-विक्षत होकर भूमि पर सो गया (गिर गया) ।

व्याकरण—

१. अपात् – न पादौ यस्य सः (बहुव्रीहि), पाद के अन्तिम वर्ण का छान्दस् लोप ।

२. अहस्तः – न हस्तौ यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

३. अपृतन्यत् – पृतना + क्यच् = पृतन्य = √पृतन्य, युद्ध की इच्छा करना, लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. प्रतिमानम् – प्रति + √मा + (अन) = प्रतिमान ।

५. बुभूषन् – भवितुम् इच्छति अर्थ में सन् प्रत्यय = बुभूष + सन् । प्रथमा विभक्ति, एकवचन ।

६. पुरुत्रा – √पुरु (बहुत), अर्थ में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में त्रा प्रत्यय ।

७. अशयत् – √शी (सोना), लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

८. जघान – √हन् (मारना), लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

विशेष—

१. पीटर्सन ने अपृतन्यत् का अर्थ किया है– युद्ध । उसके अनुसार सानौ का अर्थ है On his back अर्थात् उसकी पीठ पर ।

२. इस मन्त्र में वृत्र की उपमा बधिया-बैल से तथा इन्द्र की उपमा साँड से दी गयी है जिस प्रकार बधिया बैल साँड से लड़कर पराजित होता है, उसी प्रकार वृत्र इन्द्र से लड़कर पराजित हुआ ।

नुदं न भिन्नममुया शयानं

मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठ-
त्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥८॥

पदपाठ— **नदम् । न । भिन्नम् । अमुया । शयानम् । मनः । रुहाणाः । अति । यन्ति । आपः ॥ याः । चित् । वृत्रः । महिना । परिऽअतिष्ठत् । तासाम् । अहिः । पत्सुतःऽशीः । बभूव ॥**

सा०भा०— अमुया अमुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रम् आपः जलानि यन्ति अतिक्रम्य गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः । भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव । यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वा अतिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत् । कीदृश्य आपः । मनो रुहाणाः नृणां चित्तमारोहन्त्यः । पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति तदानीं नृणां मनः खिद्यते । मृते तु वृत्रे विरोधरहिता आपो वृत्रशरीरमुल्लङ्घ्य प्रवहन्ति । तदा वृष्टिलाभेन मनुष्यास्तुष्यन्तीत्यर्थः । तदेतदु-त्तरार्धेन स्पष्टीक्रियते । वृत्रः जीवनदशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चित् या एव मेघगताः अपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान्, अहिः वृत्रो मेघः तासाम् अपां पत्सुतःशीः पादस्याधःशयानः बभूव । यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यद्भिर्वृत्रस्य अभिलङ्घितत्वात् पादस्याधः शयनमुपपद्यते ॥ भिन्नम् । 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' (पा०सू० ८.२.४२) इति नत्वम् । अमुया । 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्या याजादेशः । शयानम् । 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (पा०सू० ७.४.४१) । धातोर्ङित्त्वात् । लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातु-स्वरः । रुहाणाः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे' । व्यत्ययेन शानच् । कर्तरि शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः । 'अनित्यमागमशासनम्' इति वचनात् मुगभावः । अदुपदेशात् लसार्व-धातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेन धातुस्वरः । महिना । पूजायाम्' 'इन्सर्व-धातुभ्यः' इति इन्प्रत्ययः । व्यत्ययेन विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा । महिना महिम्ना । महच्छब्दस्य पृथ्वादिषु पाठात् 'तस्य भावः०' इत्येतस्मिन्नर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा०सू० ५.१.१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः । 'टेः' इति टिलोपः । 'चितः' इत्यन्तोदा-त्तत्वम् । तृतीयैकवचने अल्लोपे सति उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्योदात्तत्वम्। मकारलोपश्छान्दसः । पत्सुतःशीः । पादस्याधः शेते इति पत्सुतःशीः । 'क्विप् च' इति क्विप् । तसि 'पद्दन्०' इत्यादिना पादाशब्दस्य पदादेशः । 'शस्प्रभृतिषु' इति प्रभृतिशब्दः प्रकार-वचनः इति शलोदोषणी इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति इत्युक्तत्वात् (का० ६.१.६३) मध्ये सु इति शब्दोपजनश्छान्दसः । यद्वा । पादशब्दस्य सप्तमी बहुवचने पदादेशे कृते 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा०सू० ५.३.१४) इति सप्तम्यर्थे तसिल् । लुगभावश्छान्दसः ॥

अन्वय— मनः रुहाणाः आपः भिन्नं नदं न अमुया शयानं अति यन्ति । वृत्रः महिना याश्चित् पर्यतिष्ठत्, अहिः तासां पत्सुतःशीः बभूव ।

पदार्थ— मनः = मन को । रुहाणाः = प्रसन्न करने वाले, आकर्षित करते हुए । आपः = जल । भिन्नम् = कई भागों में कटे हुए, (टूटे) किनारों वाली । नदम् = नदी (के) । न = समान । अमुया = इस (पृथिवी) पर । शयानम् = सोये हुए, मृत पड़े हुए (वृत्र) को । अति यन्ति = अतिक्रान्त करके जाते हैं, पार करके बह रहा है । वृत्रः = वृत्र । महिना = (अपनी) महिमा से, पराक्रम से । याश्चित् = जो । पर्यतिष्ठत् = रोके हुए था, चारों तरफ से घेरे हुए था । अहिः = मेघ, राक्षस । तासाम् = उनका, उन्हीं के । पत्सुतःशीः = पैरों के नीचे पड़ा हुआ । बभूव = हो गया ।

अनुवाद— मन को प्रसन्न (आकर्षित) करने वाला जल कई भागों में कटे हुए (टूटे) किनारों वाली नदी के समान इस (पृथिवी) पर सोये हुए (मृत पड़े हुए) (वृत्र) को, अतिक्रान्त करके (पार करके) वह रहा है । वृत्र (अपनी) महिमा (पराक्रम) से जिस (जल) को चारों ओर से घेरे हुए था, वही राक्षस उन्हीं (जलों) के पैरों के नीचे पड़ा हुआ (सोया हुआ) हो गया ।

व्याकरण—

१. भिन्नम् – √भिद् + क्त । निष्ठा के त को न आदेश ।

२. अमुया – अमुष्याम् अर्थ में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में याच् प्रत्यय = अमुया।

३. रुहाणाः – √रुह् + शानच्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

४. महिना – √मह् (पूजा करना) + इन् प्रत्यय = महिन्, तृतीय विभक्ति, एकवचन, महिम्ना का वैदिकरूप।

५. पत्सुतःशीः – पादेषु अर्थ में पाद को पद् आदेश = पत्सु। सप्तमी विभक्ति में तसिल् प्रत्यय तथा छान्दस् विभक्ति के लोप का अभाव = पत्सुतः। पत्सुतः शेते अर्थ में क्विप् प्रत्यय = पत्सुतःशीः।

६. बभूव – √भू लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

७. पर्यतिष्ठत् – परि + √स्था + लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

विशेष—

१. नदम्— ओल्डेनबर्ग के अनुसार 'नद्' का अर्थ गरजने वाला साँड अथवा हिन-हिनाने वाला अश्व। वह वृत्र क्षत-विक्षत हुए बैल के समान पड़ा था। पिशेल के अनुसार 'नद्' शब्द 'नड' का रूप है, जिसका अर्थ है 'शिश्न'।

२. मनः रुहाणाः— की व्याख्या अनेक प्रकार से अनेक व्याख्याताओं ने किया है— १. सायण— मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट करने वाले। २. रॉथ— मनुष्यों के मन पर आधिपत्य पाने वाले। ३. गेल्डनर— हृदय को हरण करने वाले। ४. पीटर्सन— मनुष्य के लिए उपयोगी।

नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रे-
न्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसी-
द्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥९॥

पदपाठ— नीचाऽवयाः। अभवत्। वृत्रऽपुत्रा। इन्द्रः। अस्याः। अव। वधः। जभार॥ उत्ऽतरा। सूः। अधरः। पुत्रः। आसीत्। दानुः। शये। सहऽवत्सा। न। धेनुः॥

सा०भा०— वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्या मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावयाः न्यग्भावं प्राप्ता हता अभवत् पुत्रं प्रहाराद्रभितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः। तदानीम् अयम् इन्द्रः अस्याः मातुः अव अधोभागे वृत्रस्योपरि वधः हननसाधनमायुधं जभार प्रहतवान्। तदानीं सूः माता उत्तरा उपरिस्थिता आसीत्। पुत्रः तु अधोभाग-स्थितः आसीत्। सा च दानुः दानवी वृत्रमाता शये मृता शयनं कृतवती। तत्र दृष्टान्तः। धेनुः लोकप्रसिद्धा गौः सहवत्सा न यथा वत्ससहिता शयनं करोति तद्वत्॥ नीचा-वयाः। वेति खादतीति वयो बाहुः औणादिकः असिप्रत्ययः। न्यञ्चौ वयसौ यस्याः सा नीचावयाः। न्यच्शब्दादुत्तरस्या विभक्तेः 'सुपां सुपो भवन्ति' इति तृतीयैकवचना-देशः। 'अचः' इति अकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम्। 'अश्वैश्छस्यसर्वनामस्थनम्' (पा०सू० ६.१.१७०) इति तस्योदात्तत्वम्। समासे लुगभावश्छान्दसः। बहुव्रीहौ पूर्व-पदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा। नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः सा। पूर्वपदस्य दीर्घश्छा-न्दसः। वधः। हन्यतेऽनेनेति वधः। असुनि हन्तेर्वधादेशः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। जभार। 'हृग्रहोर्भः' इति भत्वम्। सूः। 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'। सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूः माता। 'क्विप् च' इति क्विप्। दानुः। 'दो अवखण्डने'। 'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० ३.३१२)। शये। लटि 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा०सू० ७.१.४१) इति तलोपः। 'शीङः सार्वधातुके०' इति गुणे अयादेशः॥

अन्वय— वृत्रपुत्रा नीचावया अभवत्। इन्द्रः अस्या अव बधः जभार। सूः उत्तरा पुत्र अधर आसीत्। दानुः सहवत्सा धेनुः न शये।

पदार्थ— वृत्रपुत्रा = वृत्र है पुत्र जिसका; वृत्र की माता। नीचावया = हाथों को नीचे किये हुए, लम्बी भुजा वाली। अभवत् = हो गयी, हुई। इन्द्रः = इन्द्र ने। अस्याः = इसके। अव = नीचे। वधः = आयुध, शस्त्र। जभार = प्रहार किया। दानुः = दानवी। सूः = माता। उत्तरा = ऊपर। पुत्रः = पुत्र। सहवत्सा = बछड़े के साथ। धेनुः न = गौ के समान। अधरः = नीचे। आसीत् = था।

अनुवाद— वृत्र की माता हाथों को नीचे किये हुए हो गयी। (अर्थात् पुत्र की रक्षा के लिए हाथों को नीचे फैला लिया)। तब इन्द्र ने इसके ऊपर आयुध का प्रहार किया। उस समय दानवी (वृत्र की) माता ऊपर तथा पुत्र उसी प्रकार नीचे था। जिस प्रकार (मृत) बछड़े के साथ गौ लेटी है।

व्याकरण—

१. नीचावया: – वेति खादति अर्थ में √'वे' + असि प्रत्यय। √वे + अस् – वयस्। नीचौ वयसौ यस्या: सा नीचवया: (बहुव्रीहि) छान्दस् दीर्घ।

२. वृत्रपुत्रा – वृत्र: पुत्र: यस्या: सा (बहुव्रीहि समास)।

३. वध: – हन्यते अनेन इति वध:। हन् को वध् आदेश।

४. सू: – षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अर्थ में सू + क्विप् = सू।

५. दानु: – √दो (अवखण्डने) + नु प्रत्यय = दानु।

६. जभार – √भृ, लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

७. आसीत् – √अस् लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

९. शये – √शी आत्मनेपद लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो
दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥१०॥

पदपाठ— अतिष्ठन्तीनाम्। अनिऽवेशनानाम्। काष्ठानाम्। मध्ये। निऽहितम्। शरीरम् ॥ वृत्रस्य। निण्यम्। वि। चरन्ति। आप:। दीर्घम्। तम:। आ। अशयत्। इन्द्रऽशत्रुः ॥

सा० भा०— वृत्रस्य शरीरम् आप: वि चरन्ति विशेषण उपरि आक्रम्य प्रव-हन्ति। कीदृशं शरीरम्। निण्यं निर्नामधेयम्। अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात् तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते। एतदेव स्पष्टीक्रियते। काष्ठानाम् अपां मध्ये निक्षिप्तम्। कीदृशानां काष्ठानाम्। अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानां अनिवेशनानाम् उपवेशनरहितानां प्रवहण-स्वभावत्वात् एतासां मनुष्यवन्न क्वापि स्थिति: सम्भवति। इन्द्रशत्रु: वृत्र: जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घ तम: दीर्घ निद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत् सर्वत: पतितवान् ॥ अतिष्ठन्तीनाम्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अनिवेशनानाम्। निवि-शन्तेऽस्मिन्निति निवेशनं स्थानम्। 'करणाधिकरणयोश्च' इति अधिकरणे ल्युट्। तद्रहि-तानाम्। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। क्रान्त्वा स्थिता: काष्ठा:। पृषोदरादि। निहितम्। 'गतिरनन्तर:' इति गते: प्रकृतिस्वरत्वम्। अत्र यास्क:– 'अति-ष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये शरीरं मेघ:। शरीरं शृणाते: शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति दीर्घ द्राघतेस्तमस्तनोतेराशय-दाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रु:। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका:' (निरु० २.१६) इति ॥

अन्वय— अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं वृत्रस्य निण्यं शरीरम् आप: विचरन्ति। इन्द्रशत्रु: दीर्घं तम आ अशयत्।

पदार्थ— अतिष्ठन्तीनाम् = कभी न रुकने वाले। अनिवेशनानाम् = विश्राम के स्थान से रहित, कभी विश्राम न करने वाले। काष्ठानाम् = जलों के। मध्ये = बीच में। निहितम् = पड़ा हुआ। वृत्रस्य = वृत्र का। निण्यम् = नाम से रहित। शरीरम् = शरीर को। आप: = जल। विचरन्ति = अतिक्रान्त करके बह रहे हैं, इधर-उधर बह रहा है। इन्द्रशत्रु: = इन्द्र से मारा गया (वृत्र)। दीर्घम् = अनन्त, घनघोर, बड़े। तम: = अन्धकार में। आ अशयत् = पड़ा है।

अनुवाद— कभी न रुकने वाले और विश्राम के स्थान से रहित (अविश्रान्त) जलों के बीच में पड़े हुए वृत्र के नाम-रहित शरीर को जल अतिक्रान्त करके बह रहे हैं। (इन्द्र से मारा गया) वह वृत्र अनन्त

अन्धकार (मृत्यु) में पड़ा है।

व्याकरण—

१. अतिष्ठन्तीनाम् – √स्था + शतृ + ङीप् = तिष्ठन्ती, न + तिष्ठन्ती = अतिष्ठन्ती। षष्ठी विभक्ति, बहुवचन।

२. अनिवेशनानाम् – नि + √विश् + ल्युट् (अन) = निवेशन, न निवेशन = अनिवेशन, षष्ठी, बहुवचन।

३. निहितम् – नि + √धा +क्त = निहितम्।

४. काष्ठानाम् – क्रान्त्वा स्थिता अर्थ में क्रम + √स्था + क्विप् = काष्ठा।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठ-
न्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासी-
द्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥११॥

पदपाठ— दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्। निऽरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः। अपाम्। बिलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार ॥

सा० भा०— दासपत्नीः दासः विश्वोपक्षपणहेतुः वृत्रः पतिः स्वामी यासाम् अपां ताः दासपत्नीः। अत एव अहिगोपाः। अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ताः। गोपनं नाम स्वच्छन्देन यथा न प्रवहन्ति तथा निरोधनम्। एतदेव स्पष्टीक्रियते। आपः निरुद्धाः अतिष्ठन् इति। तत्र दृष्टान्तः। पणिनेव गावः। पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवांस्तथेत्यर्थः। अपां यत् बिलं प्रवहणद्वारम् अपिहितं वृत्रेण निरुद्धम् आसीत् तत् बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान्, हतवान् इन्द्रः अप ववार अपवृतमकरोत् वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान्। अत्र यास्कः— 'दास-पत्नीर्दासाधिपत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' (निरु० २.१७) इति ॥ दासपत्नीः। 'दसु उपक्षये'। दासयतीति दासो वृत्रः। पचाद्यच्। 'चतः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। दासः पति-र्यासाम्। 'विभाषा सपूर्वस्य' (पा०सू० ४.१.३४) इति ङीप्; तत्सन्नियोगेन इकारस्य नकारः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा दासस्य पालयित्र्यः। 'पत्यावैश्वर्ये' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अहिगोपाः। 'गुपू रक्षणे'। गोपायतीति गोपाः। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा०सू० ३.१.३१) इति आयप्रत्ययः। ततः क्विप्। 'अतो लोपः'। 'वेरपृक्तलो पाद्वलिलोपो बलीयान्' इति पूर्वं यकार लोपः (पा०सू० ६.१.६६-६७)। न च 'अचः परस्मिन्०' इति अतो लोपस्य स्थानिवत्त्वं 'न पदान्तद्विर्वचन०' इति प्रतिषेधात्। अहिर्गोपा यासाम्। पूर्ववत् स्वरः। निरुद्धाः। 'रुधिर् आवरणे'। 'झष-स्तथोर्धोऽधः' (पा०सू० ८.२.४०) इति निष्ठातकारस्य धकारः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। जघन्वान्। हन्तेर्लिटः क्वसुः। 'अभ्यासाच्च' (पा०सू० ७.३.५५) इति अभ्यासादुत्तरस्य हकारस्य कुत्वम्। क्रादिनियमप्राप्तस्य इटः 'विभाषा गमहन०' (पा०सू० ७.२.६८) इत्यादिना विकल्पविधानादभावः। संहितायां नकारस्य रुत्वानुनासिकावुक्तौ॥

अन्वय— दासपत्नी अहिगोपा आपः पणिना गावः इव निरुद्धा अतिष्ठन्, वृत्रं जघन्वान्। अपां यत बिलम् अपिहितम् आसीत्, तत् अपववार।

पदार्थ— दासपत्नी: = दास (वृत्र) के स्वामित्व रहने वाले, दास है स्वामी जिनका। अहिगोपा: = अहि है रक्षक जिनका, मेघ द्वारा रक्षा किये जाते हुए। आप: = जल। निरुद्धा: = रोके गये, रुके हुए। अतिष्ठन् = स्थित थे, पड़ा था। पणिना = पणि के द्वारा। गाव: = गायें। इव = समान। वृत्रम् = वृत्र को। जघन्वान् = मार डाला। अपाम् = जलों का। यत् = जो। बिलम् = (बहने के) द्वार को, मार्ग को, सुरंग को। अपिहितम् = ढका हुआ, बंद हो गया। आसीत् = था। तत् = उसको। अपववार = खोल दिया।

अनुवाद— दास (वृत्र) के स्वामितव में रहने वाले और मेघ के द्वारा रक्षा किये जाते हुए जल उसी प्रकार रोके गये स्थित थे, जिस प्रकार पणि द्वारा गायें रोकी गयी थीं। इन्द्र ने वृत्र को मार डाला। जलों का जो (बहने का) द्वार ढका हुआ था, (इन्द्र ने) उसको खोल दिया।

व्याकरण—

१. दासपत्नी: – दास: पति: यासां ता: (बहुव्रीहि समास)। दासयति इति दास:। दस् + घञ् = दास।

२. अहिगोपा: – अहि: गोपा: यासां ता:। (बहुव्रीहि)।

३. निरुद्धा: – नि + √रुध् + क्त।

४. अपिहितम् – अपि + √धा + क्त।

५. जघन्वान् – √हन् लिट् के अर्थ में क्वसु।

६. आसीत् – √अस् लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

७. अतिष्ठन् – √स्था लङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

८. अपववार – अप + √वृ (खोलना), लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

विशेष—

१. **दासपत्नी:** में दास पद का अर्थ सायण ने विनाश करने वाला किया है। यह वृत्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। पीटर्सन और अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'अनार्य' अथवा 'दानव' किया है। 'अहि' का अर्थ यहाँ सायण ने वृत्र किया है। परन्तु इसका अर्थ 'मेघ' अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है। यास्क के अनुसार **पणि** शब्द का अर्थ व्यापारी है जो पण्य (विक्रेय वस्तु) का व्यवहार करता है। सायण के अनुसार पणि नामक एक जाति थी, जो बहुत लालची थी। ऋग्वेद के एक सूक्त में पणियों द्वारा इन्द्र की गौओं के अपहरण करने का वर्णन भी है। पीटर्सन ने यहाँ 'पणि' का अर्थ 'पणि नामक असुरों का सरदार' किया है।

अश्व्यो॒ वारो॑ अभव॒स्तदि॑न्द्र
सृ॒के यत्त्वा॑ प्र॒त्यह॑न्दे॒व एक॑:।
अज॑यो॒ गा अज॑य: शूर॒ सोम॒-
मवा॑सृज॒: सर्त॑वे स॒प्त सिन्धू॑न् ॥१२॥

पदपाठ— अश्व्य॑: । वार॑: । अ॒भ॒व॒: । तत् । इ॒न्द्र॒ । सृ॒के । यत् । त्वा॒ । प्र॒ति॒ऽअह॑न् । दे॒व: । एक॑: ॥ अज॑य: । गा: । अज॑य: । शू॒र॒ । सोम॑म् । अव॑ । अ॒सृ॒ज॒: । सर्त॑वे । स॒प्त । सिन्धू॑न् ॥

सा०भा०— सृके वज्रे। 'सृक: वृक:' (नि० २.२०.६) इति वज्र नामसु पठितत्वात्। देव: दीप्यमान: सर्वायुधकुशल: एक: अद्वितीय: वृत्र: यत् यदा त्वा त्वां प्रत्यहन् प्रतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत् तदानीं त्वम् अश्व्यो वार: अश्वसंबन्धी वाल: अभव:। अथाश्वस्य वालोऽनायासेन मोक्षकादीन्निवारयति तद्वत् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थ:। किं च गा: पणिनामहृता: त्वम् जितवान्। हे शूर शौर्ययुक्त इन्द्र सोमम् अजय: जितवान्। तथा च तैत्तिरीया: 'त्वष्टा हतपुत्र:' इत्येतस्मिन्नुपाख्याने समामनन्ति— 'स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्' (तै० २.४.१२.१) इति। सप्त सिन्धून् 'इमं मे गङ्गे' (ऋ०सं० १०.७५.१) इत्यस्यामृच्याम्नाता गङ्गाद्या: सप्तसङ्ख्याका नदी: सर्तवे सर्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुम् अवासृज: त्यक्तवान्।

वृत्रकृतं प्रवाहनिरोधं निराकृतवानित्यर्थः ॥ अश्व्यः । अश्वे भवः । 'भवे छन्दसि' इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । वारयति दंशमशकानिति वारः । पचाद्यच् । कपिलका-दित्वात् लत्वविकल्पः (पा०सू० ८.२.१८) । वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । प्रत्यहन् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधः । 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेरनुदात्तत्वम् । अजयः । गाः इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात् तदपेक्षयास्य 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न भवति, 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' (पा०सू० ८.१८.५) इति वचनात् । सर्तवे । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति तवेन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

अन्वय— देवः एकः यत् त्वा सृके प्रत्यहन् तत् इन्द्र, अश्व्यः वारः अभवः । शूर, गा अजयः सोमम् अजयः । सर्तवे सप्त सिन्धून् अवासृजः ।

पदार्थ— देवः = दीप्यमान्, प्रदीप्त होते हुए । एकः = अद्वितीय, अकेले । यत् = जब । त्वा = तुझ पर, तुम्हारे । सृके = वज्र पर । प्रत्यहन् = उलटा प्रहार किया । तत् = तब । इन्द्र = हे इन्द्र ! अश्व्यः = अश्व के, घोड़े के । वारः = बाल । अभवः = हो गये । शूर = हे शौर्यसम्पन्न, हे बहादुर । गाः = गौओं को । अजयः = जीता । सोमम् = सोम को । अजयः = जीता । सर्तवे = बहने के लिए । सप्त = सात । सिन्धून = नदियों को । अवासृजः = निर्मुक्त कर दिया, प्रवाहित किया ।

अनुवाद— प्रदीप्त होते हुए अद्वितीय अकेले वृत्र ने जब तुझ पर (और तुम्हारे) वज्र पर उलटा प्रहार किया, तब हे इन्द्र ! तुम घोड़े के (पूँछ के) बाल हो गये । हे शौर्य सम्पन्न इन्द्र ! तुमने गौओं को जीत लिया, तुमने सोम को जीत लिया और बहने के लिए सात नदियों को निर्मुक्त कर दिया ।

व्याकरण—

१. अश्व्यः – अश्वे भवः, भवेच्छन्दसि से यत् प्रत्यय । अश्व + यत् = अश्व्य ।

२. वारः – वारयति अर्थ में √वृ + णिच् + अच् = वार ।

३. सर्तवे – √सृ + तुमर्थक तवेन् प्रत्यय ।

४. अभवः – √भू लङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।

५. प्रत्यह्न – प्रति √ह्न लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

६. असृजः – √सृज् लङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।

७. अजयः – √जी लङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।

विशेष—

१. 'अश्व्यः वारः अभवः' घोड़े का बाल हो गए । जिस प्रकार घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से हमला करता हुआ तुच्छ मक्खियों को उड़ा देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने तुच्छ वृत्र के उड़ा दिया । अथवा घोड़ा जिस प्रकार पूँछ से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अपनी रक्षा की । 'एक देवः' पद इन्द्र का विशेषण भी हो सकता है । इन्द्र अद्वितीय देवता था । 'सिन्धु' शब्द का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने समुद्र किया है ।

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध
न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्-
चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥१३॥

पदपाठ— **न । अस्मै । विऽद्युत् । न । तन्यतुः । सिसेध । न । याम् । मिहम् । अकिरत् । ह्रादुनिम् । च ॥ इन्द्रः । च । यत् । युयुधाते इति । अहिः । च । उत । अपरीभ्यः । मघऽवा । वि । जिग्ये ॥**

सा०भा०— इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान् विद्युदादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ताः।

सोऽयमर्थोऽनेन मन्त्रेणोच्यते। अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युत् न सिषेध इन्द्रं न प्राप्नोत्। तथा तन्यतुः गर्जनं यां मिहं यां वृष्टिम् अकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि वृष्टिः न सिषेध। ह्रादुनि च अशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध। इन्द्रश्च अहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि यत् यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ। तदानीं विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः। उत अपि च मघवा धनवानिन्द्रः अपरीभ्यः अपराभ्यः अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशात् वि जिग्ये विशेषेण जितवान्॥ सिषेध। 'षिधु गत्याम्'। मिहम्। 'मिह सेचने'। मेहति सिञ्चतीति मिट् वृष्टिः। 'क्विप् च' इति क्विप्। अकिरत्। 'कृ विक्षेपे'। तुदादिभ्यः शः। 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वम्। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। युयुधाते। 'युध संप्रहारे'। लिटि प्रत्ययस्वरः। लिटि प्रत्ययस्वरः। जिग्ये। 'सन्लिटोर्जेः' (पा०सू० ७.३.५७) इति अभ्यासादुत्तरस्य अकारस्य कुत्वम्॥

अन्वय— यत् इन्द्रः अहिः च युयुधाते अस्मै विद्युत् न सिषेध, न तन्यतुः, यां मिहं ह्रादुनिं च न अकिरत्। उत मघवा अपरीभ्यः विजिग्ये।

पदार्थ— यत् = जब। इन्द्रः = इन्द्र। अहिः च = और वृत्र। युयुधाते = युद्ध कर रहे थे। अस्मै = इस (इन्द्र) के लिए। विद्युत् = बिजली। न = नहीं। सिषेध = पा सका। न = नहीं। तन्यतुः = गर्जना। याम् = जिस। मिहम् = वृष्टि को। ह्रादुनिम् च = और वज्र को। अकिरत् = छोड़ा। न = नहीं। उत = और। मघवा = ऐश्वर्य सम्पन्न (इन्द्र)। अपरीभ्यः = दूसरी मायाओं से। विजिग्ये = विजय प्राप्त की।

अनुवाद— जब इन्द्र और वृत्र दोनों युद्ध कर रहे थे, तब वृत्र द्वारा प्रयुक्त मायाओं में से न तो बिजली इन्द्र को पा सकी, न गर्जना उसे पा सकी, और वृत्र ने जिस वृष्टि और वज्र को छोड़ा था, वे भी उसको न पा सके और ऐश्वर्यशाली इन्द्र ने वृत्र की दूसरी मायाओं पर विजय प्राप्त की।

व्याकरण—

१. विद्युत् – विशेषेण द्योतते अर्थ में वि + √द्युत् + क्विप् = विद्युत्।

२. सिषेध – √षिध् लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

३. मिहम् – √मिह् + क्विप् = मिह्। द्वितीया, एकवचन।

४. अकिरत् – √कृ लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

५. युयुधाते – √युध् आत्मनेपद, लिट्, प्रथमपुरुष, द्विवचन।

६. विजिग्ये – वि + √जि + आत्मनेपद लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

विशेष—

१. सायण ने 'अपरीभ्यः' का अर्थ किया है— वृत्र की अन्य मायाओं से, परन्तु पीटर्सन इससे भिन्न अर्थ मानते हैं। उनका अर्थ है— आने वाले सभी समयों के लिए।

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र
हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः
श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥१४॥

पदपाठ— **अहेः। यातारम्। कम्। अपश्यः। इन्द्र। हृदि। यत्। ते। जघ्नुषः। भीः। अगच्छत्॥ नव। च। यत्। नवतिम्। च। स्रवन्तीः। श्येनः। न। भीतः। अतरः। रजांसि॥**

सा०भा०— हे इन्द्र जघ्नुषः वृत्रं हतवतः तव हृदि चित्ते यत् यदि भीरगच्छत् न हंतवानस्मीति बुद्ध्या भयं प्राप्नुयात् तर्हि अहेः वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि। तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावात् मा भूत् तव भयमित्यर्थः। यत् यस्मात् कारणात् त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीः एकोनशतसङ्ख्याकाः प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकानि अतरः तीर्णवानसि

तत्र दृष्टान्तः । श्येनो न । श्येननामको बलवान् पक्षीव दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते । तद्वयं मा भूदित्यभिप्रायः । तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम्— 'इन्द्रो वे वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्' (ऐ०ब्रा० ३.१५) इति । तैत्तिरीयाश्चा-मनन्ति— 'इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतमगच्छदपराधमिति मन्यमानः' (तै०सं० २.५.३.६) इति ॥ हृदि । 'पद्दन्०'इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । 'ऊडिदम्०' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । जघ्नुषः । हन्तेर्लिटः क्वसुः । षष्ठ्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणपरपूर्वत्वे । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । न च 'षत्वतुकोरसिद्धः' (पा०सू० ६.१.८६) इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात् षत्वं न प्राप्नुयादिति वाच्यं, 'सम्प्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः' (का० ६.१.८६.१) इति असिद्धवद्भावस्य प्रति-षिद्धत्वात् । 'गमहन्०' इत्यादिना उपधालोपः । न च 'असिद्धवदत्रा भात्' इति संप्रासारणस्यासिद्धवद्भावः, भिन्नाश्रयत्वात् । सम्प्रसारणं हि षष्ठ्येकवचने उपधालोपस्तु वसाविति भिन्नाश्रयत्वम् । स्रवन्तीः । 'स्रु गतौ' । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (पा०सू० ७.१.८१) इति नुमागमः शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । अतरः । यद्वृत्तयोगादनिघातः ॥

अन्वय— इन्द्र ! अहेः कम् यातारं अपश्यः, यत् जघ्नुषः ते हृदि भीः अगच्छत्, यत् भीतः श्येनः न नव च नवतिं च स्रवन्तीः रजांसि अतरः ।

पदार्थ— इन्द्र = हे इन्द्र ! अहेः = वृत्र के, राक्षस के । कम् = किसको । यातारम् = पीछे आने वाले, अनुयायी, सहायक । अपश्यः = देखा । यत् = जो । जघ्नुषः = मारते हुए, मारने वाले के । ते = तुम्हारे । हृदि = हृदय में । भीः = भय, डर । अगच्छत् = आ गया, प्रवेश कर गया । यत् = जो । भीतः = डरा हुआ । श्येनः = बाज, श्येन पक्षी । न = समान । नव च नवतिं च = नौ और नब्बे अर्थात् निन्यानवे । स्रवन्तीः = बहती हुई नदियों को । रजांसि = अन्तरिक्ष को, जलों को । अतरः = पार कर गये ।

अनुवाद— हे इन्द्र, अहि के किस अनुयायी (सहायक) को तुमने देखा कि (वृत्र को) मारने वाले (तुम्हारे) हृदय में भय प्रवेश कर गया, जिससे भयभीत होकर) तुम निन्यानवे नदियों तथा अन्तरिक्ष को (तुम) श्येन (पक्षी) के समान पार कर गये ।

व्याकरण—

१. यातारम् – √यर् + तृच् = यातृ । द्वितीया, एकवचन ।

२. अपश्यः – √दृश्, लङ्, मध्यमपुरुष, एकवचन ।

३. जघ्नुषः – √हन् + क्वसु = जघन्वस् । षष्ठी, एकवचन ।

४. अगच्छत् – √गम् लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

५. स्रवन्तीः – √स्रु + शतृ + ङीप् द्वितीया बहुवचन ।

६. भीतः – √भी + क्त प्रथमा, एकवचन ।

७. अतरः – √तृ लङ्, मध्यमपुरुष, एकवचन ।

विशेष—

१. **अहेः यातारम्** का सायण ने जो अर्थ किया है, उसका भाव यह निकलता है कि अहि को मारने के लिए अन्य कोई आ रहा था, उसको देखकर इन्द्र डर कर बहुत दूर भाग गया । इस सम्बन्ध में सायण में ऐतरेय ब्राह्मण (३.१५) कीं एक कथा को उद्धृत किया है कि इन्द्र वृत्र को मारकर इस डर से बहुत दूर भाग गया कि इसके पीछे कोई दूसरा बलवान् आ रहा है । सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.६.७.४) की भी एक कथा को उद्धृत किया है कि वृत्र को मारकर इन्द्र इस भय से दूर भाग गया कि उससे कोई अपराध हुआ है । वृत्र को मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या का अपराधी समझा गया ।

२. सायण के अनुसार **रजांसि** का अर्थ जल है । पीटर्सन ने 'रजांसि' का अर्थ 'अन्तरिक्ष' किया है ।

३. इन्द्र की उपमा श्येन के साथ दी गयी है, जो बल और वेग का प्रतीक है । 'ऋग्वेद' के एक मन्त्र (८.८२.३) में श्येन को 'अन्तरिक्षों से सोम को लाने वाला' कहा गया है ।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा

शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।

सेदु राजा क्षयति चर्षणीना-

मरान्न नेमिः परि ता बभूव ॥१५॥

पदपाठ— इन्द्रः । यातः । अवऽसितस्य । राजा । शमस्य । च । शृङ्गिणः । वज्रऽबाहुः ॥ सः । इत् । ऊँ इति । राजा । क्षयति । चर्षणीनाम् । अरान् । न । नेमिः । परि । ता । बभूव ॥

सा० भा०— वज्रबाहुः इन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातः गच्छतो जङ्गमस्य अवसितस्य एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृङ्गराहित्येन प्रह-रणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः शृङ्गिणः शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च राजा अभूत् । सेदु स एवेन्द्रः चर्षणीनां मनुष्यानां राजा भूत्वा क्षयति निवसति । ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परि बभूव व्याप्तवान् । तत्र दृष्टान्तः । अरान् न नेमिः। यथा रथचक्रस्य परितो वर्तमाना नेमिः अरान् नाभौ कीलितान् काष्ठविशेषान् व्याप्नोति तद्वत् ॥ यातः । 'या प्रापणे' । याति गच्छतीति यात् । लटः शतृ । 'सावेकाचः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । सः । 'सोऽचि लोपे चेत्०' इति संहितायां सोर्लोपः । ता । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । बभूव । 'भवतेरः' (पा०सू० ७.४.७३) इति अभ्यासस्य अत्वम् । कृताकृतप्रसङ्गितया वुगागमस्य नित्यत्वात् वृद्धेः पूर्वं वुगागमः । यद्वा । 'इन्धिभवतिभ्यां च' (पा०सू० १.२.६) इति लिटः कित्त्वात् वृद्ध्यभावः । न च 'असिद्धवदत्रा भात्' इति तस्यासिद्धत्वात् उवङादेशः शङ्कनीयः, 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ भवतः' (पा०सू० ६.४.२२.१४) इति तस्य सिद्धत्वात् । 'तिङ्ङतिङ' इति निघातः ॥

अन्वय— वज्रबाहु इन्द्रः यात अवसितस्य शमस्य शृङ्गिणः च राजा । स इत् उ चर्षणीनां राजा क्षयति । नेमिः अरान् न ता परिबभूव ।

पदार्थ— वज्रबाहुः = भुजा में वज्र को धारण करने वाला । इन्द्रः = इन्द्र । यातः = गतिशील (जङ्गम) पदार्थों का । अवसितस्य = गति से रहित (स्थावर) पदार्थों का । शमस्य = शान्त स्वभाव वाले प्राणियों का । शृङ्गिणः च = और सींग धारण करने वाले प्राणियों का । राजा = स्वामी । स इत् उ = वह ही । चर्षणीनाम् = मनुष्यों का । राजा = राजा, स्वामी । क्षयति = निवास करता है । नेमिः = पहिए की परिधि । अरान् = रथ के चक्र के धुरे में लगी हुई कीलें । न = समान । ता = उनको । परि बभूव = चारों ओर से व्याप्त करता हैं, चारों ओर से रक्षा करता है ।

अनुवाद— भुजा में वज्र को धारण करने वाला इन्द्र गतिशील (जङ्गम) पदार्थों का, गति से रहित (स्थावर) पदार्थों का, शान्त स्वभाव वाले प्राणियों का और सींग धारण करने वाले प्राणियों का स्वामी है । वह ही मनुष्यों का राजा होकर निवास करता है और वह उनकी उसी प्रकार रक्षा करता है, जिस प्रकार रथ की परिधि अरों की चारों ओर से रक्षा करती है ।

व्याकरण—

१. यातः – √या + क्विप्, तुक् का आगम होकर यात् । षष्ठी विभक्ति का एक वचन ।

२. अवसितस्य – अव + √सा + क्त = अवसित षष्ठी, एकवचन ।

३. शृङ्गिणः – शृङ्ग + इनि = शृङ्गिन् षष्ठीविभक्ति, एकवचन ।

४. क्षयति – √क्षि (निवास करना), लट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

५. परिबभूव – परि + √ भू लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

अभ्यास—

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) इन्द्रस्य नु वीर्याणि........ ....१

(ख) वृषायमाणोऽवृणीत...............................३

(ग) अपादहस्तो......................................७

(घ) नीचावयाऽभवद्..................................९

(ङ) नास्मै विद्युन्न तन्यतुः....:........................१३

(२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) ततर्द।

(ख) शिश्रियाणम्।

(ग) वृषायमाणः।

(घ) विवृक्कणा।

(ङ) तुविबाधम्।

(च) जघान।

(३) निम्नलिखत प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

(क) इन्द्र को वज्री क्यों कहा गया?

(ख) त्वष्टा ने इन्द्र के लिए कौन-सा अस्त्र बनाया था?

(ग) वृषायमाणः किसका विशेषण है?

(घ) पैरों और हाथों से रहित हो जाने पर किसने इन्द्र से युद्ध करने की इच्छा की?

(ङ) कौन अपनी महिमा से जलों को चारों ओर से घेरे हुए था?

४.२. सवितृसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद, मण्डल संख्या–१, सूक्त संख्या–३५

ऋषि–हिरण्यस्तूप, देवता–सवितृ, छन्द–१,९ जगती, शेष-त्रिष्टुप्

ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒
ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि॒ रात्री॒ं जग॑तो नि॒वेश॑नी॒ं
ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑ ॥१॥

पदपाठ— ह्वया॑मि। अ॒ग्निम्। प्र॒थ॒मम्। स्व॒स्तये॑। ह्वया॑मि। मि॒त्रावरु॑णौ। इ॒ह। अव॑से॥ ह्वया॑मि। रात्री॑म्। जग॑तः। नि॒ऽवेश॑नीम्। ह्वया॑मि। दे॒वम्। स॒वि॒तार॑म्। ऊ॒तये॑॥

सा० भा०— स्वस्तये अस्माकमविनाशाय। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम्' (निरु० ३.२१) इति यास्कः। प्रथमम् आदौ अग्निं ह्वयामि। इह अस्मिन् कर्मणि अवसे अस्मद्रक्षणाय मित्रावरुणौ ह्वयामि। जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य निवेशनीम् उपनिवेशन-हेतुभूतां रात्रीं रात्रिदेवतां ह्वयामि। जङ्गमाः सर्वे प्राणिनः दिवसे स्वस्वव्यापारान् कृत्वा स्वस्वगृहे रात्रौ उपविशन्तीति प्रसिद्धम्। ऊतये अस्मद्रक्षणार्थं सवितारं देवं ह्वयामि ॥१॥

अन्वय— प्रथमम् अग्निम् स्वस्तये ह्वयामि। इह अवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि। जगतः निवेशनीं रात्रीं ह्वयामि। ऊतये सवितारं देवं ह्वयामि॥

पदार्थ— प्रथमम् = सर्वप्रधान, सर्वप्रथम। अग्निम् = अग्नि (देव) को। स्वस्तये = कल्याण के लिए। ह्वयामि = बुलाता हूँ, आह्वान करता हूँ। इह = यहाँ, इस स्थल पर। अवसे = रक्षा के लिए। मित्रावरुणौ = मित्र तथा वरुण को। ह्वयामि = बुलाता हूँ। जगतः = जङ्गम लोक को, गतिशील प्राणियों

को। निवेशनीं = आराम देने वाली। रात्रीम् = रात्रि को। ह्वयामि = बुलाता हूँ। ऊतये = रक्षा के लिए, सहायता के लिए। सवितारं = सवितृ (देव) को। ह्वयामि = बुलाता हूँ।

अनुवाद— (मैं) सर्वप्रधान (देव) अग्नि को (अपने) कल्याण के लिए आह्वान करता हूँ, (बुलाता हूँ)। यहाँ (अपनी) रक्षा के लिए मित्र तथा वरुण (देवताओं) को बुलाता हूँ। गतिशील प्राणियों को आराम देने वाली रात्रि (देवी) को बुलाता हूँ। अपनी रक्षा (अथवा सहायता) के लिए सवितृ देव को बुलाता हूँ।

व्याकरण—

१. ह्वयामि – √ह्वा + लट्, उत्तम पुरुष, एकवचन।

२. स्वस्तये – सु + √अस् + क्तिन् प्रत्यय + चतुर्थी एकवचन।

३. अवसे – √अव् + असे (तुमर्थक वैदिक प्रत्यय) लौकिक संस्कृत में अवितुम् बनता है।

४. मित्रावरुणौ – यह देवता द्वन्द्व समास है। इस पद में दो उदात्त स्वर हैं। देवता-द्वन्द्वे च (पा०सू० ७.३.२१) मित्र पद के अन्तिम स्वर की वृद्धि होकर 'मित्रा' हो गया है।

५. निवेशनीम् – नि + √विश् + ल्युट् (अन्) + ङीप्।

६. सवितारम् – √सू + तृच् + द्वितीया, एकवचन।

७. ऊतये – √अव् + क्तिन् + चतुर्थी, एकवचन।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो
निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना
देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥२॥

पदपाठ— आ। कृष्णेन। रजसा। वर्तमानः। निऽवेशयन्। अमृतम्। मर्त्यम्। च॥ हिरण्ययेन। सविता। रथेन। आ। देवः। याति। भुवनानि। पश्यन्॥

सा०भा०— सविता सूर्यः कृष्णेन रजसा कृष्णवर्णेन लोकेन। 'कृष्णं कृष्यते निकृष्टो वर्णः' (निरु० २.२०) इति यास्कः। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४.१९) इति च। अन्तरिक्षलोको हि सूर्यागमनात् पुरा कृष्णवर्णो भवति। तेनान्तरिक्षमार्गेण आ वर्तमानः पुनः पुनरागच्छन् अमृतं देवं मर्त्यं मनुष्यं च निवेशयन् स्वस्वस्थानेऽवस्था-पयन्। यद्वा। अमृतं मरणरहितं प्राणं मर्त्यं मरणसहितं शरीरं च निवेशयन्। तथा चारण्यकाण्डे 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः' (ऋ०सं० १.१६४.३८) इत्येतस्य मन्त्र-भागस्य व्याख्यानरूपे ब्राह्मणे यथोक्तोऽर्थोऽवगम्यते— 'मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता' (ऐ०ब्रा० २.१.८) इति। यथोक्तगुणोपेतः सविता देवः भुवनानि सर्वान् लोकान् पश्यन् अवेक्षमाणः प्रकाशयन्नित्यर्थः। हरिण्ययेन सुवर्णनिर्मितेन रथेन आ याति अस्मत्समीपमागच्छति ॥२॥

अन्वय— कृष्णेन रजसा आवर्तमानः अमृतं मर्त्यं च निवेशयन् भुवनानि पश्यन् सविता देवः हिरण्ययेन रथेन आ याति।

पदार्थ— कृष्णेन = अन्धकारमय, काले रंग वाले। रजसा = लोक से, अन्तरिक्ष से। आवर्तमानः = पुनः पुनः लौटता हुआ। अमृतम् = देवताओं को। मर्त्यं = मनुष्यों को। च = और। निवेशयन् = (अपने-अपने) कार्यों में जोड़ता हुआ (प्रवृत्त करता हुआ)। भुवनानि = लोकों को। पश्यन् = देखता हुआ। सविता देवः = सविता देव। हिरण्ययेन = स्वर्णिम, सुवर्णनिर्मित। रथेन = रथ से। आ याति = आ रहा है।

अनुवाद— अन्धकारमय लोक (अन्तरिक्ष) से पुनः पुनः लौटता हुआ, देवताओं और मनुष्यों को (अपने-अपने) कार्यों में जोड़ता हुआ (प्रवृत्त करता हुआ) (तथा) (सम्पूर्ण) लोकों को देखता हुआ सविता देव स्वर्णनिर्मित रथ से आ रहा है।

व्याकरण—

१. वर्तमानः – √वृत् + शानच् + प्रथमा, एकवचन।

२. निवेशयन् – नि + विश् + णिच् + शतृ, प्रथमा, एकवचन।

३. हिरण्ययेन-हिरण्य + मयट् = हिरण्यमय, किन्तु मकार का लोप होकर हिरण्यय बना। तृतीया, एकवचन।

४. पश्यन् – √दृश् (पश्य) + शतृ, प्रथमा, एकवचन।

५. याति – √या, लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

याति देवः प्रवता यात्युद्वता
याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।
आ देवो याति सविता परावतो-
ऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥३॥

पदपाठ— याति। देवः। प्रऽवता। याति। उत्ऽवता। याति। शुभ्राभ्याम्। यजतः। हरिऽभ्याम्॥ आ। देवः। याति। सविता। पराऽवतः। अप। विश्वा। दुःऽइता। बाधमानः ॥३॥

सा० भा०— देवः दीप्यमानः सविता प्रवता प्रवणता मार्गेण याति गच्छति। तथा उद्वता उत्कृष्टेनोर्ध्वदेशयुक्तेन मार्गेण याति। उदयानन्तरम् आमध्याह्नमूर्ध्वो मार्गः तत उपरि आसायं प्रवणो मार्ग इति विवेकः। तथा यजतः यष्टव्यः स देवः शुभ्राभ्यां श्वेताभ्यां हरिभ्याम् अश्वाभ्यां याति देवयजनदेशे गच्छति। सविता देवः विश्वा दुरिता सर्वाणि पापानि अप बाधमानः विनाशयन् परावतः दूरदेशात्। 'परावतः' (निरु० ३.२६.५) इति दूरनामसु पठित्वात्। तादृशात् द्युलोकात् आ याति यागदेशे आगच्छति॥

अन्वय— देवः प्रवता याति, उद्वता याति। यजतः सविता देवः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां याति, विश्वा दुरिता अप बाधमानः परावतः आ याति।

पदार्थ— देवः = देव। प्रवता = निचले मार्ग से, अधोगामी मार्ग से। याति = जाता है, गमन करता हैं। उद्वता = ऊँचे मार्ग से, उपरिगामी मार्ग से। याति = जाता है, गमन करता है। यजतः = पूजनीय, यजनीय। सविता देवः = सविता देव। शुभ्रा-भ्याम् = श्वेत वर्ण के। हरिभ्याम् = दो घोड़ों से। याति = गमन करता है। विश्वा दुरिता = सम्पूर्ण पापों को। अप बाधमानः = पूर्णतः विनष्ट करता हुआ। परावतः = बहुत दूर से। आ याति = आता है।

अनुवाद— देव (सविता) अधोगामी मार्ग से जाता है। उपरिगामी मार्ग से जाता है। पूजनीय सविता देव श्वेतवर्ण वाले दो घोड़ों से गमन करता है। (सविता देव) सम्पूर्ण पापों को पूर्णतः विनष्ट करता हुआ बहुत दूर से आता है।

व्याकरण—

१. प्रवता – प्र + √वन् + क्विप्, तृतीया, एकवचन।

२. उद्वता – उत् +√वन् + क्विप्, तृतीया, एकवचन।

३. यजतः – √यज् + अतच्, प्रथमा, एकवचन।

४. दुरिता – दुः + √इ + क्त, द्वितीया, नपुंसकलिङ्ग बहुवचन। वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में दुरितानि बनता है।

५. विश्वा – नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन विश्वानि का वैदिकरूप।

६. बाधमानः – √बाध् + शानच्, प्रथमा, एकवचन।

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं

हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।

आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः

कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ॥४॥

पदपाठ— अभिऽवृतम् । कृशनैः । विश्वऽरूपम् । हिरण्यऽशम्यम् । यजतः । बृहन्तम् ॥ आ । अस्थात् । रथम् । सविता । चित्रऽभानुः । कृष्णा । रजांसि । तविषीम् । दधानः ॥

सा० भा०— सविता रथम् आस्थात् आस्थितवान् आरूढवानित्यर्थः । कीदृशम् । अभीवृतम् अभितो वर्तमानम् । तथा कृशनैर्विश्वरूपं सुवर्णेन नानारूपम् । 'कृशनं लोहम्' (नि० १.२.७) इति सुवर्णनामसु पाठात् । क्वचित् सुवर्णनिर्मितगजपङ्क्तिः क्वचिदश्वपङ्क्तिः क्वचिन्मनुष्यपङ्क्तिरित्येवं बहुरूपत्वम् । हिरण्यशम्यम् । अश्वानां स्कन्धेषु रथयोजनवेलायां नियन्तुं प्रक्षेप्यमाणाः शङ्कवः शम्याः । ताः सुवर्णमय्यो रथे वर्तन्ते । बृहन्तं प्रौढम् । कीदृशः सविता । यजतः यष्टव्यः चित्रभानुः विविधरश्मियुक्तः कृष्णा रजांसि अन्धकारयुक्ततया कृष्णवर्णान् लोकानुद्दिश्य तमोनिवारणार्थं तविषीं बलं स्व-कीयं प्रकाशरूपं दधानः।

अन्वय— कृशनैः अभीवृतं विश्वरूपं हिरण्यशम्यम् बृहन्तं रथं यजतः चित्रभानुः सविता कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः आ अस्थात् ।

पदार्थ— कृशनैः = सुवर्णों से । अभीवृतम् = जटित, घिरे हुए । विश्वरूपम् = अनेक रूपों वाले, विविध रूपों वाले । हिरण्यशम्यम् = सुवर्ण की कील वाले । बृहन्तम् = विशाल, ऊँचे । रथम् = रथ पर । यजतः = यजनीय, पूजनीय । चित्रभानुः = विविध किरणों वाला । सविता = सविता (देवता) । कृष्णा = काले, अन्धकारयुक्त । रजांसि = लोकों के (विरुद्ध) । तविषीम् = बल को, दधानः = धारण करता हुआ । आ अस्थात् = आरूढ़ हो गया है ।

अनुवाद— सुवर्णों से जटित (घिरे हुए), विविध रूपों वाले विशाल रथ पर (स्थित) पूजनीय (एवं) विविध किरणों वाला सविता (देव) अन्धकारयुक्त लोकों के (विरुद्ध) बल को (अर्थात् प्रकाश को) धारण करता हुआ आरूढ़ हो गया है ।

व्याकरण—

१. अभीवृतम् – अभि + √वृत् + क्विप्, द्वितीया, एकवचन । छान्दस् दीर्घता ।

२. कृष्णा – नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन, वैदिक रूप । लौकिक संस्कृत कृष्णानि रूप बनेगा। कृष्णानि का वैदिक रूप ।

३. बृहन्तम् – √बृह् + शतृ, द्वितीया, एकवचन ।

४. अस्थात् – √स्था + लुङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

५. दधानः = √धा + शानच्, प्रथमा, एकवचन ।

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन्

रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः ।

शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्यो-

पस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥५॥

पदपाठ— वि । जनान् । श्यावाः । शितिऽपादः । अख्यन् । रथम् । हिरण्य-प्रउगम् । वहन्तः ॥ शश्वत् । विशः । सवितुः । दैव्यस्य । उपऽस्थे । विश्वा । भुवनानि । तस्थुः ॥

सा० भा०— श्यावाः एतन्नामकाः सूर्यस्याश्वाः । 'श्यावाः सवितुः' (नि० १.१५.८) इति निघण्टावुक्तत्वात् । ते च शितिपादः श्वेतैः पादैरुपेताः हिरण्यप्रउगम् । रथस्य मुखम् ईषयोरग्रं युगबन्धनस्थानं प्रउगमित्युच्यते । तच्चात्र सुवर्णमयम् । तद्युक्तं रथं वहन्तः जनान् प्राणिनः वि अख्यन् विशेषेण प्रकाशितंवन्तं इत्यर्थः । शश्वत् सर्वदा विशः प्रजाः दैव्यस्य इतरदेवसम्बन्धिनः सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य उपस्थे समीपस्थाने

तस्थुः स्थित-वत्यः । न केवलं प्रजाः किं तर्हि विश्वा भुवनानि सर्वे च लोकाः प्रकाशाय सूर्यसमीपे तस्थुः ।

अन्वय— शितिपादः हिरण्यप्रउगं रथं वहन्तः श्यावाः जनान् वि अख्यन् शश्वत् विशः विश्वा भुवनानि सवितुः दैव्यस्य उपस्थे तस्थुः ।

पदार्थ— शितिपादः = श्वेत पैरों वाला । हिरण्यप्रउगम् = सुवर्ण निर्मित कील वाले । रथम् = रथ को । वहन्तः = खींचते हुए । श्यावाः = सवितृ देव के अश्वों ने । जनान् = लोगों को, प्राणियों को । वि अख्यन् = विशेष रूप से प्रकाशित किया है । शश्वत् = सर्वदा । विशः = प्रजाएँ । विश्वा भुवनानि = सम्पूर्ण लोक । सवितुः दैव्यस्य = सवितृ देव के । उपस्थे = गोद में, समीप स्थित स्थान में । तस्थुः = स्थित हैं ।

अनुवाद— सुवर्णनिर्मित कील वाले रथ को वहन करते हुए (खींचते हुए) श्वेत पैरों वाले, सवितृ देव के अश्वों ने लोगों को (प्राणियों को) विशेष रूप से प्रकाशित किया है । सर्वदा प्रजाएँ एवं सम्पूर्ण लोक सवितृ देव की गोद में (अथवा समीप स्थित स्थान में) स्थित हैं ।

व्याकरण—

१. जनाञ्छ्यावाः – जनान् + श्यावाः 'शि तुक्' (पा०सू० ८.३.३१) से तुक् आगम, विकल्प से = जनान् त् श्यावाः । स्तोश्चुना० (पा० सू० ८.४.४०) से जनान् च् श्यावाः रूप बना । ऐसी स्थिति में झय् चकार के बाद शकार होने के कारण 'शश्छोऽटि' (पा० सू० ८.४.६३) से जनाञ् च् छ्यावाः रूप बनने पर वैकल्पिक रूप में आये हुए तकार के हट जाने के परिणामस्वरूप 'जनाञ्छ्यावाः' रूप बन जाता है ।
२. प्रउगम् – यहाँ पर विवृत्ति है । जो स्वरों के मध्य में होने वाले उच्चारण काल के विराम को विवृति कहा जाता है । यह वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है ।
३. वहन्तः – √वह् + शतृ, पुलिंग प्रथमा, बहुवचन ।
४. अख्यन् – √ख्या + लुङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।
५. तस्थुः – √स्था + लिट् + प्रथम पुरुष, बहुवचन ।
६. विश्वा – नपुंसकलिङ्ग प्रथमा बहुवचन वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप बनता है । भुवनानि का विशेषण है ।

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ
एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थु-
रिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥६॥

पदपाठ— **तिस्रः । द्यावः । सवितुः । द्वौ । उपऽस्था । एका । यमस्य । भुवने । विराषाट् । आणिम् । न । रथ्यम् । अमृता । अधि । तस्थुः । इह । ब्रवीतु । यः । उँ इति । तत् । चिकेतत् ॥**

सा०भा०— द्यावः स्वर्गोपलक्षिताः प्रकाशमाना लोकाः तिस्रः त्रिसंख्याका सन्ति । तत्र द्वौ लोकौ सवितुः सूर्यस्य उपस्था समीपस्थाने वर्तेते, द्युलोकभूलोकयोः सूर्येण प्रकाशितत्वात् । एका मध्यमा भूमिरन्तरिक्षलोकः यमस्य भुवने पितृपतेर्गृहे विराषाट् विरान् गन्तृन् सहते । प्रेताः पुरुषाः अन्तरिक्षमार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थः । अमृता अमृतानि चन्द्रनक्षत्रादीनि ज्योतींषि जलानि वा अधि तस्थुः सवितारमधिगम्य स्थि-तानि । तत्र दृष्टान्तः । रथ्यम् आणिं न । रथाद्बहिः अक्षच्छिद्रे प्रक्षिप्तः कीलविशेषः आणिरित्युच्यते । रथसम्बन्धिनम् आणिम् अधिगम्य यथा रथस्तिष्ठिति तद्वत् । यः तु मानवः तत् सवितृरूपं चिकेतत् जानाति सः मानवः इह अस्मिन् विषये ब्रवीतु कथयतु । केनापि वक्तुमशक्यः सवितुर्महिमेत्यर्थः ।

अन्वय— द्यावः तिस्रः द्वौ सवितुः उपस्था, एका विराषाट् यमस्य भुवने, रथ्यम् आणिं न अमृता

अधि तस्थुः । यः उ तत् चिकेतत् ब्रवीतु ।

पदार्थ— द्यावः = लोक, द्युलोक । तिस्रः = तीन । द्वौ = दो । सवितुः = सवितृ के । उपस्था = गोद में, समीप में । एका = एक । विराषाट् = मृत व्यक्तियों का निवास स्थान । यमस्य = यम के । भुवने = लोक में । रथ्यम् = रथ के । आणिम् = धुरा । न = समान । अमृता = देवलोक, देवगण । अधि तस्थुः = आश्रित हैं, स्थित हैं । यः = जो । उ = निश्चित ही । तत् = उसको । चिकेतत् = जानता है । ब्रवीतु = कहे, बतलावे ।

अनुवाद— लोक तीन हैं (जिनमें से) दो (लोक) सवितृ (देव) की गोद (समीप) में हैं । एक (जो) मृत व्यक्तियों का निवास-स्थान (स्वरूप है), यम के लोक में (है) । रथ के धुरे के समान देवलोक (उस सवितृ देव पर) आश्रित है (अर्थात् जिस प्रकार रथ धुरे पर आश्रित होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण देवता सवितृ पर आश्रित हैं) जो (उपासक) उसको जानता है (वह) (उसके सम्बन्ध में) कहे ।

व्याकरण—

१. उपस्थाँ एका – लौकिक संस्कृत के 'उपस्थे' का वेद में 'उपस्था' हुआ है तथा अन्तिम स्वर अनुनासिक हुआ फलस्वरूप एका का एकार बाद में होने पर भी सन्धिकार्य नहीं हुआ है । पदपाठ में अनुनासिकता समाप्त हो जाती है ।
२. ब्रवीतु – √ब्रू + लोट् + प्रथमपुरुष, एकवचन ।
३. तस्थुः – √स्था + लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
४. चिकेतत् – √कित् + लेट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद्
गभीरवेपाः असुरः सुनीथः ।
क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत
कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥७॥

पदपाठ— वि । सुऽपर्णः । अन्तरिक्षाणि । अख्यत् । गभीरऽवेपाः । असुरः । सुऽनीथः ॥ क्व । इदानीम् । सूर्यः । कः । चिकेत । कतमाम् । द्याम् । रश्मिः । अस्य । आ । ततान ॥

सा० भा०— सुपर्णः शोभनपतनः सूर्यस्य रश्मिः । 'सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मि-नामानि' (नि० १.५.१५) इति तन्नामसु पठितत्वात् । अन्तरिक्षाणि अन्तरिक्षोपलक्षि-तानि लोकत्रयस्थानानि वि अख्यत् विशेषेण ख्यापितवान् प्रकाशितवान् । कीदृशो रश्मिः गभीरवेपाः गम्भीरकम्पनः । रश्मेः प्रकम्पनं चलनं केनापि द्रष्टुमशक्यमित्यर्थः । असुरः सर्वेषां प्राणदः । तथा चान्यत्र आम्नायते-'सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै. आ. १.१४.१) इति । सुनीथः सुनयनः शोभनप्रापणः । मार्गप्रकाशनेन अभीष्ट- देशं प्रापयतीत्यर्थः । तादृशरश्मियुक्तः सूर्यः इदानीं रात्रौ क्व कुत्र वर्तते । तदेतद्रहस्यं कश्चिकेत को जानाति । न कोऽपि इत्यर्थः । अस्य सूर्यस्य रश्मिः कतमां द्याम् आ ततान कं द्युलोकं रात्रौ व्याप्तवान् । एतदपि को जानाति ।

अन्वय— गभीरवेपाः असुरः सुनीथः सुपर्णः अन्तरिक्षाणि वि अख्यत् । इदानीं सूर्यः क्व? अस्य रश्मिः कतमां द्याम् आ ततान, कः चिकेत ।

पदार्थ— गभीरवेपाः = गम्भीर कम्पनयुक्त । असुरः = प्राण देने वाली, शक्तिदात्री । सुनीथः = अच्छी प्रकार से मार्गदर्शन कराने वाली । सुपर्णः = सुन्दर किरण। अन्तरिक्षाणि = अन्तरिक्षलोकों को । वि अख्यत् = विशेष रूप से प्रकाशित किया है । इदानीम् = इस समय, अब । सूर्यः = सूर्य । क्व = कहाँ । अस्य = इसकी । रश्मिः = किरण । कतमां = किस । द्याम् = लोक तक । आ ततान = विस्तृत है, फैली है । कः = कौन । चिकेत = जानता है ।

अनुवाद— गम्भीर कम्पनयुक्त, प्राण देने वाली, अच्छी प्रकार से मार्ग-दर्शन कराने वाली (सवितृ देव की) सुन्दर किरण ने अन्तरिक्ष लोकों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है । इस समय इस (सवितृ

देव) की किरण किस लोक तक फैली है, (इसे) कौन जानता है?

व्याकरण—

१. सुपर्णः – सुष्ठु पर्णः। शोभनपतनः (सायण)। ग्रिफिथ–सूर्य। मैकडानल–पक्षी।

२. गभीरवेपाः – 'वेपा' √विप् + असुन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है।

३. असुरः – असुन् प्राणान् राति ददाति इति असुरः। प्राणदायक।

४. अख्यत् – √ख्या + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

५. क्वे३ दानीम् – यहाँ कम्प हुआ है। जब स्वतन्त्र स्वरित से ठीक बाद उदात्त आता है तब वह स्वरित कम्प कहलाता है। यदि स्वरित स्वर ह्रस्व वर्ण पर होता है तब उसके आगे १ चिह्न लिखा जाता है एवं जब स्वरित स्वर दीर्घ वर्ण पर होता है तब उसके ३ चिह्न लिखा जाता है तथा स्वरित स्वर को अनङ्कित छोड़ दिया जाता है।

६. ततान – √तन् + लिट्, प्रथमपुरुष,एकवचन।

७. चिकेत – √कित्, लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्या-
स्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगा-
द्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥८॥

पदपाठ— अष्टौ। वि। अख्यत्। ककुभः। पृथिव्याः। त्री। धन्व। योजना। सप्त। सिन्धून्। हिरण्यऽअक्षः। सविता। देवः। आ। अगात्। दधत्। रत्ना। दाशुषे। वार्याणि॥

सा०भा०— पृथिव्याः सम्बन्धिनीः अष्टौ ककुभः प्राच्याद्याचतस्रो दिश आग्ने-य्याश्चतस्रो विदिश इत्येवमष्टौ दिशः व्यख्यत् सविता प्रकाशितवान्। तथा योजना प्राणिन स्वस्वभोगेन योजयितृन् धन्व अन्तरिक्षोपलक्षितान् त्री त्रिसंख्याकान् पृथिव्यादि-लोकान् सप्त सिन्धून् गङ्गादिनदीः समुद्रान्वा सविता व्यख्यत्। हिरण्याक्षः। हित-रमणीयचक्षुर्युक्तो हिरण्यमयाक्षो वा सविता देव आगात् इहागच्छतु। किं कुर्वन्। दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्नानि दधत् प्रयच्छन्।

अन्वय— पृथिव्या अष्टौ ककुभः, त्री धन्व, सप्त सिन्धून्, योजना वि अख्यत्। हिरण्याक्षः सविता देवः दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् आ अगात्।

पदार्थ— पृथिव्याः = पृथिवी सम्बन्धी, पृथिवी की। अष्टौ = आठ। ककुभः = दिशाओं को। त्री = तीन। धन्व = लोकों को। सप्त = सात। सिन्धून् = नदियों को। योजना = प्राणियों के कर्म-फलों को। वि अख्यत् = विशेष रूप से प्रकाशित किया है। हिरण्याक्षः = सुवर्ण-सदृश नेत्रों वाला। सविता देव = सविता देव। दाशुषे = हविष्य प्रदान करने वाले के लिए। वार्याणि = इच्छित, अभीष्ट। रत्ना = बहु-मूल्य धनों को। दधत् = धारण करते हुए। आ आगात् = आ चुके हैं।

अनुवाद— (सविता देव ने) पृथ्वी की आठ दिशाओं को, तीन लोकों को, सात नदियों को (एवं) प्राणियों के कर्मफलों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। सुवर्ण-सदृश नेत्रों वाले सविता देव हविष्य प्रदान करने वाले (यजमान) के लिए अभीष्ट बहुमूल्य धनों को धारण करते हुए आ चुके हैं।

व्याकरण—

१. दाशुषे – √दाश् + क्वसु, चतुर्थी, एकवचन।

२. योजना – योजन, प्रथमा बहुवचन योजना प्राणिनः (सायण)।

३. हिरण्याक्षः – हिरण्यमयानि अक्षीणि यस्यासौ, स्वर्णिम आखों (किरणों) वाला (सायण)।

४. दधत् – √धा + शतृ, प्रथमा, एकवचन।

५. वार्याणि – वृङ् + ण्यत् द्वितीया, बहुवचन।

६. रत्ना – नपुंसक लिंग बहुवचन रत्नानि का वैदिक रूप।
७. अगात् – √गा + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणि-
रुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्य-
मभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥९॥

पदपाठ— **हिरण्यऽपाणिः। सविता। विऽचर्षणिः। उभे इति। द्यावापृथिवी इति। अन्तः। ईयते॥ अप। अमीवाम्। बाधते। वेति। सूर्यम्। अभि। कृष्णेन। रजसा। द्याम्। ऋणोति॥**

सा० भा०— हिरण्यपाणिः सुवर्णमयहस्तयुक्तः यद्वा यजमानेभ्यः दातुं हिरण्यं हस्ते धृतवान् 'विचर्षणिः विश्ववर्षणिः' (नि० ३.११.६) इति तन्नामसु पाठात्। सविता देवः उभे द्यावापृथिवी अन्तः उभयोर्लोकयोर्मध्ये ईयते गच्छति। अमीवां रोगादिबाधाम् अप बाधते सम्यक् निराकरोति। तथा सूर्यं वेति गच्छति। यद्यपि सवितृ-सूर्ययोरेकदेवतात्वं तथापि मूर्ति भेदेन गन्तृगन्तव्यभावः। कृष्णे तमसः कर्षणेन निव-र्तकेन रजसा तेजसा द्याम् आकाशम् अभि ऋणोति सर्वतो व्याप्नोति॥

अन्वय— हिरण्यपाणिः, विचर्षणिः सविता द्यावापृथिवी उभे अन्तः ईयते। अमीवाम् अप बाधते। सूर्यं वेति। कृष्णेन रजसा द्याम् ऋणोति॥

पदार्थ— हिरण्यपाणिः = स्वर्णिम हाथों वाला, स्वर्णयुक्त हाथों वाला। विचर्षणिः = सबको देखने वाला। सविता = सवितृ देव। द्यावापृथिवी = द्युलोक और पृथिवी। उभे = दोनों (लोकों) के। अन्तः = मध्यवर्ती (मार्ग से)। ईयते = गमन करता है। अमीवाम् = रोग आदि बाधाओं को। अप बाधते = पूर्ण रूप से विनष्ट कर डालता है। सूर्यम् = सूर्य के समीप। वेति = जाता है। कृष्णेन = अन्धकारयुक्त। रजसा = लोक से। द्याम् = द्युलोक को। ऋणोति = व्याप्त करता है।

अनुवाद— स्वर्णिम हाथों वाला (एवं) सबको देखने वाला सवितृ देव द्युलोक एवं पृथिवी दोनों (लोकों) के मध्यवर्ती (मार्ग से) गमन करता है। (प्राणियों के) रोग आदि बाधाओं को पूर्ण रूप से विनष्ट कर डालता है। सूर्य के समीप जाता है (तथा) अन्धकारयुक्त लोक से (आता हुआ) द्युलोक को व्याप्त करता है।

व्याकरण—

१. ईयते – √ई + लट्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचन।
२. बाधते – √बाध् + लट्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचन।
३. वेति– √वी + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।
४. ऋणोति – √ऋणु, लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

विशेष— इस मन्त्र में सवितृ देव का सूर्य के समीप गमन करना वर्णित है। यद्यपि सवितृ एवं सूर्य में अभेद है परन्तु मूर्ति-भेद से उपर्युक्त कथन सार्थक है।

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः
सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अप सेधन्रक्षसो यातुधाना-
नस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥१०॥

पदपाठ— **हिरण्यऽहस्तः। असुरः। सुऽनीथः। सुऽमृळीकः। स्वऽवान्। यातु। अर्वाङ्॥**

अपऽसेधन् । रक्षसः । यातुऽधानान् । अस्थात् । देवः । प्रतिऽदोषम् । गृणानः ॥

सा० भा०— हिरण्यहस्तः असुरः प्राणदाता सुनीथः सुष्ठु नेता प्रशस्य इत्यर्थः । 'सुनीथः पाकः' (नि० ३.८.७) इति प्रशस्यनामसु पाठात् । सुमृळीकः सुष्ठु सुखयिता स्ववान् धनवान् अर्वाङ् अभिमुखः कर्मदेशे गच्छतु । किं चायं देवः प्रतिदोषं प्रतिरात्रिं गृणानः स्तूयमानः अस्थात् स्थितवान् । किं कुर्वन्। रक्षसः बाधकत्वेन रक्षणनिमित्त-भूतान् 'रक्षो रक्षितव्यमस्मात्' (निरु० ४.१८) इति यास्कः । यातुधानान् असुरान् अप-सेधन् निराकुर्वन् ।

अन्वय— हिरण्यहस्तः असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववान् देवः अर्वाङ् यातु । प्रति दोषम् गृणानः रक्षसः यातुधानान् अपसेधन् अस्थात् ।

पदार्थ— हिरण्यहस्तः = स्वर्णयुक्त हाथों वाला, स्वर्णिम हाथों वाला । असुरः = प्राणदाता । सुनीथः = अच्छी प्रकार से मार्ग-दर्शन कराने वाला । सुमृळीकः = भली-भाँति सुख देने वाला । स्ववान् = धनवान् । देवः = देव । अर्वाङ् = हमारी ओर । यातु = आवे । प्रतिदोषम् = प्रत्येक रात्रि में । गृणानः = स्तुत होता हुआ, पुकारा जाता हुआ । रक्षसः = राक्षसों को । यातुधानान् = मायावियों को । अपसेधन् = दूर करता हुआ, विनष्ट करता हुआ । अस्थात् = स्थित हो गया है ।

अनुवाद— स्वर्णयुक्त हाथों वाला, प्राणदाता, अच्छी प्रकार से मार्ग दर्शन कराने वाला, भली-भाँति सुख देने वाला, धनवान् (सवितृ) देव हमारी ओर आवे । प्रत्येक रात्रि में स्तुत होता हुआ (सवितृ देव) राक्षसों (एवं) मायावियों को दूर करता हुआ स्थित हो गया है ।

व्याकरण—

१. सुमृळीकः – सु + √मृड् + ईकन्, प्रथमा एकवचन । ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य उच्चरित होने वाला 'ड्' ळ् में परिवर्तित हो जाता है ।
२. स्ववान् – सु + अवस्, प्रथमा एकवचन । संहितापाठ में नकार का लोप होकर आकार अनुनासिक हो गया ।
३. यातु – √या + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।
४. गृणानः – √गृ + शानच्, प्रथमा, एकवचन ।
५. अपसेधन् – अप + √सिध् + शतृ, प्रथमा, एकवचन ।
६. अस्थात् – √स्था + लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो-
ऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी-
रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥११॥

पदपाठ— ये । ते । पन्थाः । सवितरिति । पूर्व्यासः । अरेणवः । सुऽकृताः । अन्तरिक्षे ॥ तेभिः । नः । अद्य । पथिऽभिः । सुऽगेभिः । रक्षः । च । नः । अधि । च । ब्रूहि । देव ॥

सा० भा०— हे सवितः ते तव पन्थाः मार्गाः पूर्व्यासः पूर्वसिद्धाः अरेणवः धूलिरहिताः अन्तरिक्षे सुकृताः सुष्ठु सम्पादिताः । सुगेभिः सुष्ठुः गन्तुं शक्यैः तेभिः पथिभिः तैर्मार्गैरागत्य अद्य अस्मिन् दिने नः अस्मान् रक्ष च पालनमपि कुरु । तथा हे देव नः अस्मान् अनुष्ठातृन् अधि ब्रूहि च देवानामग्रेऽधिकत्वेन कथय च ॥

अन्वय— सवितः ते ये पूर्व्यासः अरेणवः अन्तरिक्षे सुकृताः पन्था: तेभिः सुगेभिः पथिभिः अद्य देव नः रक्ष अधि ब्रूहि च ।

पदार्थ— सवितः = हे सवितृ (देव) । ते = तुम्हारे । ये = जो । पूर्व्यासः = प्राचीन, पूर्वनिर्मित । अरेणवः = धूलिरहित । अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में । सुकृताः = अच्छी प्रकार से निर्मित । पन्थाः = मार्ग । तेभिः = उन्हीं । सुगेभिः = सुगम । पथिभिः = मार्गों से । अद्य = आज । देव = हे देव । नः = हमारी ।

रक्ष = रक्षा करो। च = तथा। अधि = ओर से। ब्रूहि = बोलो ॥

अनुवाद— हे सवितृ (देव)! तुम्हारे जो प्राचीन, धूलिरहित (एवं) अन्तरिक्ष में अच्छी प्रकार से निर्मित मार्ग हैं, उन्हीं सुगम मार्गों से आज (आकर) हे देव! हमारी रक्षा करो तथा हमारी ओर से बोलो ॥

व्याकरण—

१. पूर्व्यासः – पूर्व्य शब्द के प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में पूर्व्याः रूप बनता है।

२. पन्थाः – पथिन् का वैदिक रूप, लौकिक संस्कत में 'पन्थानः' बनेगा।

३. तेभिः – 'तत्' के तृतीया बहुवचन का वैदिक रूप। वैदिक भाषा में 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता। यहाँ यह आदेश नहीं हुआ है। लौकिक संस्कृत में तैः रूप बनता है।

४. पथिभिः एवं सुगेभिः – इन शब्द रूपों में भी उपर्युक्त 'भिस्' आदेश नहीं हुए हैं।

५. सुगेभी – सुगेभिः + रक्ष – यहाँ सुगेभिः के विसर्ग का रेफ होकर उसका लोप हुआ है तथा परिणामतः पूर्व स्वर का दीर्घ हो गया है। 'रोरि' 'ढ्रलोपेपूर्वस्य-दीर्घोऽणः' से।

६. रक्षा – रक्ष् + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। छान्दस् दीर्घता।

७. ब्रूहि – √ब्रू + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।

अभ्यास—

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) ह्वयाम्यग्निं प्रथमं.........................१

(ख) आ कृष्णेन रजसा.........................२

(ग) अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं...................४

(घ) वि सुवर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यत् ७

(ङ) ये ते पन्थाः सवितः........................११

(२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) अवसे।

(ख) हिरण्ययेन।

(ग) प्रउगम्।

(घ) उपस्थाँ।

(ङ) पूर्व्यासः।

(च) तेभिः

४.३ मरुत्-सूक्त

मण्डल- १ **सूक्त**–८५

ऋषि–गौतम **देवता**–मरुत् **छन्द**–१२वें मन्त्र में त्रिष्टुप् और शेष में जगती।

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन्नुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥१॥

पदपाठ—प्र। ये। शुम्भन्ते। जनयः। न। सप्तयः। यामन्। रुद्रस्य। सूनवः। सुऽदंससः। रोदसी। इति। हि। मरुतः। चक्रिरे। वृधे। मदन्ति। वीराः। विदथेषु। घृष्वयः ॥१॥

अन्वय—ये मरुतः यामन् जनयः न प्र शुम्भन्ते, सप्तयः रुद्रस्य सूनवः सुदंससः। हि वृधे रोदसी चक्रिरे वीराः घृष्वयः विदथेषु मदन्ते।

सायणः—ये मरुतः = मरुद्गणाः, यामन् = यामनि गमने निमित्तभूते सति, प्रशुम्भन्ते = प्रकर्षेण स्वीयान्यङ्गानि अलङ्कुर्वन्ति (तदलङ्करणम्) जनयो न = जाया इव (यथा योषितः स्वकीयान्यङ्गान्यलङ्कुर्वन्ति तद्वत्)। पुनस्ते सप्तयः = सर्पणशीलाः रुद्रस्य सूनवः = परमेश्वरस्य पुत्राः, सुदंससः = शोभनकर्माणः (सन्ति)। हि = यस्मात् (मरुतः), रोदसी = द्यावापृथिव्यौ। वृधे = वर्धनाय (वृष्टिप्रदानादिना), चक्रिरे = कृतवन्तः, पुनस्ते वीराः = विशेषेण शत्रुक्षेपणशीलाः, घृष्वयः = घर्षणशीला: विदथेषु = यज्ञेषु, मदन्ति = सोमपानेन हृष्यन्ति।

शब्दार्थ—प्रशुम्भन्ते = अच्छी प्रकार अपने अङ्गों को सजाते हैं। **जनयः न** = स्त्रियों के समान। **यामन्** = जाते समय। **सप्तयः** = सर्पणशील, भ्रमणशील। **रुद्रस्य** = रुद्र नामक परमेश्वर के। **सूनवः** = पुत्र। **सुदंससः** = उत्तम कर्म करने वाले। **चक्रिरे** = बनाया है। **वृधे** = वृद्धि के लिये। **मदन्ति** = प्रसन्न होते हैं। **वीराः** = विशेष रूप से फेंक देने वाले, प्रेरणा देने वाले। **विदथेषु** = युद्धों में। **घृष्वयः** = घर्षणशील।

हिन्दी अनुवाद—जो मरुत् नाम के देवता जाते समय, जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने अङ्गों को सजाती हैं, उसी प्रकार अपने अङ्गों को सजाते हैं, जो सर्पणशील अर्थात् भ्रमणशील है, रुद्र नामक परमेश्वर के पुत्र हैं और उत्तम कर्म करने वाले हैं, उन मरुत् देवताओं ने निश्चय ही वर्षा आदि द्वारा लोक की वृद्धि के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक को बनाया है और वे मरुत् शत्रुओं को विशेष रूप से फेंक देने वाले या प्रेरणा देने वाले तथा घर्षणशील अर्थात् अपनी टक्करों से वृक्ष, पर्वत आदि को गिरा देने वाले होते हुये यज्ञों में सोमपान के द्वारा प्रसन्न होते हैं।

व्याकरण—

शुम्भन्ते–'शुम्भ् दीप्तौ' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जनयः–'जायते अस्याम् अपत्यम्' अर्थ में, 'जन्' धातु से 'इन् सर्वधातुभ्यः' से 'इन्' प्रत्यय। जन् + इन् (इ) = जनि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

यामन्–'या प्रापणे' धातु से या + मनिन् (मन्) = यामन्। सप्तमी विभक्ति के अर्थ में विभक्ति का छान्दस लोप।

घृष्वयः–घृषु 'संघर्षे' धातु से 'विन्' प्रत्यय। घृष + विन् = घृष्वि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

विशेष—मैकडालन ने 'सुदंससः' का अर्थ 'आश्चर्यों वाले' (wonderous) किया है।

त उ॑क्षि॒तासो॑ महि॒मान॑माशत दि॒वि रु॒द्रासो॒ अधि॑ चक्रि॒रे सद॑ः।

अर्च॑न्तो अ॒र्कं ज॒नय॑न्त इन्द्रि॒यम् अधि॒ श्रियो॑ दधिरे॒ पृश्नि॑मातरः ॥२॥

पदपाठ–ते। उ॒क्षि॒तास॑ः। म॒हि॒मान॑म्। आ॒श॒त॒। दि॒वि। रु॒द्रास॑ः। अधि॑। च॒क्रि॒रे। सद॑ः। अर्च॑न्तः। अ॒र्कम्। ज॒नय॑न्तः। इ॒न्द्रि॒यम्। अधि॑। श्रिय॑ः। द॒धि॒रे॒। पृश्नि॑ऽमातरः ॥२॥

अन्वय—उक्षितासः ते महिमानम् आशत। रुद्रासः दिवि सदः अधिचक्रिरे अर्कम् अर्चन्तः इन्द्रियम् जनयन्तः पृश्निमातरः श्रियः अधिदधिरे।

सायण—ये पूर्वोक्तगुणविशिष्टाः ये मरुतः उक्षितासः ये देवैरभिषिक्ताः सन्तः महिमानं महत्त्वं आशत प्राप्नुवन्। रुद्रासः रुद्रस्य पुत्राः। उपचाराज्जन्ये जनक शब्दः। ते रुद्रपुत्रा मरुतः दिवि द्योतमाने नभसि सदः सदनं स्थानम् अधिचक्रिरे अधिकं सर्वोत्कृष्टं कृतवन्तः। अर्कम् अर्चनीयमिन्द्रम् अर्चन्तः पूजयन्तः इन्द्रियम् लिङ्गं वीर्यं जनयन्तः। प्रहर भगवो जहि वीरयस्व (ऐ०ब्रा० ३.२०) इत्येवं रूपेण वाक्येनोत्पादयन्तः। पृश्निमातरः (पृश्नेर्नानारूपायाः भूमेः पुत्राः मरुतः) श्रियः ऐश्वर्याणि अधि दधिरे आधिक्येनाधारयन।

शब्दार्थ—उक्षितासः = अभिषिक्त होते हुये। **आशत** = प्राप्त किया है। **दिवि** = प्रकाशमान द्युलोक में। **रुद्रासः** = रुद्र के पुत्र। **सदः** = स्थान को। **अधिचक्रिरे** = सर्वोकृष्ट बनाया है। **अर्चन्तः** = पूजा करते हुये। **अर्कम्** = पूजनीय इन्द्र की। **जनयन्तः** = उत्पन्न करते हुये। **इन्द्रियम्** = इन्द्र के चिह्नभूत पराक्रम को। **श्रियः** = ऐश्वर्यों को। **अधिदधिरे** = अधिकार पूर्वक धारण किया है। **पृश्निमातरः** = नाना रूपों वाली भूमि के पुत्र।

हिन्दी अनुवाद—देवताओं द्वारा अभिषिक्त होते हुये उन मरुतों ने महिमा को प्राप्त किया है। रुद्र के पुत्र उन मरुतों ने प्रकाशमान द्युलोक में अपने स्थान को सर्वोत्कृष्ट बनाया है। पूजनीय इन्द्र की पूजा करते हुये और इन्द्र के चिह्नभूत पराक्रम को उत्पन्न करते हुये, नाना रूपों वाली भूमि के पुत्र उन मरुतों ने ऐश्वर्यों को अधिकार पूर्वक धारण किया है।

व्याकरण—

उक्षितासः–'उक्ष् सेचने' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय = उक्षित। प्रथमा का एकवचन वैदिक रूप। अथवा उक्षित + असुक् = उक्षितासः।

पृश्निमातरः–प्राश्नुते सर्वानि रूपाणि इति पृश्निः भूमिः। पृश्निः माता येषां ते पृश्निमातरः।

विशेष—मैक्डानल ने 'उक्षितासः' का अर्थ 'having waxed strong' और 'अर्कम् अर्चन्तः' का अर्थ 'singing their songs' किया है।

गोमा॑तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स् त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः।

बाध॑न्ते॒ विश्व॑मभिमा॒तिन॒मप॒ वर्त्मा॑न्येषा॒मनु॑ रीयते घृ॒तम् ॥३॥

पदपाठ–गोऽमा॑तरः। यत्। शु॒भय॑न्ते। अ॒ञ्जिऽभि॑ः। त॒नूषु॑। शु॒भ्राः। द॒धि॒रे॒। वि॒रुक्म॑तः। बाध॑न्ते। विश्व॑म्। अ॒भि॒ऽमा॒तिन॑म्। अप॑। वर्त्मा॑नि। ए॒षा॒म्। अनु॑। री॒य॒ते॒। घृ॒तम् ॥३॥

अन्वय—गोमातरः यत् अञ्जिभिः शुभयन्ते तनूषु शुभ्राः विरुक्मतः दधिरे। विश्वम् अभिमातिनम् अपबाधन्ते, एषाम् वर्त्मानि अनु घृतम् रीयते।

सायणः—गोमातरः गोरूपा भूमिर्माता येषां ते मरुतः अञ्जिभिः रूपाभिव्यञ्जकैराभरणैः, यत् यदा शुभयन्ते स्वकीयान्यङ्गानि शोभायुक्तानि कुर्वन्ति तदानीं शुभ्रा दीप्ता मरुतः तनुषु स्वशरीरेषु विरुक्मतः विशेषेण रोचमानानलङ्कारान् दधिरे धारयन्ति। अपि च विश्वं सर्वम् अभिमातिनं शत्रुम् अपबाधन्ते हिंसन्ति। एषां मरुतां वर्त्मानि मार्गाननुसृत्य घृतं क्षरणशीलमुदकं रीयते स्रवति। यत्र मरुतो गच्छन्ति वृष्ट्युदकम् अपि तदनुसारेण तत्र गच्छतीत्यर्थः।

शब्दार्थ—गोमातरः = पृथिवी माता के पुत्र। **शुभयन्ते** = अलङ्कृत करते हैं। **अञ्जिभिः** = रूप को उज्जवल करने वाले अलङ्कारों से। **शुभ्राः** = श्वेत। **विरुक्भतः** = विशेष रूप से चमकने वाले। **अभिमातिनम्** = शत्रुओं को। **अपबाधन्ते** = मार डालते हैं। **वर्त्मानि अनु** = मार्गो का अनुसरण करके। **घृतम्** = बरसने वाला जल। **रीयते** = बहता है।

हिन्दी अनुवाद—गौ अर्थात् पृथिवी रूप माता के पुत्र ये मरुत् देवता जब रूप को उज्ज्वल करते वाले अलङ्कारों से अपने अङ्गों को अलङ्कृत करते हैं, अपने शरीरों पर श्वेत विशेष रूप से चमकने वाले अलङ्कारों को धारण करते हैं और सभी शत्रुओं को मार डालते हैं, तो इनके मार्गो का अनुसरण करके बरसने वाला जल भी बहता है।

व्याकरण—

अञ्जिभिः–'अञ्ज्' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय = अञ्जि। तृतीया विभक्ति का बहुवचन।

विरुक्मतः–रोचते इति, अर्थ में रुच् + क्विप् = रुक्। विशिष्टा रुक् = विरुक्। 'विरुक् यस्य स' अर्थ में मतुप् प्रत्यय = विरुक्मत्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

शुभ्राः–'शुभ् दीप्तौ' धातु से 'र' प्रत्यय = शुभ्र।

अभिमातिमन्–'अभि + मीञ् हिंसायाम्' धातु से क्त प्रत्यय = अभिमात। 'अभिमातम् अस्य

अस्ति' अर्थ में इनि प्रत्यय = अभिमातिन्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन = अभिमातिनम्। अभिमुखीभूय हिनस्ति इति अभिमाती शत्रुः।

विशेष—मैक्डानल ने 'विरुक्मतः' का अर्थ 'चमचमाते शस्त्र' करके इस प्रकार अर्थ किया है—(They put on their bodies brilliant weapons)। 'घृतम्' का अर्थ वसा युक्त होता (fatness) है।

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥४॥

पदपाठ–वि। ये। भ्राजन्ते। सुऽमखासः। ऋष्टिऽभिः। प्रऽच्यावयन्तः। अच्युता। चित्। ओजसा। मनःऽजुवः। यत्। मरुतः। रथेषु। आ। वृषऽव्रातासः। पृषतीः। अयुग्ध्वम् ॥४॥

अन्वय—सुमखासः ये ऋष्टिभिः विभ्राजन्ते ओजसा अच्युता चित् प्रच्यावयन्तः मरुतः मनोजुवः वृषव्रातासः रथेषु यत् पृषतीः आ अयुग्ध्वम्।

सायणः—सुमखासः शोभनयज्ञाः ये मरुतः, ऋष्टिभिः आयुधैः विभ्राजन्ते विशेषेण दीप्यन्ते ते मरुतः अच्युताः चित् च्यावयितुमशक्यानि दृढानि पर्वतादीनि ओजसा स्वकीयेन बलेन प्रच्यावयन्तः प्रकर्षेण च्यावयितारः प्रेरयितारो भवन्ति। उत्तरार्धः प्रत्यक्षकृतः। हे मरुतः मनोजुवः मनोवद्वेगगतयः वृषव्रातासः वृष्ट्युदकसेचनसमर्थसप्तसङ्घात्मका यूयं रथेषु आत्मीयेषु 'पृषतीः पृषत्य इति मरुद्वाहनानां संज्ञा पृषत्यो मरुताम्' (नि० १.१५.६) इत्युक्तत्वात् पृषद्भिः श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगीः यत् यदा आ युग्मध्वम् आभिमुख्येन नियुक्ता अकृढ्वम्। तदानीं पर्वतादिकं प्रच्यवते इत्यर्थः।

शब्दार्थ—विभ्राजन्ते = विशेष रूप से शोभायमान होते हैं। **सुमखासः** = उत्तम यज्ञ वाले। **ऋष्टिभिः** = आयुधों में। **प्रच्यावयन्तः** = गिरा देने वाले। **अच्युता** = गिराये न जा सकने वाले। **मनोजुवः** = मन के समान तीव्र गति वाले। **वृषव्रातासः** = वृष्टि को उत्पन्न करने वाले सात वायुओं से संघर्ष करने वाले। **पृषतीः** = सफेद बिन्दुओं से अलङ्कृत मृगियों को। **आ अयुग्ध्वम्** = जोतते हो।

हिन्दी अनुवाद—उत्तम यज्ञ वाले जो मरुत् देवता अपने आयुधों से विशेष रूप से शोभायमान होते हैं, वे अपने बल से गिराये न जा सकने वाले पर्वतों को भी गिरा देते हैं। ऐसे हे मरुत् देवताओ! मन के समान तीव्र गति वाले और वृष्टि को उत्पन्न करने वाली सात वायुओं से संघर्ष करने वाले तुम अपने रथों में जब सफेद बिन्दुओं से अलङ्कृत मृगियों को जोतते हो, तब तुम्हारे रथ की गति से पर्वत आदि गिर जाते हैं, यह भाव है।

व्याकरण—

मनोजुवः–'जु' गतौ धातु से क्विप्। मनः जूः येषां ते मनोजुवः।

विशेष—मैक्डानल ने 'सुमखासः' का अर्थ 'बड़े योद्धा' (great warriors), 'ऋष्टि' का अर्थ 'भाला' (spear), 'वृषव्रातासः' का अर्थ शक्तिशाली सेनायें (strong hosts) और 'पृषतीः' का अर्थ 'घोड़ियाँ' (mares) किया है।

प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।
उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश् चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम ॥५॥

पदपाठ–प्र। यत्। रथेषु। पृषतीः। अयुग्ध्वम्। वाजे। अद्रिम्। मरुतः। रंहयन्तः। उत्। अरुषस्य। वि। स्यन्ति। धाराः। चर्मऽइव। उदऽभिः। वि। उन्दन्ति। भूम ॥५॥

अन्वय—मरुतः! यत् रथेषु पृषतीः प्र अयुग्ध्वम् अद्रिम् वाजे रंहयन्तः, उत अरुषस्य धाराः विष्यन्ति चर्म इव भूम उदभिः व्युन्दन्ति।

सायण—हे मरुतः पृषतीः यत् यदा रथेषु प्र अयुग्ध्वं प्रायूयुजत। किं कुर्वन्तः। वाजे अन्ने निमित्तभूते सति अद्रिं मेघं रंहयन्तः वर्षणार्थं प्रेरयन्तः। उत तदानीम् अरुषस्य आरोचमानस्य सूर्यस्य वैद्युताग्नेर्वा सकाशाद् वृष्ट्युदकधाराः भवन्तः विष्यन्ति विमुञ्चन्ति। विमुक्तास्ताश्च धाराः उदभिः उदकैः चर्मेव परिमितमल्पं चर्म यथा अप्रयासेन क्लेद्यते एवं भूम सर्वां भूमिं व्युन्दन्ति विशेषेणार्द्रां कुर्वन्ति।

शब्दार्थ—वाजे = अन्न की उत्पत्ति के लिये। **अद्रिम्** = मेघ को। **रंहयन्तः** = प्रेरित करते हो। **उत** = उस समय। **अरुषस्य** = न चमकने वाले सूर्य की, बिजलियों के सामर्थ्य से गिरने वाले जल की। **विष्यन्ति** = बरसने लगती हैं। **उदभिः** = जलों से। **व्युन्दन्ति** = भिगो देती हैं। **भूम** = पृथिवी को।

हिन्दी अनुवाद—हे मरुत् देवताओ! जब तुम अपने रथों में श्वेत बिन्दुओं वाली हरियाली रूप वाहनों को जोतते हो और मेघ को अन्न की उत्पत्ति के निमित्त वर्षा करने के लिये प्रेरित करते हो, उस समय न चमकने वाली सूर्य के या बिजलियों के सामर्थ्य से गिरने वाली जल की धारायें गीले चमड़े के समान सारी पृथिवी को जलों से भिगो देती हैं।

व्याकरण—

रंहयन्तः–णिजन्त 'रहि गतौ' धातु से शतृ प्रत्यय = रंहयत्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

स्यन्ति–'षो अन्तकर्मणि' इस दिवादिगणी धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

उन्दन्ति–'उन्दी क्लेदने' धातु से लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

भूम–द्वितीया का एकवचन। 'सुपां सुलुक्०' सूत्र से विभक्ति को 'डा' आदेश और छान्दस, ह्रस्व।

विशेष—मैक्डानल ने इस मन्त्र का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। उसने 'वाजे' का अर्थ 'तेज चलने वाली', 'आद्रीं' का अर्थ 'युद्ध में पत्थर के समान दृढ़', अरुषस्य का अर्थ 'चमकदार' और 'चर्म' का अर्थ 'त्वचा' किया है। इसके अनुसार पूरे मन्त्र का अर्थ, इस प्रकार है—When ye have yoked the spotted mares before your cars, speeding, O Maruts the stone in the conflict, they discharge the streams of the ruddy (stone) and moisten the earth like a skin with waters. ।

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥६॥

पदपाठ—आ। वः। वहन्तु। सप्तयः। रघुऽस्यदः। रघुऽपत्वानः। प्र। जिगात। बाहुऽभिः। सीदत। आ। बर्हिः। उरु। वः। सदः। कृतम्। मादयध्वम्। मरुतः। मध्वः। अन्धसः ॥६॥

अन्वय—मरुतः! रघुष्यदः सप्तयः वः वहन्तु। रघुपत्वानः बाहुभिः प्रजिगात। वः सदः उरु कृतम् बर्हिः आसीदत। मध्वः अन्धसः मादयध्वम्।

सायण—हे मरुतः वः युष्मान् सप्तयः सर्पणशीला अश्वाः आ वहन्तु। कीदृशाः सपतयः। रघुष्यदः लघु शीघ्रं स्यन्दमानाः वेगेन गच्छन्त इत्यर्थः। रघुपत्वानः लघु शीघ्रं पतन्तो गच्छन्तो यूयं बाहुभिः स्वकीयैर्हस्तैः अस्मभ्यं दातव्यं धनमाहृत्य प्र जिगात प्रकर्षेण गच्छत। हे मरुतः! वः युष्माकं सदः सदनं वेदिलक्षणं स्थानम् उरु विस्तीर्ण कृतम्। तत्र यदास्तीर्ण बर्हिः तत् आ सीदत तस्मिन् बर्हिष्युपविशत। उपविश्य च मध्वः मधुरस्य अन्धसः सोमलक्षणस्यान्नस्य पानेन मादयध्वं तृप्ता भवत।

शब्दार्थ—सप्तयः = घोड़े। **रघुष्यदः** = तीव्र गति वाले। **रघुपत्वानः** = शीघ्रता से चलते हुये। **प्रजिगात** = शीघ्र चले आओ। **आ सीदत** = आकर बैठो। **बर्हिः** = कुशा पर। **उरु कृतम्** = विस्तीर्ण कर दिया है। **सदः** = स्थान को। **मादयध्वम्** = तृप्त हो जाओ। **मध्वः** = मीठे। **अन्धसः** = सोमरस रूप अन्न का।

हिन्दी अनुवाद—हे मरुतो! तीव्र गति वाले घोड़े तुमको हमारे यज्ञों में ले आवें। शीघ्रता से चलते हुये तुम अपने हाथों से लाये हुये हमारे लिये दातव्य धन को लेकर शीघ्र चले आओ। हे मरुतो! हमने तुम्हारे उस यज्ञ की वेदि रूप स्थान को विस्तीर्ण कर दिया है। तुम इस बिछाये हुये कुशा पर आकर

बैठो और बैठकर मीठे सोमरस रूप अन्न का उपभोग करके तृप्त हो जाओ।

व्याकरण—

रघुष्यदः–रलयोरभेदः। 'लघु स्यन्दितुं शीलं येषां ते' अर्थ में रघु + स्यन्द् + क्विप् = रघुष्यद्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

विशेष—मैक्डालन ने 'मादयध्वम्' का अर्थ 'आनन्द लेना' (rejoice) किया है, जबकि सायण ने इसका अर्थ 'तृप्त होना' किया है।

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।
विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये ॥७॥

पदपाठ— ते। अवर्धन्त। स्वऽतवसः। महिऽत्वना। आ। नाकम्। तस्थुः। उरु। चक्रिरे। सदः। विष्णुः। यत्। ह। आवत्। वृषणम्। मदऽच्युतम्। वयः। न। सीदन्। अधि। बर्हिषि। प्रिये ॥७॥

अन्वय—ते स्वतवसः अवर्धन्त। महित्वना आ नाकं तस्थुः। उरु सदः चक्रिरे। यत् वृषणम् मदच्युतम् विष्णुः ह आवत्, प्रिये बर्हिषि वयः न अधिसीदन्।

सायण—ते मरुतः अवर्धन्त वृद्धिं गताः। कीदृशाः। स्वतवसः स्वाश्रयबलाः। नान्यस्य कस्यचिद् बलमपेक्षन्ते। वृद्धिं प्राप्य महित्वना महिम्ना महत्त्वेन नाकं स्वर्गम् आ तस्थुः आस्थितवन्तः। सदः सदनं नभोलक्षणं स्थानं च स्वकीयनिवासाय उरु विस्तीर्णं चक्रिरे। यत् येभ्यो मरुद्भ्यो यदर्थं वृषणं कामाभिवर्षकं मदच्युतं मदस्य हर्षस्य आसेक्तारं यज्ञं विष्णुः ह आवत् विष्णुरेवागत्य रक्षति ते मरुतः वयो न पक्षिणो यथा शीघ्रमागच्छन्ति एवं शीघ्रमागत्य बर्हिषि अधि अस्मदीये यज्ञे प्रिये प्रीतिकरे सीदन् सीदन्तु उपविशन्तु।

शब्दार्थ—**अवर्धन्त** = वृद्धि को प्राप्त हुये। **स्वतवसः** = अपने बल से। **महित्वना** = महिमा से। **नाकम्** = स्वर्ग। **आ तस्थुः** = अधिकार कर लिया है। **उरु** = विस्तृत। **सदः** = आकाश रूपी स्थान को। **आवत्** = रक्षा की है। **वृषणम्** = कामनाओं की पूर्ति करने वाले। **मदच्युतम्** = हर्ष को देने वाले। **वयः न** = पक्षियों के समान। **अधिसीदन्** = आकर बैठें।

हिन्दी अनुवाद—वे मरुत् देवता अपने ही बल का आश्रय लेकर वृद्धि को प्राप्त हुये हैं। अपनी महिमा से उन्होंने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है। उन्होंने अपने रहने के लिये विस्तृत आकाश रूपी स्थान को बना लिया है। जिन मरुतों के लिये कामनाओं की पूर्ति करने वाले और हर्ष को देने वाले यज्ञ की स्वयं विष्णु ने ही रक्षा की है। प्रीति देने वाले उस यज्ञ की वेदि पर बिछी कुशा पर मरुत् पक्षियों के समान शीघ्र आकर बैठें।

व्याकरण—

आवत्–'अव रक्षणे' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार।

मदच्युतम्–'मदं च्योतयति' अर्थ में मद + च्युत् + क्विप् = मदच्युत्।

विशेष—'मदच्युतं वृषणम्' का मैक्डानल ने अर्थ किया है–'मस्त हुआ बैल' (bull reeling with introx ication)। इस बैल की रक्षा विष्णु करते हैं।

शूरा इवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥८॥

पदपाठः

पदपाठ—शूराःऽइव। इत्। युयुधयः न जग्मयः। श्रवस्यवः। न। पृतनासु। येतिरे। भयन्ते। विश्वा। भुवना। मरुत्ऽभ्यः। राजानःऽइव। त्वेषऽसंदृशः। नरः ॥८॥

अन्वय—शूरा: इव इत् युयुधय: न जग्मय: श्रवस्यव: न पृतनासु येतिरे । मरुद्भ्य: विश्वा भुवना भयन्ते । नर: राजान: इव त्वेषसंदृश: ।

सायण—इत् इत्येतत् समुच्चये शूरा इवेत् शौर्योपेता: युयुत्सव: पुरुषा: इव च युयुधय: शत्रुभिर्युध्यमाना: पुरुषा इव च जग्मय: शीघ्रं गच्छन्तो मरुत: श्रवस्यवो न श्रवोऽन्नमात्मन इच्छन्त: पुरुषा इव पृतनासु संग्रामेषु येतिरे प्रयतन्ते वृत्रादिभिर्युद्धे व्याप्रियन्ते । तादृशेभ्य: मरुद्भ्य: विश्वा भुवना सर्वाणि भूतजातानि भयन्ते बिभ्यति । ये नर: वृष्ट्यादेर्नेतारो मरुत: राजान इव राजमाना नृपतय इव त्वेषसंदृश: दीप्तसंदर्शना उग्ररूपतया द्रष्टुमशक्या भवन्ति तेभ्य इत्यर्थ: ।

शब्दार्थ—**युयुधय:** = युद्ध करने की इच्छा करने वाले । **जग्मय:** = तीव्रता से चलने वाले । **श्रवस्यव:** = अन्न या कीर्ति की इच्छा रखने वाले । **पृतनासु** = संग्रामों में । **येतिरे** = प्रयत्न करते हैं । **नर:** = वृष्टि आदि को लाने वाले । **त्वेषसंदृश:** = चमचमाते हुये रूप वाले ।

हिन्दी अनुवाद—शौर्य से युक्त पुरुषों के समान और युद्ध करने की इच्छा करने वाले पुरुषों के समान तीव्रता से चलने वाले एवं अपने लिये अन्न या कीर्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के समान ये मरुत् देवता संग्रामों में प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार के मरुतों से सभी लोक डरते हैं । वृष्टि आदि के लाने वाले वे मरुत् उज्ज्वल राजाओं के सामने चमचमाते हुये रूप वाले हैं । अर्थात् उग्र रूप वाला होने के कारण उनकी ओर देखना सम्भव नहीं है ।

व्याकरण—

युयुधय:–'युध् सम्प्रहारे' धातु से 'उत्सर्गश्छन्दसि' से क्विन् (इ) प्रत्यय । द्वित्व होकर = युयुधि । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

जग्मय:–गम् + क्विन् = जग्मि । प्रथमा का बहुवचन ।

श्रवस्यव:–'श्रव: आत्मने इच्छति' अर्थ में 'वयाच्छन्दसि' सूत्र से 'यु' प्रत्यय । श्रवस् + यु = श्रवस्यु । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

त्वेषसंदृश:–'त्विष् दीप्तौ', धातु से 'पचाद्यच्' अच् प्रत्यय । त्विष् + अच् (अ) त्वेष । सम् + दृश् + क्विप् = संदृश । त्वेष: संदृक् येषां ते ।

विशेष—मैक्डानल के अनुसार 'श्रवस्यव:' का अर्थ 'कीर्ति को चाहने वाले' (fame seeking), 'येतिरे' का अर्थ 'व्यूह-बद्ध खड़ा होना' (have arrayad) और 'त्वेषसंदृश:' का अर्थ 'भयानक आकृति वाले (of terroble aspect) है ।

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् ।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥९॥

पदपाठ— त्वष्टा । यत् । वज्रम् । सुऽकृतम् । हिरण्ययम् । सहस्रऽभृष्टिम् । सुऽअपा: । अवर्तयत् । धत्ते । इन्द्र: । नरि । अपांसि । कर्तवे । अहन् । वृत्रम् । नि: । अपाम् । औब्जत् । अर्णवम् ॥९॥

अन्वय—स्वपा: त्वष्टा यत् सुकृतम् हिरण्ययम् सहस्रभृष्टिम् वज्रम् अवर्तयत् इन्द्र: नरि अपांसि कर्तवे धत्ते । वृत्रम् अर्णवम् अहन् अपाम् नि: औब्जत् ।

शायण—स्वपा: शोभनकर्मा त्वष्टा विश्वनिर्माता यद्वज्रम् अवर्तयत् इन्द्रं प्रत्यगमयत् दत्तवानित्यर्थ: । कीदृशम् । सुकृतं सम्यङ् निष्पादितं हिरण्ययं सुवर्णमयं सहस्रभृष्टिम् अनेकाभिर्धाराभिर्युक्तम् । तद्वज्रम् इन्द्र: धत्ते धारयति । किमर्थम् । नरि । अत्र नृसम्बन्धात् नृशब्देन संग्रामोऽभिधीयते । संग्रामे अपांसि शत्रुहननादिलक्षणानि कर्माणिा कर्तवे कर्तुम् । एवं वज्रं धृत्वा तेन वज्रेण वृत्रं वृष्ट्याद्युदकस्यावरकम् अर्णवम् अर्णवोदकेन युक्तं मेघम् अहन् अवधीत् । अपां तेन विरुद्धा अपश्च स: नि: औब्जत् नि:शेषेण अधोमुखमपातयत् । प्रवृष्टा अकरोदित्यर्थ: ।

शब्दार्थ—**त्वष्टा** = विश्व की रचना करने वाला देवता । **सुकृतम्** = अच्छी प्रकार से बनाया गया ।

हिरण्ययम् = सोने का बनाया हुआ। **सहस्रभृष्टिम्** = हजारों धारों वाला। **स्वपाः** = उत्तम कार्य करने वाला। **अवर्तयत्** = दिया था। **नरि** = युद्ध में। **कर्तवे** = मुक्त करने के लिये। **अहन्** = मारा। **वृत्रम्** = वर्षा को रोकने वाले वृत्र को। **अपाम्** = जलों को। **निःऔब्जत्** = नीचे गिरा दिया। **अर्णवम्** = जल से भरे हुये मेघ को।

हिन्दी अनुवाद—उत्तम कार्य करने वाले और विश्व की रचना करने वाले त्वष्टा देवता ने अच्छी प्रकार से बनाये गये, सोने के बनाये हुये हजारों धारों वाले जिस वज्र को इन्द्र के लिये दिया था, इन्द्र उस वज्र को युद्ध में जलों को मुक्त करने के लिये अथवा शत्रुहनन आदि कर्मों को करने के लिये धारण करता है। उस इन्द्र ने वर्षा को रोकने वाले वृत्र को, जल से भरे हुये मेघ को मारा तथा जलों को सम्पूर्ण रूप से नीचे गिरा दिया अर्थात् बरसा दिया।

व्याकरण—

हिरण्ययम्–'हिरण्यस्य विकार:' अर्थ में हिरण्य = मयट्, 'म' का छान्दस लोप = हिरण्यय।

कर्तवे–'कर्तुम्' अर्थ में 'कृ' धातु से 'तुमर्थे सेसेन्' तवे (अवे) प्रत्यय।

औब्जत्–उब्ज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अर्णवम्–'अर्णांसि अस्य सन्ति' अर्थ में 'व' प्रत्यय। अर्णस् + व (स का लोप) = अर्णव।

विशेष—मैक्डानल ने 'नरि' का अर्थ 'मनुष्योचित' (manly) और 'अपांसि' का अर्थ 'कार्य' (deeds) किया है।

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥१०॥

पदपाठ—ऊर्ध्वं । नुनुद्रे । अवतम् । ते । ओजसा । दादृहाणम् । चित् । बिभिदुः । वि । पर्वतम् । धमन्तः । वाणम् । मरुतः । सुऽदानवः । मदे । सोमस्य । रण्यानि । चक्रिरे ॥१०॥

अन्वय—ते अवतम् ओजसा ऊर्ध्वम् नुनुद्रे। ददृहाणम् चित् पर्वतम् वि बिभिदुः। सुदानवः मरुतः वाणम् धमन्तः सोमस्य रण्यानि चक्रिरे।

सायण—अथेयम् आख्यायिका। गोतम ऋषिः पिपासया पीडितः सन् मरुत उदकं ययाचे। तदनन्तरं मरुतोऽदूरस्थं कूपमुद्धृत्य यत्र स गोतम ऋषिस्तिष्ठति तां दिशं नीत्वा ऋषिसमीपे कूपमवस्थाप्य तत्पार्श्वे आहावं च कृत्वा कृत्वा तस्मिन्नाहावे कूपमुत्सिच्य तमृषिं तेनोदकेन तर्पयाञ्चक्रुः। अयमर्थोऽनयोत्तरया च प्रतिपाद्यते। ते मरुतः अवतम्। अवस्तात्ततो भवतीति अवतः कूपः कूपनामसु च 'अवतः अवटः' (नि० ६.२३.७) इति पठितम्। तम् ऊर्ध्वम् उपरि यथा भवति तथा ओजसा स्वकीयेन बलेन नुनुद्रे प्रेरितवन्तः उत्खातवन्त इत्यर्थः। एवं कूपमूत्खाय ऋषेराश्रमं प्रति नयन्तः मरुतः मार्गमध्ये ददृहाणं प्रवृद्धं गतिनिरोधकं पर्वतं चित् पर्ववन्तं शिलोच्चयमपि वि बिभिदुः विशेषेण बभञ्जुः। सुदानवः शोभनदानास्ते मरुतः वाणं शतसंख्याभिः तन्त्रीभिर्युक्तं वीणाविशेषं धमन्तः वादयन्तः सोमस्य मदे सोमपानेन हर्षे सति रण्यानि स्तुत्यानि रमणीयानि धानानि चक्रिरे स्तोतृभ्यः कुर्वन्ति।

शब्दार्थ—ऊर्ध्वम् = ऊपर तक। **नुनुद्रे** = प्रेरित किया है। **अवतम्** = नीचे तल वाले कुएँ को। **ददृहाणम्** = गतिरोधक पर्व वाले पर्वत को। **बिभिदुः** = तोड़ दिया है। **धमन्तः** = बजाते हुये। **बाणम्** = सौ तारों वाली विशेष प्रकार की वीणा। **सुदानवः** = उत्तम दान करने वाले। **मदे** = प्रसन्नता में। **रण्यानि** = रमणीय धनों को।

हिन्दी अनुवाद—उन मरुत् देवताओं के नीचे तल वाले इस कुएँ को अपने बल से ऊपर तक प्रेरित किया है। अर्थात् जिस प्रकार से उसमें ऊपर तक पानी भर जावे, उस प्रकार से खोदा है। उस कुएँ को ऋषि के आश्रम की ओर ले जाते हुये मार्ग में बढ़े हुये गतिरोधक पर्व वाले पर्वत को तोड़ दिया है। उत्तम दान करने वाले इन मरुतों ने सौ तारों वाली एक विशेष प्रकार की वीणा को बजाते हुये सोमपान की प्रसन्नता में रमणीय धनों को उपासकों को प्रदान किया है।

व्याकरण—

ददृहाणम्–'दृहि बृद्धौ' धातु से लिट् लकार के अर्थ में 'कानच्' प्रत्यय ।

रण्यानि–रण् धातु से यत् प्रत्यय ।

धमन्तः–ध्मा + शतृ = धमत् ।

सुदानवः–शोभनं दानं येषां ते सुदानवः ।

विशेष—मैक्डानल ने 'रण्यानि' का अर्थ 'यशस्वी कार्य (glorious deeds) किया है । इस सूक्त के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है । एक बाद प्यास से व्याकुल गोतम ऋषि ने मरुतों से जल माँगा । मरुतों ने एक कुँआ खोदा और उसको उठाकर ऋषि के पास ले अये । वहाँ उन्होंने एक चौबच्चा बनाकर और उसमें कुएँ के जल को भर ऋषि को पिलाया ।

जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशा सिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे ।

आ ·छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः ॥११॥

पद ाठ—जिह्मम् । नुनुद्रे । अवतम् । तया । दिशा । असिञ्चन् । उत्सम् । गोतमाय । तृष्णऽजे । आ । गच्छन्ति । ईम् । अवसा । चित्रऽभानवः । कामम् । विप्रस्य । तर्पयन्त । धामऽभि. ।११॥

अन्वय—अवतम् तया दिशा जिह्मं नुनुद्रे, तृष्णजे गोतमाय उत्सम् असिञ्चन् । चित्रभानवः ईम् अवसा अ ाच्छन्ति, धामभिः विप्रस्य कामम् तर्पयन्त ।

सायण—मरुतः अवतम् उद्धृतं कूपं यस्यां दिशि ऋषिर्वसति तया दिशा जिह्मं वक्रं तिर्यञ्चं नुनुद्रे प्रेरितवन्तः । एवं कूपं नीत्वा ऋष्याश्रमेऽवस्थाप्य तृष्णजे तृषिताय गोतमाय तदर्थम् उत्सं जलप्रवाहं कूपादुद्धृत्य असिञ्चन् आहावे अवानयन् । एवं कृत्वा ईम् एवं स्तोतारमृषिं चित्रभानवः विचित्रदीप्तयस्ते मरुतः अवसा ईदृशेन रक्षणेन सह आ गच्छन्ति तस्समीपं प्राप्नुवन्ति । प्राप्य च विप्रस्य मेधाविनो गोतमस्य कामम् अभिलाषं धामभिः आयुषो धारकैरुदकैः तर्पयन्त अतपर्यन् ।

शब्दार्थ—जिह्मम् = तिरछा । **नुनुद्रे** = प्रेरित किया । **असिञ्चन्** = भरा । **उत्सम्** = जल प्रवाह को, चौबच्चे को । **गोतमाय** = गोतम ऋषि के लिये । **तृष्णजे** = प्यासे । **आगच्छन्ति** = आये हैं । **अवसा** = रक्षा करने के लिये । **चित्रभानवः** = सुन्दर कान्ति वाले । **कामम्** = इच्छा को । **विप्रस्य** = ब्राह्मण गोतम की । **तर्पयन्त** = तृप्त किया । **धामभिः** = आयु को धारण करने वाले जलों से । ईम् = 'ईम्' शब्द यहाँ निरर्थक है और केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

हिन्दी अनुवाद—उन मरुतों ने उस खोदे हुये कुएँ को, जिस दिशा में ऋषि गोतम थे, उस दिशा में तिरछा प्रेरित किया अर्थात् ले गये । वहाँ जाकर उन्होंने प्यासे गोतम ऋषि के लिये चौबच्चे को भरा । इसके ़र सुन्दर कान्ति वाले मरुत ऋषि की रक्षा के लिये आये और उन्होंने आयु को धारण करने वाले जलों ये उन ब्राह्मण गोतम ऋषि की इच्छा को तृप्त किया ।

व्याक ण—

तृष्णजे–'ञितृषा' धातु से 'स्वपितृषोर्नजिङ्' से नजिङ् (नज्) प्रत्यय । तृष् + नजिङ् = तृष्णज् । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन । अथवा तृष् + नङ् + ड = तृष्णज ।

धामभिः–धा + मनिन् = धामन् । तृतीया का बहुवचन ।

विशेष—मैक्डानल ने 'धामभिः' का अर्थ किया है–अपनी शक्तियों से (by their power) ।

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि ।

अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥१२॥

पदपाठ—या । वः । शर्म । शशमानाय । सन्ति । त्रिऽधातूनि । दाशुषे । यच्छत ।

अन्वय—मरुतः! वः या त्रिधातूनि शर्म शशमानाय सन्ति, दाशुषे अधियच्छत, तानि अस्मभ्यम् वि यन्त। वृषणः नः सुवीरम् रयिम् धत्त।

सायण—हे मरुतः वः युष्माकं सम्बन्धीनि या यानि शर्म शर्माणि सुखानि गृहाणि वा। कीदृशानि। त्रिधातूनि पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेष्ववस्थितानि शशमानाय युष्मान् स्तुति-भिर्जमानाय दातुं सम्पादितानि। पूर्वोक्तलक्षणानि शर्माणि यानि सन्ति यानि च दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय अधियच्छत अधिकं प्रयच्छत। हे मरुतः तानि सर्वाणि शर्माणि अस्मभ्यं वि यन्त विशेषेण प्रयच्छत। किञ्च हे वृषणः कामानां वर्षितारो मरुतः नः अस्मभ्यं सुवीरं शोभनैः वीरैः पुत्रादिभिर्युक्तं रयिं धनं धत्त दत्त।

शब्दार्थ—**शर्म** = सुख, घर। **शशमानाय** = स्तुति करने वाले उपासकों के लिये। **त्रिधातूनि** = तीन स्थानों पर बने हुये। **दाशुषे** = हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिये। **अधियच्छत** = अधिक देते हो। **वियन्त** = विशेष रूप से दो। **रयिम्** = धन को। **वृषणः** = कामनाओं की वर्षा करने वाले। **सुवीरम्** = उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त।

हिन्दी अनुवाद—हे मरुतो! तुम्हारे जो तीन स्थानों पर बने हुये सुख अथवा घर स्तुति करने वाले उपासकों के लिये हैं और जिनको तुम हवि प्रदान करने वाले यजमानों के लिये अधिक देते हो, हे मरुतो! उन सुखों को और घरों को हमें भी विशेष रूप से दो। हे कामनाओं की वर्षा करने वाले मरुतो! हमारे लिये उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त धन को दो।

व्याकरण—

शशमानाय–'शश प्लुतगतौ' धातु से 'चानश्' प्रत्यय = शशमान, चतुर्थी एकवचन।

यन्त–'यम् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

बृषणः–वृष् + कनिन् (अन्) = वृषन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

विशेष—मैक्डानल ने 'शशमानाय' का अर्थ 'उत्साही' (zealous man) और 'शर्म' का अर्थ 'शरणस्थल' (shelters) किया है।

अभ्यास—

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) गोमातरो यच्छुभयन्ते....................३

(ख) वि ये भ्राज्यन्ते सुमखास...............४

(ग) तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना.........७

(घ) त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं.....................९

(२) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) उक्षितासः।

(ख) जग्मयः।

(ग) धमन्तः।

(घ) शशमानाय।

(ङ) यन्त।

इकाई-५ वैदिक सूक्त

इकाई की रूपरेखा

५.० अश्विन् सूक्त

५.१ विश्वामित्र नदी संवाद

५.२ अग्नि सूक्त

५.३ अक्ष सूक्त

उद्देश्य—इस यूनिट में निम्नलिखित सूक्तों के मन्त्रों की व्याख्या से परिचित कराया जायेगा।

५.० अश्विनूसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद **मण्डल संख्या-१** **सूक्त संख्या-११६**

ऋषि-कक्षीवान् **देवता-अश्विनौ** **छन्द-त्रिष्टुप्**

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे
स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः ।
यावर्भगाय विमदाय जायां
सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ॥१॥

पदपाठ— **नासत्याभ्याम् । बर्हिःऽईव । प्र । वृञ्जे । स्तोमान् । इयर्मि । अभ्रियाऽइव । वातः ॥ यौ । अर्भगाय । विऽमदाय । जायाम् । सेनाऽजुवा । निऽऊहतुः । रथेन ॥१॥**

सा०भा०— बर्हिरिव यथा कश्चिद्यजमानो यागार्थं बर्हिः प्र वृञ्जे प्रकर्षेण अन्यू-नानतिरिक्तं यागाय पर्याप्तं दर्भं वृङ्क्ते छिनत्ति सम्पादयतीति यावत् । एवमहं नासत्या-भ्याम् अश्विभ्यां स्तोमान् स्तुतीः इयर्मि सम्पादयामि । एतदेव विशदीक्रियते । अभ्रियेव । यथा अभ्रियाणि अभ्रेषु मेघेष्ववस्थिता-न्युदकानि वातः वायुः वर्षणार्थं बहुशः प्रेरयति एवमहम् अश्विभ्यां स्तोत्राणि इयर्मि बहुशः प्रेरयामि । कीदृशावश्विनौ। अर्भगाय बालाय स्वयंवरलब्धभार्याय विमदाय एतत्संज्ञाय राजर्षये मध्येमार्ग स्वयंव-रार्थमागतैः ताम् अलभमानेरन्यैर्नृपैः सह योद्धुमशक्नुवतेऽपि तस्मै सेनाजुवा शत्रुसेनायाः प्रेरकेण शत्रुभिः दुष्प्रापेण रथेन यौ अश्विनौ जायां भार्यां परैरनुक्रान्तां न्यूहतुः शत्रून्निहत्य तदीयं गृहं प्रापयामासतुः । ताभ्यामित्यर्थः ॥ नासत्याभ्याम् सत्सु भवौ सत्यौ । न सत्यौ असत्यौ न असत्यौ नासत्यौ । 'नभ्राण्नपात्० इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः। अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । वृञ्जे । 'वृजी वर्जने' । आदादिकः । इदित्त्वात् नुम्। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तलोपः । इयर्मि । 'ऋ गतौ' जौहोत्यादिकः । 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इत्वम् । 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङ् । अभ्रियेव । 'समुद्राभ्राद्धः' इति भवार्थे घः । घस्य इयादेशः । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः। अर्भगाय । 'अर्ति-गृभ्यां भन्' (उ०सू० ३.४३२) इति अर्तेर्भन् । अर्भः एवार्भकः । 'संज्ञायां कन्' (पा०सू० ५.३.८७) । छान्दसो गकारः । अपर आह । अर्भमल्पं गायति शब्दयतीत्यर्भगः । 'कै गै शब्दे' । 'गापोष्टक् (पा०सू० ३.२.८) । 'आतो लोप इटि च' इति आकारलोपः । तदेतत् पदकृतः शाकल्यस्य अभिमतम् । सेनाजुवा । जु इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः। अस्मादन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विब्वचिप्रच्छि०' इत्यादिना क्विब्दीर्घौ । तन्वादित्वादुवङ् (पा०सू० ६.४.७७.१) । न्यूहतुः । 'वह प्रापणे' लिटि अतुसि यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधः ॥

अन्वय— नासत्याभ्यां बर्हिःइव स्तोमान् प्र वृञ्जे, वातः अभ्रियेव इयर्मि, यौ अर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा रथेन न्यूहतुः ।

पदार्थ— नासत्याभ्याम् = दोनों नासत्यों (अश्विनों) के लिए, जो असत्य न हों ऐसे नासत्यों के

लिए। बर्हिः इव = (पवित्र) कुश के समान। स्तोमान् = स्तोत्रों को, स्तुतियों को, प्रार्थनाओं को। प्रवृञ्जे = प्रकृष्ट रूप से सजाता हूँ, विस्तृत करता हूँ, फैलाता हूँ। वातः = वायु। अभ्रियेव = जिस प्रकार मेघ को। इयर्मि = भेजता हूँ। यौ = जिन दोनों (अश्विनों) ने। अर्भगाय = युवक के लिए। विमदाय = विमद के लिए। जायाम् = पत्नी को। सेनाजुवा = बाण के समान चलने वाले। रथेन = रथ से। न्युहतुः = लाया।

अनुवाद— (उन) दोनों नासत्यों (अश्विनों) के लिए पवित्र कुश के समान स्तोत्रों (स्तुतियों) को सजाता (फैलाता) हूँ (और) जिस प्रकार वायु मेघ को (भेजता है) उसी प्रकार मैं (उन स्तोत्रों को उनके पास) भेजता हूँ, जिन दोनों (अश्विनों) ने युवक विमद के लिए पत्नी को (अपने) बाण के समान चलने वाले रथ से लाया।

व्याकरण—

१. प्र वृञ्जे – प्र + √वृज् आत्मनेपद, लट् उत्तमपुरुष, एकवचन।

२. इयर्मि – √ऋि (जाना) + लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन।

३. अर्भकाय – अर्भक शब्द, चतुर्थी, एकवचन।

४. सेनाजुवा – सेना + √जु।

५. न्यूहतुः – नि + √वह् (ले जाना) + लिट्, प्रथमपुरुष, द्विव[illegible]।

वी॒ळु॒पत्म॑भिराशु॒हेम॑भिर्वा
दे॒वानां॑ वा जू॒तिभि॒ःशाश॑दाना।
तद्रास॑भो नासत्या स॒हस्र॑-
मा॒जा य॒मस्य॑ प्र॒धने॑ जिगाय ॥२॥

पदपाठ— **वी॒ळु॒पत्म॑ऽभिः। आ॒शु॒हेम॑ऽभिः। वा॒। दे॒वाना॑म्। वा॒। जू॒ति-ऽभिः॑। शाश॑दाना ॥ तत्। रास॑भः। ना॒स॒त्या॒। स॒हस्र॑म्। आ॒जा। य॒मस्य॑। प्र॒ऽधने॑। जि॒गा॒य॒ ॥**

सा० भा०— वीळुपत्मभिः। वीड्विति बलनाम। बलवदुत्पतनैः आशुहेमभिः शीघ्रगमनैः। वाशब्दः समुच्चये। हे नासत्या अश्विनौ एवंभूतैरश्वैश्च देवानाम् इन्द्रादीनां जूतिभिः प्रेरणैश्च शाशदाना शाशद्यमा[illegible] अत्यर्थं प्रेर्यमाणयोर्युवयोर्वाहनभूतो यः रासभः प्रजापतिना दत्तः सः यमस्य वैवस्वतस्य प्रीतिकरे प्रधने प्रकीर्णधनोपेते आजा आजौ सङ्ग्रामे तत् शत्रूणां सहस्रं जिगाय जि[illegible]वान्। वैवस्वतो हि बहूनां मरणहेतुना सङ्ग्रामेण तुष्टो भवति। यद्वा। जेतव्यत्वेन प्रजापतिना निहितं ऋक्सहस्रं शीघ्रगमनयुक्तो रासभो जिगाय जयेनालभत। अन्येभ्यः देवेभ्यः पूर्वमेवाजिं प्राप्य युवां प्रापयामास। तथा चास्मिन्नर्थे 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्' (ऐ०ब्रा० ४.७) इत्यादिकं ब्राह्मणमनुसन्धेयम्॥ वीळुपत्मभिः। वीळु बलवत्पतन्तीति वीळुपत्मानः। आशुहे- मभिः। आशु शीघ्रं हिन्वन्ति गच्छन्तीति आशुहेमान। तैः। 'हि गतौ वृद्धौ च'। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। जूतिभिः। उतियूति-जूति०' इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम्। शाशदाना। 'शद्लृ शातने'। अत्र गत्यर्थो धातूनामने[illegible]ार्थत्वात्। अस्मात् यङन्तात् लटः शानच्। तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति आर्धधातुकत्वात् शबभावः। अतोलोपयलोपौ। 'अभ्यस्तानामादिः, इत्याद्युदात्तत्वम्। 'सुपां सुलुक्०' इति षठ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। आजा। तेनैव सूत्रेण डादेशः। जिगाय। 'जि जये'। 'सन्लिटोर्जेः' इति अभ्यासादुत्तरस्य कुत्वं गकारः॥

अन्वय— नासत्या, वीळुपत्मभिः देवानां वा जूतिभिः शाशदाना तत् रासभः यमस्य प्रधने आजा सहस्रं जिगाय।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों अश्विनो ! वीळुपत्मभिः = मजबूत पङ्खों से। आशुहेमभिः = शीघ्रगामी अश्वों से। देवानाम् वा = और देवताओं के। जूतिभिः = प्रेरणा से। शाशदाना = जीतते हुए। रासभः = खच्चर ने। यमस्य = यम के। प्रधने = धनयुक्त। आजा = रथदौड़ प्रतियोगिता में। तत् = उन। सहस्रम् = हजार को। जिगाय = जीत लिया।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, मजबूत पङ्खों से, शीघ्रगामी अश्वों से और देवताओं की प्रेरणा से जीतते हुए (आप के) खच्चर ने यम के (द्वारा आयोजित) प्रचुर धनयुक्त रथदौड़ प्रतियोगिता में उन हजार (संख्या वाले प्रतियोगियों) को जीत लिया।

व्याकरण—

१. वीळुपत्मभिः – वीळुपत्मन्, तृतीया बहुवचन। पत्मन् = √पत् (उड़ना) + मनिन्।

२. नासत्या – नासत्य के सम्बोधन द्विवचन में वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में नासत्यौ रूप बनेगा।

३. आशुहेमभिः – आशुहेमन् का तृतया बहुवचन। आशुं + √हि + मनिन्।

४. जूतिभिः – जूति का तृतीया बहुवचन। जूति = √जू + क्तिन्।

५. शाशदाना – √शद् + शानच्, यङ्लुगन्त।

६. आजा – सप्तमी एकवचन का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में आजि रूप होता है।

७. जिगाय – √जी + लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

तुग्रो॑ ह भु॒ज्युम॑श्विनोदमे॒घे
र॒यिं न कश्चि॑न्ममृ॒वाँ अवा॑हाः ।
तमू॑हथुर्नौ॒भिरा॑त्म॒न्वती॑भि-
रन्तरिक्ष॒प्रुद्भि॒रपो॑दकाभिः ॥३॥

पदपाठ— **तु॒ग्रः । ह॒ । भु॒ज्युम् । अ॒श्वि॒ना । उ॒द॒ऽमे॒घे । र॒यिम् । न । कः । चि॒त् । म॒मृ॒ऽवान् । अव॑ । अ॒हाः ॥ तम् । ऊ॒ह॒थुः॒ । नौ॒भिः । आ॒त्म॒न्ऽवती॑भिः । अ॒न्त॒रि॒क्ष॒प्रुत्ऽभिः॑ । अप॑ऽउदकाभिः ॥३॥**

सा० भा०— अत्रेयमाख्यायिका। तुग्रो नाम अश्विनोः प्रियः कश्चिद्राजर्षिः। स च द्वीपान्तरवर्तिभिः शत्रुभिरत्यन्तमुपद्रुतः सन् तेषां जयाय स्वपुत्रं भुज्युं सेनया सह नावा प्राहेषींत्। सा च नौः मध्येसमुद्रमतिदूरं गता वायुवशेन भिन्ना आसीत्। तदानीं सः भुज्युः शीघ्रम् अश्विनौ तुष्टाव। तौ च स्तुतौ सेनया सहितम् आत्मीयासु नौषु आरोप्य पितुस्तुग्रस्य समीपं त्रिभिरहोरात्रैः प्रापयामासतुरिति। अयमर्थः इदमादिकेन तृचेन प्रति-पाद्यते। हशब्दः प्रसिद्धौ। तुग्रः खलु पूर्वं शत्रुभिः पीडितः सन् तज्जयार्थम् उदमेघे। उदकैर्मिह्यते सिच्यते इति उदमेघः समुद्रः तस्मिन् भुज्युम् एतत्संज्ञं प्रियं पुत्रम् अवाहाः। नावा गन्तुं पर्यत्याक्षीत्। तत्र दृष्टान्तः। ममृवान् म्रियमाणः सन् धनलोभी कश्चित् मनुष्यः रयिं न यथा धनं परित्यजति तद्वत्। हे अश्विनौ तं च भुज्युं मध्येसमुद्रं निमग्नं नौभिः पितृसमीपम् ऊहथुः युवां प्रापितवन्तौ। कीदृशीभिः। आत्मन्वतीभिः आत्मीयाभिः युवयोः स्वभूताभिरित्यर्थः। यद्वा। घृतिरात्मा धारणवतीभिरित्यर्थः। अन्तरिक्षप्रुद्भिः अतिस्वच्छ-त्वादन्तरिक्षे जलस्य उपरिष्टादेव गन्त्रीभिः अपोदकाभिः सुश्लिष्टत्वात् अपगतोदकाभिः अप्रविष्टोदकाभिरित्यर्थं ॥ उदमेघे। 'मिह सेचने'। कर्मणि घञ्। 'न्यङ्क्वादीनां च' (पा०सू० ७.३.५३) इति कुत्वम्। 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६.३.५७) थाथादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम। ममृवान्। 'मृङ् प्राणत्वयागे'। लिटः क्वसुः। क्रमादि-नियमात् प्राप्तस्य इटः 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति नियमात् अभावः। अहाः। 'ओहाक् त्यागे'। लुङि तिपि च्लेः सिच्। आगमानुशासनस्यानित्यत्वात् सगिटौ न क्रियेते। 'बहुलं छन्दसि' इति इडभावः। 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपः। रुत्वविसर्गौ। यद्वा। 'मन्त्रे घस०' इति च्लेर्लुक्। च्लेर्लुप्तत्वात् इण् न क्रियते। नौभिः। 'सावेकाचः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। आत्मन्वतीभि। आत्मनो मतुप्। 'मादुपधायाः'

इति वत्वम् । 'अनो नुट्' (पा०सू० ८.२.१६) इति नुट् । नलोपः । 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुप उदात्तत्वम् । अन्तरिक्षप्रुद्भिः । 'प्रुङ् गतौ' । 'क्विप् च' इति क्विप् ॥

अन्वय— अश्विना, कश्चित् ममृतवान् रयिं न तुग्रः भुज्युम् उदमेधे अहाः, तम् आत्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः नौभिः ऊहथुः ।

पदार्थ—अश्विना = हे दोनों अश्विनो ! कश्चित् = कोई । ममृतवान् = मरने वाला । रयिं न = धन के समान । तुग्रः = तुग्र (नामक राजर्षि) ने । भुज्युम् = भुज्यु (नामक अपने पुत्र) को । उदमेधे = समुद्र में । अहाः = छोड़ दिया । तम् = उस (भुज्यु) को । आत्मन्वतीभिः = प्राण वाली । अन्तरिक्षप्रुद्भिः = समुद्र के ऊपर चलने (तैरने) वाली । अपोदकाभिः = अन्दर जल न जाने वाली । नौभिः = नौकाओं से । ऊहथुः = तुम दोनों ले आये ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, जिस प्रकार (कोई) मरने वाला धन को (छोड़ देता है) उसी प्रकार तुग्र (नामक राजर्षि) ने भुज्यु (नामक पुत्र) को समुद्र में छोड़ दिया । उस (भुज्यु) को तुम दोनों प्राण वाली, समुद्र पर चलने (तैरने) वाली और अन्दर जल न जाने वाली नौकाओं से (घर) ले आये ।

व्याकरण—

१. ममृतवान् – √मृ + क्वसु, प्रथमा एकवचन ।

२. अहाः – √हा + लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप ।

३. ऊहथुः– √वह् + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन ।

४. आत्मन्वतीभिः – आत्मन् + मतुप्, तृतीया बहुवचन ।

५. अन्तरिक्षप्रुद्भिः – अन्तरिक्षप्रुत् का तृतीया बहुवचन । प्रुत् = √प्रु + क्विप् ।

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भि-
र्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे
त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः ॥४॥

पदपाठ— तिस्रः । क्षपः । त्रिः । अहा । अतिव्रजत्ऽभिः । नासत्या । भुज्युम् । ऊहथुः । पतङ्गैः ॥ समुद्रस्य । धन्वन् । आर्द्रस्य । पारे । त्रिऽभिः । रथैः । शतपत्ऽभिः । षट्ऽअश्वैः ॥४॥

सा० भा०— हे नासत्यौ सेनया सह उदके निमग्नं भुज्युं तिस्रः क्षपः त्रिसङ्ख्याका रात्रीः त्रिरहा त्रिवारमावृत्तान्यहानि च अतिव्रजद्भिः अतिक्रम्य गच्छद्भिरेतावन्तं काल-मतिव्याप्य वर्तमानैः पतङ्गैः पतद्भिः त्रिभिः त्रिसङ्ख्याकैः रथैः ऊहथुः युवामूढवन्तौ । क्वेति चेत् उच्यते । समुद्रस्य अम्बुराशेर्मध्ये धन्वन् धन्वनि जलवर्जिते प्रदेशे आर्द्रस्य उदकेनार्द्रीभूतस्य समुद्रस्य पारे तीरदेशे कथंभूतै रथैः । शतपद्भिः शतसङ्ख्याकैश्चक्रलक्षणैः पादैरुपेतैः षळश्वैः षड्भिरश्वैर्युक्तैः ॥ तिस्रः । 'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्' इति तिस्रा-देशः । स चान्तोदात्तः । 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । क्षपः । विभक्त्यन्तस्य छान्दसं ह्रस्वत्वम् । यद्वा । शति 'आतः' इति योगविभागादधातोरपि आकारलोपः। अहा । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । पतङ्गैः । 'पत्लृ गतौ' । 'पतेरङ्गच्०' (उ०सू० १.११६)। धन्वन् । 'धविर्गत्यर्थः' । इदित्वात् नुम् । 'कनिन्युवृषि०' इत्यादिना कनिन् । 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक् । शतपद्भिः । शतं पादा येषाम् । 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः। अयस्मयादित्वेन भत्वात् 'पादः पत्' इति पद्भावः । यद्वा । पादसमानार्थः पच्छब्दः प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम् ॥

अन्वय— नासत्या, तिस्रः क्षपः त्रिः अहा अतिव्रजद्भिः शतपद्भिः षळश्वैः पतङ्गैः त्रिभिः रथैः भुज्युम् आर्द्रस्य समुद्रस्य पारे धन्वन् ऊहथुः ।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों अश्विनो ! तिस्रः = तीन । क्षपः = रात्रियों । त्रिः = तीन । अहा = दिनों । अतिव्रजद्भिः = लगातार चलने वाले । शतपद्भिः = सौ पैरों वाले । षडश्वैः = छः अश्वों से युक्त । पतङ्गैः = उड़ने वाले । त्रिभिः = तीन । रथैः = रथों से । भुज्यम् = (तुग्र के पुत्र) भुज्यु को । आर्द्रस्य = जल वाले । समुद्रस्य = समुद्र के । पारे = पार में । धन्वन् = सूखे स्थल पर । ऊहथुः = ले आये ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, तीन रात्रियों (और) तीन दिनों तक लगातार चलने वाले, सौ पैरों वाले, (तथा) छः अश्वों से युक्त उड़ने वाले तीन रथों से (तुग्र के पुत्र) भुज्यु को जल वाले समुद्र के पार सूखे स्थल पर ले आये ।

व्याकरण—

१. धन्वन् – धन्वन् का सप्तमी एकवचन, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में धन्वनि । धन्वन् = √धौ + कनिन् ।

२. शतपद्भिः – शतं पदाः येषां तैः (बहुव्रीहि) ।

अनारम्भणे तदवीरयेथा-
मनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं
शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥५॥

पदपाठ— **अनारम्भणे । तत् । अवीरयेथाम् । अनास्थाने । अग्रभणे । समुद्रे ॥ यत् । अश्विनौ । भुज्युम् । ऊहथुः । अस्तम् । शतऽअरित्राम् । नावम् । आतस्थिऽवांसम् ॥५॥**

सा० भा०— हे अश्विनौ अनारम्भणे आलम्बनरहिते समुद्रे तत् कर्म अवीरये-थाम् । विक्रान्तं कृतवन्तौ युवाम् । अनारम्भणत्वमेव स्पष्टीकरोति । अनास्थाने । आस्थीयते अस्मिन् इति आस्थानो भूप्रदेशः । तद्रहिते स्थातुमशक्ये जले इत्यर्थः । अग्रभणे अग्रहणे । हस्तेन ग्राह्यं शाखादिकमपि यत्र नास्ति तस्मिन् इत्यर्थः । किं पुनस्तत्कर्म । भुज्युं समुद्रे मग्नं शतारित्रां बह्वरित्राम् । यैः काष्ठैः पार्श्वतो बद्धैर्जलालोडन सति नौः शीघ्रं गच्छति तानि अरित्राणि । ईदृशीं नावम् आतस्थिवांसम् । आस्थित-वन्तमारूढवन्तं कृत्वा । अस्तम् । गृहनामेतत् । पितुस्तुग्रस्य गृहं प्रति यत् ऊहथुः । तत्प्रापणमन्यैर्दुःशकं युवां समुद्रमध्ये कृतवन्तौविर्त्यर्थः ॥ अनारम्भणे । आर-भ्यते इत्यारम्भणम् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट् । 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तर-पदान्तोदात्तत्वम् । अवीरयेथाम् । 'शूर वीर विक्रान्तौ' । चुरादिरात्मनेपदी। अनास्थाग्रभणयोः पूर्ववत् ल्युट्स्वरौ । अयं तु विशेषः । 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम् । अस्तम् । अस्यते अस्मिन् सर्वमित्यस्तं गृहम् । 'असिहसि०' इत्यादिना तन्प्रत्ययः । शतारित्राम् । 'ऋगतौ' । 'अर्तिलूधूसू०' (पा०सू० ३.२.१८४) इति करणे इत्रप्रत्ययः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

अन्वय— अश्विनौ, यत् शतारित्रां नावं आतस्थिवासं भुज्युम् अस्तम् ऊहथुः । अनारम्भणे अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे तत् अवीरयेथाम् ।

पदार्थ— अश्विनौ = हे दोनों अश्विनों ! यत् = जो । शतारित्राम् = सौ डाड़ों वाली । नावम् = नाव पर । आतस्थिवासं = बैठाये हुए, बैठाकर । भुज्युं = भुज्यु को । अस्तम् = घर को । ऊहथुः = ले आये । अनारम्भणे = आलम्बन (आश्रय) से रहित । अनास्थाने = (खड़े होने के) स्थान से रहित । अग्रभणे = किसी पकड़ने के आश्रय से विहीन । समुद्रे = समुद्र में । तत् = वह । अवीरयेथाम् = वीरता (बहादुरों) का कार्य किया ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, तुम दोनों जो सौ डाड़ों वाले नाव पर बैठाकर भुज्यु को घर को ले

आये, वह तुम दोनों ने आलम्बन (आश्रय) से रहित, खड़े होने के स्थान से रहित और किसी पकड़ने के माध्यम से रहित समुद्र में वीरता (बहादुरी) का काम किया।

व्याकरण—

१. अनारम्भणे – नञ् + आ + √रम् + ल्युट्, सप्तमी, एकवचन।

२. अवीरयेथाम् – √वीर् (वीरता) आत्मनेपद लङ्, मध्यमपुरुष, द्विवचन।

३. अग्रभणे – नञ् + ग्रम् (पकड़ना) +ल्युट् सप्तमी, एकवचन।

४. शतारित्राम् – शत अरित्रः यस्मिन् तत् बहुव्रीहि। अरित्रः = √ऋ (जाना) + इत्र।

५. आतस्थिवांसम् – आ √स्था + क्वसु, द्वितीया, एकवचन।

यमश्विना दुदथुः श्वेतमश्व-

मघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।

तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भू-

त्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥६॥

पदपाठ— यम्। अश्विना। ददथुः। श्वेतम्। अश्वम्। अघऽअश्वाय। शश्वत्। इत्। स्वस्ति॥ तत्। वाम्। दात्रम्। महि। कीर्तेन्यम्। भूत्। पैद्वः। वाजी। सदम्। इत्। हव्यः। अर्यः ॥६॥

सा० भा०— अत्रेदमाख्यायते। पेदुर्नाम कश्चित् स चाश्विनौ तुष्टाव। तस्मै प्रीतौ कश्चिच्छ्वेतवर्णमश्वं दत्तवन्तौ। स चाश्वस्तस्य प्रौढं जयं चकारेति। एतदत्र प्रतिपाद्यते। हे अश्विनौ युवाम् अघाश्वाय अहन्तव्याश्वाय। पेदुनाम्ने राजर्षये यं श्वेतवर्णम् अश्वं ददथुः दत्तवन्तौ सोऽश्वस्तस्मै स्वस्ति जयलक्षणं मङ्गलं शश्वत् इत् नित्यमेव चकार। वां युवयोः तत् दात्रं दानं महि महदतिगम्भीरम् अत एव कीर्तेन्यं सर्वैः कीर्तनीयं प्रशस्यं भूत् अभूत। तस्मात् पैद्वः पेदोः सम्बन्धी पतनशीलः शीघ्रगामी वा अर्यः शत्रूणां प्रेरयिता युद्धेषु प्रेरयितव्यो वा वाजी वेजनवान् सोऽश्वः सदमित् सदैव हव्यः अस्माभिरप्याह्वातव्यः॥ दात्रम्। ददातेर्भावे औणादिकः त्रप्रत्ययः। महि। 'मह पूजायाम्'। 'इत्सर्वधातुभ्यः' इति इन्। कीर्तेन्यम्। 'कृत संशब्दने'। 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति केन्यप्रत्ययः। 'ऋद्धातोः' इति इत्वम्। भूत्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः। पैद्वः। पेदोः सम्बन्धी। 'तस्येदम्' इति अण्। छान्दसो वर्ण-लोपः। हव्यः ह्वयतेः 'अचो यत्' इति यत्। 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम्। गुणः। 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' इति अवादेशः। अर्यः। 'ऋ गतौ'। 'अघ्न्यादयश्च' (उ०सू० ४.५५१) इति औणादिको यत्। व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्॥

अन्वय— अश्विना, अघाश्वाय यं श्वेतम् अश्वम् ददथुः तत् शश्वत् इत् स्वस्ति। वां तत् महि दात्रं कीर्तेन्यं भूत्, पैद्वः वाजी अर्यः इत् सदम् हव्यः (भूत्)।

पदार्थ— अश्विना = हे दोनों अश्विनो! अघाश्वाय = दुष्ट (नीच) अश्व वाले के लिए। यं = जिस। श्वेतम् = श्वेत वर्ण वाले। अश्वम् = अश्व को। ददथुः = तुम दोनों ने दिया। तत् = वह। शश्वत् = नित्य, सदा के लिए। इत् = निश्चित रूप से। स्वस्ति = मङ्गलकारक हो गया। वां = तुम दोनों का। तत् = वह। महि = महान्। दात्रम् = दान। किर्तेन्यम् = कीर्ति (यश, प्रशंसा) के योग्य। भूत् = हुआ। पैद्वः = पेदु का। बाजी = (वह) अश्व। अर्यः = स्वामी (मालिक) के लिए। इत् = निश्चित रूप से। सदम् = सदा के लिए। हव्यः = स्तुत्य, प्रशंसनीय।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, दुष्ट (नीच) अश्व वाले के लिए जिस श्वेत वर्ण अश्व को तुम दोनों ने दिया, वह (अश्व) सदा के लिए निश्चित रूप से मङ्गलकारक हो गया। तुम दोनों का वह महान् दान

कीर्ति (यश या प्रशंसा) के योग्य हो गया, पेदु का (वह) अश्व स्वामी के लिए निश्चितरूप से सदा के लिए प्रशंसनीय (स्तुत्य) (हो गया)।

व्याकरण—

१. ददथुः – √दा (देना) + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. अघाश्वाय – अघ अश्वः यस्य तस्मै (बहुव्रीहि)।

३. भूत् – √भू + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४. हव्यः – हव + यत्।

५. अर्यः – √ऋ (जाना) + यत्।

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय
कक्षीवते अरदतं पुरंधिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः
शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ॥७॥

पदपाठ— युवम्। नरा। स्तुवते। पज्रियाय। कक्षीवते। अरदतम्। पुरम्ऽधिम्। कारोतरात्। शफात्। अश्वस्य। वृष्णः। शतम्। कुम्भान्। असिञ्चतम्। सुरायाः ॥७॥

सा० भा० — अत्रेयमाख्यायिका। कक्षीवानृषिः पुरा तमसा तिरोहितज्ञानः सन् ज्ञातार्थमश्विनौ तुष्टाव। तस्मै अश्विनौ प्रभूतां धियं दत्तवन्ताविति। तदाह। हे नरा नेतारावश्विनो युवं युवां पज्रियाय। पज्रा इत्यङ्गिरसाम् आख्या 'पज्रा वा अङ्गिरस' इत्याम्नातत्वात्। तेषां कुले जाताय कक्षीवते। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य। तद्वते तत्संज्ञाय स्तुवते युवयोः स्तुतिं कुर्वते मह्यं पुरन्धिं प्रभूतां धियं बुद्धिम् अरदतं व्यलिखतम्। यथा सर्वार्थगोचरा भवति तथा कृतवन्तावित्यर्थः। अपि च कारोतरात् कारोतरो नाम वैदलश्चर्मवेष्टितो भाजनविशेषो यस्मिन् सुरायाः स्रावणं क्रियते। लुप्तोपममेतत्। कारोत् यथा सुरायाः सम्पादकाः तां स्रावयन्ति एवमेव युवां वृष्णः सेचनसमर्थस्य युष्मदीयस्य अश्वस्य शफात् खुरात् सुरायाः शतं कुम्भान् असङ्ख्यातान् सुराघटान् असिञ्चतम् अक्षा-रयतम्। यद्वा। सिञ्चति पूरणार्थः। कारोतरस्थानीयात् युष्मदीयाश्वखुरात् या सुरा प्रवहति तया असङ्ख्यातान् घटान् असिञ्चतम् अपूरयतम्। ये जनाः सौत्रामण्यादिकर्मणि युष्मद्यागाय सुरां याचन्ते तेषामित्यर्थः॥ स्तुवते स्तौतेर्लटः शतृ। अदादित्वात् शपो लुक्। 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। पज्रियाय। पज्रशब्दात् शैषिको घच्। कक्षीवते। 'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रिवत्कक्षीवत्०' इति निपातनात् कक्ष्याशब्दस्य सम्प्र-सारणं वत्वं च। अरदतम्। 'रद विलेखने'। पुरन्धिम्। पुरन्धिर्बहुधीः' (निरु० ६.१३) इति यास्कः। पृषोदरादित्वात् पुरन्धिभावः। यद्वा। पुरं पूरयितव्यं सर्वविषयजातमस्यां धीयते अवस्थाप्यते इति 'पुरन्धिर्बुद्धिः'। 'कर्मण्यधिकरणे च' इति दधातेः किप्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलवचनात् अलुक्। इदं तु व्युत्पत्तिमात्रं वस्तुतः पृषोदरादिरेव। असिञ्चतम्। 'षिचिर् क्षरणे' तौदादिकः। 'शे मुचादीनाम्' इति नुम्॥

अन्वय— नरा, युवम् स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते पुरन्धिम् अरदतम्। वृष्णः अश्वस्य कारोत्तरात् शफात् सुरायाः शतं कुम्भान् असिञ्चतम्।

पदार्थ— नरा = हे नेता (दोनों अश्विनो)। युवम् = तुम दोनों ने। स्तुवते = स्तुति करने वाले, पज्रियाय = पज्रि वंश में उत्पन्न। कक्षीवते = कक्षीवान् के लिए। पुरन्धिम् = ज्ञान को, सौभाग्य को। अरदतम् = प्रदान किया। वृंष्णः = बलसम्पन्न, बलवान्। अश्वस्य = अश्व के। कारोत्तरात् = बाँस के बने सुरापात्र से। शफ़ात् = खुरों से। सुरायाः = सुरा के। शतं = सैकड़ों। कुम्भान् = घड़ों को। असिञ्चतम् = भर दिया, सींच दिया।

अनुवाद— हे नेता (दोनों अश्विनो), तुम दोनों ने स्तुति करने वाले (स्तोता) तथा पज्रिवंश में उत्पन्न कक्षीवान् के लिए (पर्याप्त) ज्ञान (सौभाग्य) को प्रदान किया। बलसम्पन्न अश्व के खुर से, (जो) मानों बाँस का बना सुरापात्र हो, सैकड़ों सुरा के घड़ों को भर दिया।

व्याकरण—

१. नरा – नर शब्द सम्बोधन द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में नरौ रूप बनता है।

२. युवम् – युष्मद् शब्द के प्रथमा द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में 'युवाम्' बनता है।

३. स्तुवते – (स्तुति करना) + शतृ, चतुर्थी, एकवचन।

४. अरदतम् – √रद् + लङ्, मध्यमपुरुष, द्विवचन।

५. पुरन्धिम् – पुरम् + √धा + कि, द्वितीया, एकवचन।

६. असिञ्चतम् – √सिच् + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन।

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां
पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीत-
मुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥८॥

पदपाठ— हिमे । अग्निम् । घ्रंसम् । अवारयेथाम् । पितुऽमतीम् । ऊर्जम् । अस्मै । अधत्तम् ॥ ऋबीसे । अत्रिम् । अश्विना । अवऽनीतम् । उत् । निन्यथुः । सर्वऽगणम् । स्वस्ति ॥८॥

सा०भा०— अत्रेदमाख्यानम्। अत्रिम् ऋषिम् असुराः शतद्वारे पीडायन्त्रगृहे प्रवेश्य तुषाग्निना अबाधिषत। तदानीं तेन ऋषिणा स्तुतावश्विनौ अग्निमुदकेनोपशमय्य तस्मात् पीडागृहात् अविकलेन्द्रियवर्गं सन्तं निरगमयतामिति। तदेतत् प्रतिपाद्यते। हे अश्विनौ हिमेन हिमवच्छीतेनोदकेन घ्रंसं दीप्यमानम् अत्रेर्बाधनार्थमसुरैः प्रक्षिप्तं तुषाग्निम् अवा-रयेथां युवां निवारितवन्तौ शीतीकृतवन्तावित्यर्थः। अपि च अस्मै असुरपीडया कार्श्यं प्राप्ताय अत्रये पितुमतीम्। पितुरित्यन्ननाम। अन्नयुक्तम् ऊर्जं रसात्मकं क्षीरादिम् अधत्तं पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतम्। ऋबीसे अपगतप्रकाशे पीडायन्त्रगृहे अवनीतम् अवाङ्मुखतया असुरैः प्रापितम् अत्रिं सर्वगणम्। गणः समूहः। सर्वेषामिन्द्रियाणां पुत्रादीनां वा गणे-नोपेतं स्वस्ति अविनाशी यथा भवति तथा अन्निन्यथुः तस्माद्ग्रहादुद्गमय्य युवां स्वगृहं प्रापितवन्तौ। यद्वा। हिमेन शीतेन वृष्ट्युदकेन अग्निम् अग्निवत्तीक्ष्णं घ्रंसम्। अहर्ना-मैतत्। सामर्थ्यात् निदाघकालीनम् अहः अवारयेथाम्। तस्याह्नस्तैक्ष्ण्यं निवारितवन्तौ। अपि च अग्नये पितुमतीं चरुपुरोडाशादिलक्षणान्नोपेतमूर्जं बलकरं रसात्मकम् उपस्तर-णाभिधारणात्मकं घृतमधत्तम्। वृष्ट्युत्पादनेनाग्नेर्यागार्थं हवींषि निष्पादितवन्तावित्यर्थः। ऋबीसे अपगततेजस्के पृथिवीद्रव्ये अवनीतमोषधीनामुत्पादनाय अवस्तान्नीतम्। पार्थिवा-ग्निना परिपक्वाः उदकेन क्लिन्नाः ह्योषधिवनस्पतयो विरोहन्ति। अत्रिं हविषामत्तार-मोषधिवनस्पत्यादीनां वा एवंविधमग्निं सर्वगणं व्रीह्याद्योषधिगणोपेतं हे अश्विनौ युवां स्वस्ति अविनाशः यथा भवति तथा उन्निन्यथुः। व्रीह्याद्योषधिवनस्पतिरूपेण भूमेरुप-रिष्टान्नीतवन्तौ। कारणात्मना पार्थिवाग्नौ वर्तमानं सर्वमोषधिवनस्पत्यादिकमश्विनौ प्र-वर्षणेन व्यक्तीकृतवन्तावित्यर्थः। अयं पक्षो यास्केन 'हिमेनोदकेन' (निरु० ६.३६) इत्यादिना उक्तः॥ पितुमतीम्। 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुप उदात्तत्वम्। ऋबीसे। अत्र यास्कः। 'ऋबीसमपगतभासमपचितमपहृतभासं गतभासं वा' (निरु० ६.३५) इति। पृषोदरादित्वादभिमतरूपस्वरसिद्धिः। अत्रिम्। 'अद भक्षणे'। 'अदेस्त्रिनि च' इति शब्दात् त्रिः। अवनीतम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वसरत्वम्। स्वस्ति। 'अस भुवि'। भावे क्तिन्। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वात् अस्तेर्भूभावाभावः।

अन्वय— हिमेन घ्रंसम् अग्निम् अवारयेथाम्, अस्मै ऊर्जं पितुमतीम् अधत्तम्। अश्विना, ऋबीसे अवनीतं सर्वगणम् अत्रिं स्वस्ति उत् निन्यथुः।

पदार्थ— हिमेन = हिम से, ठण्डे जल से। घ्रंसम् = जलते हुए। अग्निम् = अग्नि को। अवारयेथाम् = नियन्त्रित किया, बुझाया। तस्मै = उसके लिए। ऊर्जं = बल देने वाला। पितुमतीम् = अन्न को। अधत्तम् = धारण किया, प्रदान किया। अश्विना– हे दोनों अश्विनो! ऋबीसे = अन्धेरी गुफा में। अवनीतम् = नीचे पड़े हुए। सर्वगणम् = सभी अनुयायियों सहित। अत्रिम् = अत्रि को। स्वस्ति

= कल्याण के मार्ग पर। उन्निन्यथुः = ऊपर ले आये।

अनुवाद— ठण्डे जल से जलती हुई अग्नि को बुझाया। उसके लिए बल देने वाला अन्न प्रदान किया। हे दोनों अश्विनो, तुम दोनों अन्धेरी गुफा में नीचे पड़े हुए (और) सभी अनुयायियों सहित अत्रि को कल्याण के मार्ग पर ऊपर ले आये।

व्याकरण—

१. अवारयेयाम् – √वृ (आवृत करना) आत्मनेपद, लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन।

२. पितुमतीम् – √पि + तु + मतुप् + ङीप्।

३. अधत्तम् – √धा (रखना) + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन।

४. अश्विना – अश्विन् का सम्बोधन द्विवचन वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में अश्विनौ रूप होगा।

५. अवनीतम् – अव + नी + क्त।

परावतं नासत्यानुदेथा-
मुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये
सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ॥९॥

पदपाठ— **परा। अवतम्। नासत्या। अनुदेथाम्। उच्चाऽबुध्नम्। चक्रथुः। जिह्मऽबारम्॥ क्षरन्। आपः। न। पायनाय। राये। सहस्राय। तृष्यते। गोतमस्य॥९॥**

सा०भा०— अत्रेदमाख्यानम्। कदाचिन्मरुभूमौ वर्तमानस्य स्तोतुः गोतमस्य ऋषेः समीपं देशान्तरे वर्तमानं कूपमुत्खायाश्विनौ प्रापयेताम्। प्रापय्य च तं कूपं स्नानपानादिसौकर्याय उपरिमूलमधोबिलमवास्थापयतामिति। तदेतादाह। हे नासत्या सत्यस्वभावौ सत्यस्य नेतारौ नासिकाप्रभवौ वा एतत्संज्ञावश्विनौ युवाम् अवतम्। कूप-नामैतत्। अवस्तात्ततं कूपं परा अनुदेथां गोतमस्य ऋषेः समीपे प्रैरिषाथाम्। तदनन्तरं तं कूपम् उच्चाबुध्नम् उच्चैरुपरिष्टात् बुध्ने मूलं यस्य स तथोक्तः। जिह्मबारं जिह्मध-स्ताद्वर्तमानतया वक्रं बारं द्वारं यस्य स तथोक्तः। एवंगुणविशिष्टं चक्रथुः युवामकृ-षाथाम्। तस्मात् कूपात् तृष्यते पिपासतः गोतमस्य पायनाय पानार्थम् आपो न आपश्च। अयं नशब्दश्चार्थे। क्षरन् प्रवाहरूपेण निरगमन्। कीदृशस्य। राये हवींषि दत्तवतः सह-स्राय सहनशीलाय। यद्वा। सहस्रसङ्ख्याकाय राये धनाय एतत्सङ्ख्यधनलाभार्थं च अक्षरन्॥ अनुदेथाम्। 'णु प्रेरणे'। तौदादिकः। जिह्मबारम्। द्वारशब्दस्य पृषोदरात्वित् बारादेशः। क्षरन्। 'क्षर सञ्चालने'। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। तिङो लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरः। पायनाय। हेतुमिति णिच्। 'शाच्छासाह्वा०' इति युक्। भावे ल्युट्। 'रा दाने'। राति ददातीति राः। 'रातेर्डैः' (उ०सू० २.२२४)। 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। तृष्यते। 'ञितृषा पिपासायाम्'। श्यन्। लटः शतृ। श्यनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या' (पा०म० २.३.६२.१) इति चतुर्थी।

अन्वय— नासत्या, अवतं परा अनुदेथाम्, उच्चाबुध्नं जिह्मबारं चक्रथुः, सहस्राय राये तृष्यते गोतमस्य पायनाय आपः न क्षरन्।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों अश्विनों। अवतं = (धन के) कुएँ (कूप) को। परा = समीप में। अनुदेथाम् = तुम दोनों ने ऊपर उठाया। जिह्मबारं = तिरछे मुह वाला। चक्रथुः = किया। हजार (संख्या वाले)। राये = धन के। तृष्यते = प्यासे। गोतमस्य = गोतम के। पायनाय = पीने के लिए। आपः न = जल के समान। क्षरन् =बरसाया, चुवाया।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनो, तुम दोनों ने (धन के) कुएँ (कूप) को समीप में (नीचे से) ऊपर उठाया। इसके पेदी को नीचे तथा मुख को ऊपर की ओर तिरछा किया। हजार (संख्या वाले) धन के प्यासे गोतम के लिए (धन को) जल के समान बरसाया।

व्याकरण-

१. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में नासत्यौ रूप होता है।

२. अनुदेथाम् – √नुद् + आत्मनेपद, लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन।

३. चक्रथुः – √कृ + लिट् मध्यमपुरुष, द्विवचन।

४. क्षरन् – √क्षर् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में अक्षरन् रूप बनता है।

५. पायनाय – √पा (पीना) + युक् + ल्युट्, चतुर्थी, एकवचन।

६. गोतमस्य – गोतम + षष्ठी, एकवचन, चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग।

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं
प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रा-
दित्पतिमकृणुतं कनीनाम् ॥१०॥

पदपाठ— **जुजुरुषः। नासत्या। उत। वव्रिम्। अमुञ्चतम्। द्रापिम्-ऽइव। च्यवानात्॥ प्र। अतिरतम्। जहितस्य। आयुः। दस्रा। आत्। इत्। पतिम्। अकृणुतम्। कनीनाम् ॥१०॥**

सा० भा०— अत्रेदमाख्यानम्। वलीपलितादिभिरुपेतो जीर्णाङ्गः पुत्रादिभिः परित्यक्तश्च्यवनाख्यः ऋषिरश्विनौ तुष्टाव। स्तुतावश्विनौ तस्मै ऋषये जरामपगमय्य पुनर्यौ-वनमकुरुतामिति। तदेतदाह। हे नासत्या अश्विनौ जुजुरुषः जीर्णात् च्यवानात् च्यवना-ख्यादृषेः सकाशात् वव्रिं शरीरमावृत्यावस्थितां जरां प्रामुञ्चतं प्रकर्षेणामोचयतम्। तत्र दृष्टान्तः। द्रापिमिव। द्रापिरिति कवचस्याख्या। यथा कश्चित् कृत्स्नशरीरव्यापकं धृत्वा पश्चात् शरीरात् पृथक्करोति तद्वत्। उत अपि च हे दस्रा एतत्संज्ञौ दर्शनीयौ वा अश्विनौ जहितस्य पुत्रादिभिः परित्यक्तस्य ऋषेः आयुः जीवनं प्रातिरतं प्रावर्धयतम्। प्रपूर्वस्ति-रतिर्वर्धनार्थः। आत् इत् अनन्तरमेव युवानं सन्तं कनीनां कन्यानां पतिं भर्तारम् अकृ-णुतम् अकुरुतम्॥ जुजुरुषः। 'जॄष् वयोहानौ'। लिटः क्वसुः। 'बहुलं छन्दसि' इति उत्वम्। द्विर्भावः। पञ्चम्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम्। 'शासिव-सिघसीनां च' इति षत्वम्। वव्रिम्। 'वृञ् वरणे'। 'आदृगमहन०' इति किप्रत्ययः। जहितस्य। 'ओहाक् त्यागे'। कर्मणि निष्ठा। तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुक-त्वात् यक्। तस्य 'बहुलं छन्दसि' इति श्लुः। 'जहातेश्च' (पा०सू० ६.४.११६) इति इत्वम्। कनीनाम्। 'रयेर्मतौ बहुलम्' इति बहुलवचनात् कन्याशब्दस्य अत्र सम्प्रसारणम्॥

अन्वय— नासत्या, जुजुरुषः च्यवानात् द्रापिम् इव वव्रिम् अमुञ्चतम् उत दस्रा जहितस्य आयुः प्रातिरतम् आत् इत् कनीनां पतिम् अकृणुतम्।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों नासत्यो। जुजुरुषः = वृद्ध। च्यवनात् = च्यवन (के शरीर) से। द्रापिम् इव = कवच के समान। वव्रिम् = बाहरी रूप को। अमुञ्चतम् = अलग कर दिया। उत = और। जहितस्य = छोड़ दिये गये (ऋषि) की। आयुः = आयु को। प्रातिरतम् = बढ़ा दिया। आत् = इसके पश्चात्। इत् = निश्चित रूप से। कनीनाम् = सुन्दर युवतियों का। पतिम् = पति। अकृणतम् = किया, बनाया।

अनुवाद— हे दोनों नासत्यों, तुम दोनों ने वृद्ध च्यवन (के शरीर) से कवच के समान बाहरी रूप को अलग कर दिया और (पुत्रादिकों द्वारा) छोड़ दिये गये (ऋषि) की आयु को बढ़ा दिया, इसके पश्चात् निश्चितरूप से (उनको) सुन्दर युवतियों का पति बनाया।

व्याकरण—

१. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन में नासत्यौ का वैदिकरूप।

२. जुजुरुषः – जुजुर्वस् का पञ्चमी एववचन, जुजुर्वस् = √जॄ (वृद्ध होना) + क्वसु।

३. अमुञ्चतम् – √मुच् + लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

४. प्रतिरतम् – प्र + √तृ (बढाना) + लङ् मध्यपुरुष, द्विवचन ।

५. जहित: – √हा + क्त ।

६. अकृतम् – √कृ + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन, अकुरुतम् का वैदिकरूप ।

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं
चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम् ।
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्ह-
मुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय ॥११॥

पदपाठ— तत् । वाम् । नरा । शंस्यम् । राध्यम् । च । अभिष्टिऽमत् । नासत्या । वरूथम् ॥ यत् । विद्वांसा । निधिम्ऽइव । अपऽगूळ्हम् । उत् । दर्शतात् । ऊपथुः । वन्दनाय ॥११॥

सा० भा०— अत्रेदमाख्यानम् । वन्दनो नाम कश्चिदृषिः स चासुरैः कूपे निखातः उत्तरीतुम-शक्नुवन्नश्विनावस्तौत् । तमश्विनौ कूपादुन्निन्यतुरिति । तदाह । नरा आरोग्यस्य नेतारौ हे नासत्यौ अश्विनौ वां युवयोः सम्बन्धि अभिष्टिमत् अभ्येषणयुक्तमाभिमुख्येन प्राप्तव्यं तथा वरूथं वरणीयं कामयितव्यं तत् कर्म शंस्यम् अस्माभिः प्रशंसनीयं राध्यम् आराधनीयं च । किं पुनस्तत्कर्म । विद्वांसा जानन्तौ युवां निधिमिव निक्षिप्तं धनमिव अपगूळहम् अरण्ये निर्जने देशे कूपमध्ये असुरैः निगूढं वन्दनाय वन्दनमृषिं दर्शतात् अध्वगैः पिपासुभिर्द्रष्टव्यात् उत् ऊपथुः उदहार्ष्टम् । एवं यत् एतत् कूपादुद्धरणं तदि-त्यर्थः ॥ शंस्यम् 'शंसु स्तुतौ' । अस्मात् ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । अभिष्टितम् । अभिपूर्वात् 'इष गतौ' इत्यस्माद्भावे क्तिन् । 'मन्त्रे वृष' इति क्तिन उदात्तत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते । शकन्ध्वादित्वात् पररूपत्वम् । 'तादौ च' इति तु गतिस्वरस्य सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाप्रवृत्तिः । ततो मतुप् । अन्तोदात्तादुत्तरस्य तस्य 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' वरूथम् । 'जॄवृञ्भ्यामूथम्' । विद्वांसा । 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेराकारः । अपगूळहम् । 'गुहू संवरणे' । कर्मणि निष्ठा । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । ढत्वधत्वष्टुत्वढ्लोपदीर्घाः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । दर्शतात् । 'भृमृदृशि' इत्यादिना अतच् । ऊपथुः । 'डुवप् बीजतन्तुसंताने' । लिटि अथुसि यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । द्विर्वचनादि । वन्दनाय । 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥

अन्वय— नरा, वां तत् अभिष्टिमत् वरूथं शस्यं राध्यं च । यत् विद्वांसा वन्दनाय अपगू ळ्हं निधिम् इव दर्शतात् उत् ऊपथुः ।

पदार्थ— नरा = हे नेता (अश्विनो) । वां = तुम दोनों की । तत् = वह । अभिष्टिमत् = सहायतात्मक । वरुथम् = सुरक्षा । शंस्यम् = प्रशंसनीय । राध्यं च = और स्तुत्य (पूजनीय) । यत् = जो । विद्वान्सा = विद्वान् (ज्ञानी) (तुम) दोनों ने । वन्दनाय = वन्दन को । अपगूह्ळम् = छिपी हुए । निधिम् इव = धन के समान । दर्शतात् = कुएँ से । उत् = बाहर । ऊपथुः = निकाला ।

अनुवाद— हे नेता (दोनों नासत्यों) तुम दोनों की वह सहायतात्मक सुरक्षा प्रशंसनीय और स्तुत्य है जो ज्ञानी (तुम) दोनों ने वन्दन को छिपे हुए धन के समान कुएँ से ऊपर (बाहर) निकाला ।

व्याकरण—

१. शंस्यम् – √शंस् + यत् ।

२. राध्यम् – √राध् + यत् ।

३. अभिष्टिमत् – अभि + √इष् या √अस् + मतुप् ।

४. विद्वांसा – विद्वान् के प्रथमा द्विवंचन में विद्वांसौ का वैदिकरूप ।

५. अपगूह्ळम् – अप + √गुह् + क्त । दो स्वरों के मध्य में ढकार का ळ्हकार ।

६. ऊपथुः = उत् + √वप् (लाना) + लिट् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

तद्वां नरा सनये दंसं उग्र-
माविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वा-
मश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥१२॥

पदपाठ— तत् । वाम् । नरा । सनयें । दंसः । उग्रम् । आविः । कृणोमि । तन्यतुः । न । वृष्टिम् ॥ दध्यङ् । ह । यत् । मधु । आथर्वणः । वाम् । अश्वस्य । शीर्ष्णा । प्र । यत् । ईम् । उवाच ॥

सा० भा०— अत्रेयमाख्यायिका । इन्द्रो दधीचे प्रवर्ग्यविद्यां मधुविद्यां चोपदिश्य यदि इमाम् अन्यस्मै वक्ष्यसि शिरस्ते छेत्स्यामीत्युवाच । ततोऽश्विनौ अश्वस्य शिरश्छि-त्वा दधीचः शिरः प्रच्छिद्यान्यत्र निधाय तत्राश्व्यं शिरः प्रत्यधत्ताम् । तेन च दध्यङ् ऋचः सामानि यजूंषि च प्रवर्ग्यविषयाणि मधुविद्याप्रतिपादकं ब्राह्मणं चाश्विनावध्यापयामास । तदिन्द्रो ज्ञात्वा वज्रेण तच्छिरोऽच्छिनत् । अथाश्विनौ तस्य स्वकीयं मानुषं शिरः प्रत्य-धत्तामिति शाट्यायनवाजसनेययोः प्रपञ्चेनोक्तम् । तदेतत्प्रतिपाद्यते । हे नरा नरौ अश्विनौ वां युवयोः सम्बन्धि उग्रम् उद्गूर्णमन्यैर्दुःशकं दंसः । कर्मनामैतत् । युवाभ्यां पुरा कृतं तत् कर्म सनये धनलाभार्थम् आविष्कृणोमि प्रकटीकरोमि । तत्र दृष्टान्तः । तन्यतुः न यथा मेघस्थशब्दः वृष्टिं मेघान्तर्वर्तमानमुदकं प्रवर्षणेन सर्वत्र प्रकटयति तद्वत् । किं तत्कर्म । अथर्वणः पुत्रः दध्यङ् एतत्सञ्ज्ञः ऋषिः अश्वस्य शीर्ष्णा युष्मत्सामर्थ्येन प्रति-हितेन शिरसा वां युवाभ्याम् ईम् इमां मधुविद्यां यत् ह यदा खलु प्र उवाच प्रोक्तवान् । तदानीमश्वस्य शिरसः सन्धानलक्षणं च यत् भवदीयं कर्म तत् आविष्कृणोमीत्यर्थः ॥ सनये । 'षणु दाने' । 'खनिकषिकस्यञ्जसिवसिध्वनिस्तनिवनिसनिग्रन्थिचरिभ्यश्च' (उ०सू० ४.५७९) इति इप्रत्ययः । तन्यतुः । 'तनु विस्तारे' । 'ऋतन्यञ्जि०' (उ०सू० ४.४४२) इत्यादिना यतुच् । यद्वा । 'स्तन शब्दे' । बाहुलकात् यतुच् । छान्दसः सलोपः । वृष्टिम् । वृष्यते सिच्यते अनेनेति वृष्टिः । 'मन्त्रे वृष' इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम् । आथर्वणः । अपत्यार्थे अणि 'अन्' (पा०सू० ६.४.१६७) इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावः । शीर्ष्णा । 'शीर्षश्छन्दसि' (पा०सू० ६.१.६०) इति शिरःशब्दपर्यायः शीर्षञ्शब्दोऽन्तोदात्तो नि-पात्यते । अल्लोपे सति उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

अन्वय— नरा, सनये वां तत् उग्रं दंसः तन्यतुः वृष्टिं न अविष्कृणोमि, यत् आथर्वणः दध्यङ् वाम् अश्वस्य शीर्ष्णा यत् मधु ईम् प्र उवाच ।

पदार्थ— नरा = हे दोनों नेताओं । सनये = धन के लिए । वां = तुम दोनों के । तत् = उस । उग्रम् = शक्तिशाली । दंसः = आश्चर्यजनक कार्य को । तन्यतुः = गर्जन । वृष्टिं न = वर्षा के समान । अविष्कृणोमि = प्रकट करता हूँ, प्रस्तुत करता हूँ । यत् = आथर्वणः = अथर्वण के पुत्र । दध्यङ् = दध्यङ् ने । वाम् = तुम दोनों को । अश्वस्य = अश्व के । शीर्ष्णा = सिर से । यत् = जिस । मधु = मधु (विद्या के रहस्य) को । ईम् = निश्चित रूप से । प्र उवाच = कहा था (बताया था) ।

अनुवाद— हे दोनों नेताओं (अश्विनो), धन के लिए तुम दोनों के उस शक्ति-शाली आश्चर्यजनक कार्य को उसी प्रकार मैं प्रकट करता हूँ जिस प्रकार गर्जन वर्षा को (प्रकट करता है) जो अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने तुम दोनों को अश्व के सिर (मुख से जिस मधु (विद्या के रहस्य) को निश्चित रूप से कहा (बताया) था ।

व्याकरण—

१. आविष्कृणोमि – आविः + √कृ + लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन, आविष्करोमि का वैदिकरूप ।
२. तन्यतुः – √तन् या √स्तन् + यतुच् ।
३. उवाच – √वच् + लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

अजोहवीन्नासत्या करा वां
महे यामन्पुरुभुजा पुरंधिः ।

श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या

हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम् ॥१३॥

पदपाठ— अजोहवीत् । नासत्या । करा । वाम् । महे । यामन् । पुरुऽभुजा । पुरम्ऽधिः ॥ श्रुतम् । तत् । शासुःऽइव । वध्रिऽमत्याः । हिरण्यऽहस्तम् । अश्विनौ । अदत्तम् ॥१३॥

सा० भा०— वध्रिमती नाम कस्यचिद्राजर्षेः पुत्री नपुंसकभर्तृका । सा पुत्रलाभार्थ-मश्विनावाजुहाव । तदाह्वानं श्रुत्वाश्विनावागत्य तस्यै हिरण्यहस्ताख्यं पुत्रं ददतुः तदेत-दाह । पुरुभुजा बहूनां पालकौ प्रभूतहस्तौ वां हे नासत्यावश्विनौ महे महनीये यामन् यामनि । याति गच्छतीति याम स्तोत्रम् । तस्मिन्नसति करा अभिमतफलस्य कर्तारौ वां युवां पुरंधिः बहुधीः वध्रिमती । वध्रिः पुत्रोत्पादनाशक्तः षण्डकः । तद्वती एतत्संज्ञा राजपुत्री अजोहवीत् । पुनः पुनः स्तुत्या पुत्रलाभार्थम् आहूतवती । युवां च वध्रिमत्याः तत् आह्वानं श्रुतम् अशृणुतम् । तत्र दृष्टान्तः । शासुरिव । यथा शासुः आचार्यस्य वचनं शिष्योऽवहितः सन् एकाग्र्येण शृणोति तद्वत् । श्रुत्वा च हे अश्विनौ तस्यै हिरण्यहस्तं सुवर्णमयपाणिं हितरमणीयपाणिं वा एतत्संज्ञं पुत्रं अदत्तं प्रायच्छतम् ॥ अजोहवीत् । ह्वयतेर्यङ्लुगन्तात् लङ् । 'यङो वा' इति तिप ईडागमः । करा । करोतेः पचाद्यच् । 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेः आकारः । यामन् । 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति मनिन् । 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक् । श्रुतम् । लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति शासुः । शास्तुः । अडभावः । 'शासु अनु-शिष्टौ ।' 'शंसिशसिशासि०' (उ०सू० २.२५०) इत्यादिना संज्ञायां तृन् । इडभावः । छान्दसस्तलोपः ॥

अन्वय— पुरुभुजा नासत्या, पुरन्धिः महे यामन् करा वाम् अजोहवीत् वध्रि-मत्याः तत् शासुः इव श्रुतम्, अश्विनौ, हिरण्यहस्तं अदत्तम् ।

पदार्थ— पुरुभुजा = हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले । नासत्या = हे दोनों नासत्यों । पुरन्धिः = बुद्धिमती (स्त्री) ने । महे = श्रेष्ठ । यामन् = स्तुति में, प्रर्थना में । करा = (अभीष्ट) कार्य करने वाले । वाम् = तुम दोनों को । अजोहवीत् = आह्वान किया, बुलाया । वध्रिमत्याः = उस (आह्वान) को । शासुः इव = (गुरु के) वचन (आदेश) के समान । श्रुतम् = तुम दोनों ने सुना । अश्विनौ = हे दोनों अश्विनों । हिरण्यहस्तम् = सुवर्णमय हाथ वाले (पुत्र) को । अदत्तम् = प्रदान किया ।

अनुवाद— हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले दोनों नासत्यो, बुद्धिमती (नपुंसक की पत्नी) ने (अपनी) श्रेष्ठ स्तुति में अभीष्ट कार्य करने वाले तुम दोनों को बुलाया (और) (उस) नपुंसक की पत्नी के उस (आह्वान) को तुम दोनों ने (गुरु के) आदेश के समान सुना । हे दोनों अश्विनों, (उसके लिए) तुम दोनो ने सुवर्णमय हाथ वाले (पुत्र) को प्रदान किया ।

व्याकरण—

१. अजोहवीत् – √हू (बुलाना) लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. करा – कर्तृक प्रथमा द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में कर्त्तारौ रूप बनता है ।

३. यामन् – यामन् के सप्तमी एकवचन में वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में यामनि रूप बनेगा ।

४. पुरुभुजा – पुरुभुज का सम्बोधन द्विवचन में वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में पुरुभुजौ रूप बनेगा ।

५. श्रुतम् – √श्रु (सुनना) लुङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

६. अदत्तम् – √दा (देना) + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके

युवं नरा नासत्यामुमुक्तम् ।

उतो कविं पुरुभुजा युवं ह

कृपमाणमकृणुतं विचक्षे ॥१४॥

पदपाठ— आस्नः । वृकस्य । वर्तिकाम् । अभीके । युवम् । नरा । नासत्या । अमुमुक्तम् ॥

उतो इति । कविम् । पुरुऽभुजा । युवम् । ह । कृपमाणम् । अकृणुतम् । विऽचक्षे ॥

सा० भा०— वर्तिका चटकसदृशस्य पक्षिणः स्त्री । तामरण्ये वर्तमानो शुना ग्रस्तां पुरा किल अश्विनौ अमोचयताम् । तदेतदाह नरा नेतारौ नासत्यावश्विनौ युवं युवाम् अभीके अभिगते वृकवर्तिकयोः संग्रामे वृकस्य विकर्तकस्य शुनः आस्नः आ-स्यात् वर्तिकां चटकसदृशीम् अमुमुक्तम् अमोचयतम् । यास्कस्त्वाह । पुनः पुनर्वर्तते प्रतिदिवसमावर्तते इति वर्तिका उषाः । तां वृकेण आवरकेण सर्वजगत्प्रकाशेनाच्छा-दयित्रा सूर्येण ग्रस्तां तदीयमुखादश्विनावमुञ्चतामिति । उतो अपि च पुरुभुजा महाबाहू प्रभूतहस्तौ वा युवं ह युवां खलु कृपमाणं स्तुवन्तं कविम् एतत्संज्ञमन्धमृषिं विचक्षे विशेषेण द्रष्टुं समर्थम् अकृणुतम् अकुरुतम् ॥ आस्नः । 'पद्दन्०' इत्यादिना आस्यस्य आसन्नादेशः । 'अल्लोपोऽनः' इति अकारलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । अमुमुक्तम् । मुचेरन्तर्भावितण्यर्थात् लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः । कृपमाणम् । कृपिः स्तुतिकर्मा तुदादिषु द्रष्टव्यः । विकरणस्वरे प्राप्ते 'वृषादीनां च' इत्याद्युत्तत्वम् । विचक्षे । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति सेन्प्रत्ययः । 'स्कोः संयो-गाद्योः०' इति सलोपः ॥

अन्वय— नरा नासत्या, अभीके युवम् वर्तिकाम् वृकस्य आस्नः अमुमुक्तम्, उतो पुरुभुजा, युवं कृपमाणं कविं ह विचक्षे अकृणुतम् ।

पदार्थ— नरा नासत्या = हे नेता नासत्यो । अभीके = युद्ध में । युवम् = तुम दोनों ने । वर्तिकाम् = वर्तिका (नामक पक्षी) को । वृकस्य = भेड़िये के । आस्नः = मुख से । अमुमुक्तम् = मुक्त कराया, बचाया । उतो = और । पुरुभुजा = हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले । युवम् = तुम दोनों ने । कृपमाणम् = स्तुति करते हुए (स्तोता) । कविम् = कवि को, क्रान्तद्रष्टा (ऋषि) को । ह = निश्चित रूप से । विचक्षे = देखने के लिए । अकृणुतम् = किया ।

अनुवाद— हे नेता दोनों नासत्यो, युद्ध में तुम दोनों ने वर्तिका (नामक पक्षी) को भेड़िये के मुख से मुक्त कराया (छुड़ाया) और हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले (अश्विनो), तुम दोनों ने स्तुति करने वाले (अन्धे) क्रान्तद्रष्टा (ऋषि) को देखने के लिए (समर्थ) किया ।

व्याकरण—

१. आस्नः – आस्य का पञ्चमी एकवचन का वैदिकरूप ।

२. अमुमुक्तम् – √मुच् + लिट्, मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

३. कृपमाणम् – √कृप् + मतुप् ।

४. अकृणुतम् – √कृ + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन, अकुरुतम् का वैदिकरूप ।

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्ण-
माजा खेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै
धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥१५॥

पदपाठ— **चरित्रम् । हि । वेःऽइव । अच्छेदि । पर्णम् । आजा । खेलस्य । परिऽतक्म्यायाम् ॥ सद्यः । जङ्घाम् । आयसीम् । विश्पलायै । धने । हिते । सर्तवे । प्रति । अधत्तम् ॥१५॥**

सा० भा०— अगस्त्यपुरोहितः खेलो नाम राजा । तस्य सम्बन्धिनी विश्पला नाम स्त्री सङ्ग्रामे शत्रुभिश्छिन्नपादा आसीत् । पुराहितेनागस्त्येन स्तुतावश्विनौ रात्रा-वागत्य अयोमयं पादं समघत्ताम् । तदेतदाह । आजा-आजौ सङ्ग्रामे अगस्त्यपुरो-हितस्य खेलस्य सम्बन्धिन्याः विश्पलाख्यायाः चरित्रं चरणं वेरिव वेः पंक्षिणः पर्णं पतत्रमिव अच्छेदि हि पुरा छिन्नमभूत् खलु । हे अश्विनौ युवामगस्त्येन स्तुतौ सन्तौ परितक्म्यायाम् । परितक्म्या रात्रिः । 'परित एनां तकति' (निरु० ११.२५) इति यास्कः । एनामुभयतः सूर्यो गच्छतीति तस्यार्थः । रात्रावागत्य सद्यः तदानीमेव हिते शत्रुषु निहिते धने जेतव्ये विषयभूते सति

सर्तवे सर्तुं गन्तुं विश्पलायै आयसीम् अयोमयीं जङ्घां जङ्घोपलक्षितं पादं प्रत्यधत्तम्। सन्धानमेकीकरणं कृतवन्तावित्यर्थः ॥ चरित्रम् 'अर्ति-लूधूखनसहर इत्रः' इति करणे इत्रः । आजा । 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेर्डादेशः । आयसीम् । अयःशब्दाद्विकारार्थे 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (पा०सू० ४.३.१४५) 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप् ॥

अन्वय— परितक्म्यायाम् खेलस्य आजा चरित्रं वेः पर्णम् इव अच्छेदि । सद्यः विश्पलायै हिते धने सर्तवे आयसीं जङ्घाम् प्रति अधत्तम् ।

पदार्थ— परितक्म्यायाम् = रात्रि में । खेलस्य = खेल (नामक राजा) को । आजा = युद्ध में । चरित्रम् = पैर । वेः = पक्षी के । पर्णम् इव = पङ्ख के समान । अच्छेदि = कट गया था । सद्यः = शीघ्र ही । विश्पलायै = विश्पला के लिए । हिते = गड़े (छिपे) धन के लिए । सर्तवे प्रति = दौड़ने के लिए । आयसीम् = लोहनिर्मित, लोहे के । जङ्घाम् = जङ्घों को, पैर को । प्रति अधत्तम् = तुम दोनों ने प्रदान किया ।

अनुवाद— रात्रि में खेल (नामक राजा) के युद्ध में (उसकी पत्नी विश्पला का) पैर पक्षी के पङ्ख के समान कट गया था । शीघ्र ही विश्पला को (उसके) गड़े, (छिपे) धन के लिए तुम दोनों ने लौहनिर्मित पैर को प्रदान किया ।

व्याकरण—

१. अच्छेदि – √छिद् (काटना) लुङ् + प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. हिते – √धा + क्त चतुर्थी एकवचन ।

३. सर्तवे – √सृ + तुमर्थक तवे प्रत्यय ।

४. अधत्तम् – √धा + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

५. नरा, नासत्या, पुरुभुजा– सम्बोधन द्विवचन । क्रमशः नरौ, नासत्यौ, पुरुभुजौ का वैदिकरूप ।

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदान-
मृज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष
आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥१६॥

पदपाठ— **शतम् । मेषान् । वृक्यै । चक्षदानम् । ऋज्रऽअश्वम् । तम् । पिता । अन्धम् । चकार ॥ तस्मै । अक्षी इति । नासत्या । विऽचक्षे । आ । अधत्तम् । दस्रा । भिषजौ । अनर्वन् ॥१६॥**

सा०भा०— वृषागिरः पुत्रः ऋज्राश्वो नाम राजर्षिः । तस्य समीपे अश्विनो-र्वाहनभूतो रासभो वृकीभूत्वावतस्थे । स च तस्या आहारार्थमेकोत्तरशतसङ्ख्याकान् पौर-जनानां स्वभूतान्मेषान्शकलीकृत्य प्रददौ । 'ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्' (ऋ०सं० १.११७.१७) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात् । एवं पौराणामहिते प्रवृत्तं पिता शापेन नेत्रहीन-मकरोत् । तेन स्तूयमानावश्विनौ अस्मद्वाहननिमित्तम् अस्य आन्ध्यं जातमिति जानन्तौ तस्मै अक्षिणी प्रायच्छतामिति । तदेतदाह । अत्र तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः । यः ऋज्राश्वः शतं शतसङ्ख्याकान् मेषान् वृक्ये आत्मना पोषितायै वृकस्त्रियै शकलीकृत्य प्रादात् तं चक्षदानम् । क्षदतिः अत्तिकर्मा अत्र शकलीकरणार्थः । शकलीकृत्य दत्तवन्तम् ऋज्राश्वं पिता शापेन अन्धं दृष्टिहीनं चकार कृतवान् । हे नासत्या सत्यस्वभावौ सत्यस्य नेतारौ वा भिषजौ देवानां वैद्यभूतौ । 'अश्विनौ वै देवानां भिषजौ' (ऐ०ब्रा० १.१८; तै०सं० २.३.११) इति श्रुतेः । दस्रा दर्शनीयौ एतत्संज्ञौ वा हे अश्विनौ अनर्वन् अनर्वणी द्रष्टव्यं प्रति पितृशापात् गमनरहिते । अक्षी चक्षुषी । विचक्षे विविधं द्रष्टुं समर्थे तस्मै ऋज्राश्वाय आधत्तम् व्यधत्तम् अकुरुतम् ॥ वृक्ये । वृकोऽरण्यश्वा । तस्य स्त्री वृकी । 'जातेरस्त्रीविषयात्०' (पा०सू० ४.१.६३) इति ङीष् । 'जसादिषु च्छन्दसि वावचनम्' इति चतुर्थ्येक-वचनस्य आडभावे यणादेशे 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०'

इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम्। चक्षदानम्। क्षदेर्लिटः कानच्। चित्स्वरः। अक्षी। 'ई च द्विवचने' (पा०सू० ७.१.७७) इति परत्वात् अक्षशब्दस्य ईकारान्तादेशः। स चोदात्तः। तस्मिन्कृते 'सकृद्गतौ विप्रति-षेधे' (परिभा० ४०) इति परिभाषया पुनः नुम् न भवति। विचक्षे। चक्षेः सम्पदादि-लक्षणो भावे क्विप्। अनर्वन्। 'ऋ गतौ'। अस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसङ्ग्रहार्थत्वात् भावे वनिप्। अर्व गमनं विषयं प्रति एनयोः नास्तीति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। 'सुपां सुलुक्०' इति द्विवचनस्य लुक्। छान्दसो नलोपाभावः।

अन्वय— वृक्ये शतं मेषान् चक्षदानं तम् ऋजाश्वं पिता अन्धं चकार। दस्रा भिषजौ नासत्या, तस्मै विचक्षे अनर्वन् अक्षी अधत्तम्।

पदार्थ— वृक्ये = वृकी के लिए। शतं = सौ। मेषान् = भेड़ों को। चक्षदानम् = देने वाले, बलिदान करने वाले। तम् = उस (प्रसिद्ध)। ऋजाश्वम् = ऋजाश्व को। पिता = पिता ने। अन्धं = अन्धा। चकार = कर दिया, बना दिया। दस्रा = हे आश्चर्यजनक कार्य करने वाले। भिषजौ = हे वैद्य। नासत्या = दोनों नासत्यो। तस्मै विचक्षे = उस (ऋजाश्व) को देखने के लिए। अनर्वन् = अनुपम। अक्षी = दो आँखों को। अधत्तम् = तुम दोनों ने धारण (प्रदान) किया।

अनुवाद— वृकी के लिए सौ भेड़ों को देने (बलिदान करने) वाले उस (प्रसिद्ध) ऋजाश्व को (उसके) पिता ने अन्धा बना दिया। हे आश्चर्यजनक कार्य करने वाले दोनों वैद्य नासत्यो, तुम दोनों ने उस (ऋजाश्व) को देखने के लिए अनुपम दो आखों को प्रदान किया।

व्याकरण—

१. अक्षी – द्वितीया द्विवचन, पदान्त ईकार प्रगृह्य है।

२. अनर्वन् – √ऋ + वनिप्।

३. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन नासत्यौ का वैदिकरूप।

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य
कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः
समु श्रिया नासत्या सचेथे ॥१७॥

पदपाठ— आ। वाम्। रथम्। दुहिता। सूर्यस्य। कार्ष्मऽइव। अतिष्ठत्। अर्वता। जयन्ती॥ विश्वे। देवाः। अनु। अमन्यन्त। हृत्ऽभिः। सम्। ऊँ इति। श्रिया। नासत्या। सचेथे इति ॥१७॥

सा०भा०— सविता स्वदुहितरं सूर्याख्यां सोमाय राज्ञे प्रदातुमैच्छत्। तां सूर्यां सर्वे देवा वरयामासुः। ते अन्योन्यमूचुः आदित्यमवधिं कृत्वा आर्जि धावाम। योऽस्माकं मध्ये उज्जेष्यति तस्येयं भविष्यतीति। तत्राश्विनावुदजयताम्। सा च सूर्या जितवतो-स्तयोः रथमारुरोह। अत्र 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्' (ऐ०ब्रा ४.७) इत्यादिकं ब्राह्मणमनुसन्धेयम्। इदं चाख्यानं सूर्याविवाहस्य स्तावकेन 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' (ऋ०सं० १०.८५.१) इति सूक्तेन विस्पष्टयिष्यते। अश्विनौ वां युवयोः रथं कार्ष्मेव। कार्ष्मशब्दः काष्ठवाची। यथा काष्ठम् आजिधावानस्य अवधितया निर्दिष्टं लक्ष्यम् आशुगामी कश्चित् सर्वेभ्यो धावद्भ्यः पूर्वं प्राप्नोति एवमेव सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम् अर्वता शीघ्रमवधिं प्राप्नुवता युष्मदीयेनाश्वेन करणभूतेन युवाभ्यां जीयमाना सूर्यस्य सवितुः दुहिता आ अतिष्ठत् आरूढवती। विश्वे सर्वे इतरे देवा। एतत् आरोहणस्थानं हृद्भिः हृदयैः अन्वमन्यन्त अन्वजानन्। तदानीं हे नासत्यावश्विनौ श्रिया ऋक्सहस्र-लाभरूपया सम्पदा कान्त्या वा युवां सं सचेथे सङ्गच्छेथे॥ जयन्ती व्यत्ययेन कर्मणि शतृप्रत्ययः। हृद्भिः। 'पद्दन्०' इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृद्भावः। सचेथे। 'षच सम-वाये'। स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्॥

अन्वय— सूर्यस्य दुहिता जयन्ती वाम् रथं अर्वता कार्ष्मेव अतिष्ठत्, विश्वेदेवाः हृद्भिः अन्वमन्यन्त। नासत्या संसचेथे च।

पदार्थ— सूर्यस्य = सूर्य की । दुहिता = पुत्री । जयन्ती = विजय प्राप्त करती हुई । वाम् = तुम दोनों के । रथं = रथ पर । अर्वता = तेज दौड़ने वाले द्वारा । कार्ष्मेव = विजयसीमा सूचक रेखा के समान । अतिष्ठत् = बैठ गयी । विश्वेदेवा: = सभी देवताओं ने । हृद्भिः = हृदय से, अन्तःकरण से । अन्वमन्यन्त = अनुमोदन किया, समर्थन किया । नासत्या = हे दोनों नासत्यो । संसचेथे उ = निश्चितरूप से तुम दोनों गौरवान्वित हुए ।

अनुवाद— सूर्य की पुत्री (सूर्या) विजय प्राप्त करती हुई तुम दोनों के रथ पर तेज दौड़ने वाले द्वारा (प्राप्त) विजय सीमा-रेखा के समान बैठ गयी । सभी देवताओं ने अन्तःकरण से (इसका) अनुमोदन किया । हे दोनों नासत्यो, (उस समय) निश्चित रूप से तुम दोनों गौरवान्वित हुए ।

व्याकरण—

१. जयन्ती – √जि (जीतना) + शतृ + ङीप्, प्रथमा, एकवचन ।

२. अन्वमन्यन्त – अनु + √मन् + आत्मनेपद लङ् प्रथमपुरुष, बहुवचन, वैदिकरूप; लौकिक संस्कृत में अन्वमन्यन्ते रूप बनेगा ।

३. संसचेथे – सम् + √सच् + आत्मनेपद लट् मध्यमपुरुष, द्विवचन । पदान्त एकार प्रगृह्य है ।

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्-
भरद्वाजायाश्विना हयन्ता ।
रेवदुवाह सचनो रथो वां
वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता ॥१८॥

पदपाठ— यत् । अयातम् । दिवःऽदासाय । वर्तिः । भरत्ऽवाजाय । अश्विना । हयन्ता ॥ रेवत् । उवाह । सचनः । रथः । वाम् । वृषभः । च । शिंशुमारः । च । युक्ता ॥

सा० भा०— हे अश्विनौ हयन्ता स्तुतिभिराहूयमानौ युवां भरद्वाजाय संभ्रिय-माणहविर्लक्षणान्नाय यजमानाय दिवोदासाय एतत्संज्ञाय राजर्षये अभीष्टं फलं दातुं वर्तिः तदीयं गृहं यत् यदा अयातम् तदानीं रेवत् धनयुक्तम् अन्नं वां युवयोः सचनः सेवनः रथः उवाह । तस्मै दिवोदासाय प्रापयामास । अपि च तस्मिन् रथे वृषभः अनड्वान् शिंशुमारः ग्राहः च परस्परविरुद्धावपि स्वसामर्थ्यप्रकटनाय युक्ता वाहनतया संयुक्तावास्ताम् ॥ दिवोदासाय । दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः' (का० ६.३.२१.५) इत्यलुक् । 'दिवोदासादीनां छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम् । भरद्वाजाय । 'भृञ् भरणे' । अस्माद्व्यत्ययेन कर्मणि शतृप्रत्ययः । शतुः 'छन्दस्युभयथा' इति आर्ध-धातुकत्वेन लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावात् प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वम् । हयन्ता । ह्वेञः कर्मणि लटो व्यत्ययेन । 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम् । शपि गुणे छान्दसः अयादेशः । रेवत् । रयिशब्दात् मतुप् । 'रयेर्मतौ बहुलम्' इति सम्प्रसारणम् । 'छन्दसीरः' इति मतुपो वत्वम् । 'रयिशब्दाच्च' (का० ६.१.१७६.१) इति मतुप उदात्तत्वम् । सचनः । 'षच सेवने' । 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' इति युच् । युक्ता । 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेः आकारः ॥

अन्वय— अश्विना, हयन्ता भरद्वाजाय दिवोदासाय यत् वर्तिः अयातम्, वाम् रेवत् सचनः रथः उवाह, वृषभः च शिंशुमारः च युक्ता ।

पदार्थ— अश्विना = हे दोनों अश्विनो । हयन्ता = बुलाये गये (आह्वान किये गये) तुम दोनों । भरद्वाजाय = पवित्र यजमान । दिवोदासाय = दिवोदास के लिए । यत् = जब । वर्तिः = (उसके) घर को । अयातम् = आये । वाम् = तुम दोनों को । रेवत् = धनयुक्त । सचनः = सहायक । रथः = रथ । उवाह = ले आया । वृषभः = बैल । शिंशुमारः च = और घड़ियाल । युक्ता = जोड़े (जोते) गये थे ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनो, बुलाये गये तुम दोनों पवित्र यजमान दिवोदास के लिए जब (उसके) घर आये (उस समय) तुम दोनों को धनयुक्त सहायक रथ ले आया (जिसमें) बैल और घड़ियाल जुड़े (जुते) थे ।

व्याकरण—

१. अयातम् – √या लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. हयन्ता – √हू + शतृ प्रथमा, द्विवचन, हयन्तौ का वैदिकरूप।

३. रेवत् – रयि + वतुप्।

४. युक्ता – √युज् + क्त। प्रथमा, द्विवचन, युक्तौ का वैदिकरूप।

५. अश्विना – सम्बोधन द्विवचन, अश्विनौ का वैदिकरूप।

र॒यिं सु॑क्ष॒त्रं स्व॑प॒त्यमायुः
सु॒वीर्यं॑ नासत्या॒ वह॑न्ता।
आ ज॒ह्नावीं॒ सम॑न॒सोप॒ वाजै॒-
स्त्रिरह्नो॑ भा॒गं दध॑तीमयातम्॥१९॥

पदपाठ— र॒यिम्। सु॒ऽक्ष॒त्रम्। सु॒ऽअ॒प॒त्यम्। आयु॑ः। सु॒ऽवीर्य॑म्। ना॒स॒त्या॒। वह॑न्ता॥ आ। ज॒ह्नावी॑म्। सऽम॑नसा। उप॑। वाजैः। त्रिः। अह्नः॑। भा॒गम्। दध॑तीम्। अ॒या॒त॒म्॥१९॥

सा० भा०— हे नासत्यावश्विनौ सुक्षत्रं शोभनबलं रयिं धनं स्वपत्यं शोभनैः पुत्रादिभिरुपेतं सुवीर्यं शोभनवीर्योपेतम् आयुः। अन्ननामैतम्। एवंगुणविशिष्टमन्नं च वहन्ता धारयन्तौ युवां समनसा समानमनस्कौ सन्तौ जह्नावीं जह्नोर्महर्षेः सम्बन्धिनीं प्रजाम् आ अयातम् आभिमुख्येनागच्छतम्। कीदृशीं वाजैः हविर्लक्षणैरन्नैरुपेताम्। अह्नः। अत्र अहःशब्देन तत्रानुष्ठेयः सोमयागो लक्ष्यते। तस्य प्रातः सवनादिरूपेण त्रिः त्रिधा विभक्तं भागम् अंशं दधतीं बिभ्रतीम्। अनुसवनं हविर्भिर्यजमानामित्यर्थः॥ सुक्षत्रम्। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। सुवीर्यम्। 'वीरवीर्यौ च' इति बहु-व्रीहौ उत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। जह्नावीम्। जह्नशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यर्थे अण्। 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप्। जाह्नवी। ह्रस्वदीर्घयोर्विनिमयः पृषोदरादित्वात्। उक्तं च— 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च' (का० ६.३.१०९) इति। अत एव मध्योदात्तत्वम्॥

अन्वय— नासत्या, सुक्षत्रं स्वपत्यं रयिं सुवीर्यम् आयुः वहन्ता समनसा अह्नः त्रिः भागं दधतीं जह्नावीम् उप आ अयातम्।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों नासत्यो। सुक्षत्रं = सुन्दर शक्तिसम्पन्न। स्व-पत्यम् = सुन्दर सन्तान युक्त। रयिम् = धन को। सुवीर्यम् = सुन्दर पराक्रम वाली। आयुः = आयु को। वहन्ता = वहन करते हुए, लाते हुए, देते हुए। समनसा = समान मन वाले। अह्नः = दिन में। त्रिः = तीन बार। भागम् = हिस्सा, अंश। दधतीम् = देती हुई। जह्नावीम् = जह्नु की सन्तान को (के)। उप = समीप। आ अयातम् = तुम दोनों आये।

अनुवाद— हे दोनों नासत्यो, सुन्दर शक्तिसम्पन्न (और) सुन्दर सन्तानयुक्त धन को (तथा) सुन्दर पराक्रम वाली आयु को देते हुए समान मन वाले तुम दोनों दिन में तीन बार (तुम्हारा) भाग (अंश) देती हुई जह्नु की सन्तान के समीप आये।

व्याकरण—

१. सुक्षत्रम्, स्वपत्यम्, सुवीर्यम् – सुष्ठु क्षत्रं यस्मिन् तादृशम्, सुष्ठु अपत्यं यस्मिन् तादृशम्, सुष्ठु वीर्यं यस्मिन् तादृशम् (बहुव्रीहि)।

२. वहन्ता – √वह् + शतृ, प्रथमा द्विवचन वहन्तौ का वैदिकरूप।

३. समनसा – सम मनः ययोः तादृशौ (बहुव्रीहि) समनसौ का वैदिकरूप।

४. जह्नावीम् – जह्नु + अण् + ङीप्, द्वितीया, एकवचन।

५. दधतीम् – √धा + शतृ + ङीप्, द्वितीया, एकवचन।

परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीं

सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः ।

विभिन्दुना नासत्या रथेन

वि पर्वताँ अजरयू अयातम् ॥२०॥

पदपाठ— **परिऽविष्टम् । जाहुषम् । विश्वतः । सीम् । सुऽगेभिः । नक्तम् । ऊहथुः । रजःऽभिः ॥ विऽभिन्दुना । नासत्या । रथेन । वि । पर्वतान् । अजरयू इति । अयातम् ॥२०॥**

सा०भा०— जाहुषो नाम कश्चिद्राजा । विश्वतः सर्वतः परिविष्टं शत्रुभिः परिवृतं तं राजानं हे नासत्यावश्विनौ अजरयू जरारहितौ नित्यतरुणौ युवां विभिन्दुना विशेषेण सर्वस्य भेदकेनात्मीयेन रथेन नक्तं रात्रौ सुगेभिः सुष्ठु गन्तुं शक्यैः रजोभिः रञ्जकैर्मार्गैः ऊहथुः तस्मात् शत्रुसमूहान्निरगमयतम् । सीम् इत्येतत् पादपूरणम् । निर्गतेन तेन सह पर्वतान् शत्रुभिरारोढुमशक्यान् शिलोच्चयान् वि अयातं विशेषेणागच्छतम् ॥ परिविष्टम् । 'विश प्रवेशने' । कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । सुगेभिः । 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः । विभिन्दुना । 'भिदिर् विदारणे' । औणादिक उप्रत्ययो नुमागमश्च । अजरयू । न जरा अजरा तामात्मन इच्छतः । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' इति इत्वदीर्घयोर्निषेधः । 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः ॥

अन्वय— विश्वतः परिविष्टं जाहुषं नक्तं सुगेभिः रजोभिः ऊहथुः । अजरयू नासत्या, विभिन्दुना रथेन पर्वतान् वि अयातम् ।

पदार्थ— विश्वतः = चारो ओर से । परिविष्टम् = घिरे हुए । जाहुषम् = जाहुष को । नक्तम् = रात्रि में । सुगेभिः = सुगम, चलने में आसान । रजोभिः = आकाश मार्ग से । ऊहथुः = ले आये । अजरयू = हे कभी वृद्ध न होने वाले । नासत्या = हे दोनों नासत्यो । विभिन्दुना = शत्रुओं का भेदन करने वाले । रथेन = रथ से । पर्वतान् = पर्वतों को । वि अयातम् = विशेषरूप से पार किया ।

अनुवाद— चारों ओर से (शत्रुओं द्वारा) घिरे हुए जाहुष को रात्रि में सुगम आकाश मार्ग से ले आये । हे कभी वृद्ध न होने वाले दोनों नासत्यों, शत्रुओं को भेदन (विनष्ट) करने वाले रथ से पर्वतों को पार किया ।

व्याकरण—

१. परिविष्टम् – परि + विष् + क्त द्वितीया, एकवचन ।

२. सीम् – पादपूरणार्थकनिपात ।

३. सुगेभिः – तृतीया बहुवचन, सुगैः का वैदिकरूप ।

४. विभिन्दुना – √भिद् + उ । तृतीया, एकवचन ।

५. अजरयू – नञ् + √जृ + क्यच् + उ । पदान्त अकार प्रगृह्य है ।

६. अयातम् – √या + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

एकस्या वस्तोरावतं रणाय

वशमश्विना सनये सहस्रा ।

निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता

पृथुश्रवसो वृषणावरातीः ॥२१॥

पदपाठ— **एकस्याः । वस्तोः । आवतम् । रणाय । वशम् । अश्विना । सनये । सहस्रा ॥ निः । अहतम । दुच्छुनाः । इन्द्रऽवन्ता । पृथुऽश्रवसः । वृषणौ । अरातीः ॥२१॥**

सा०भा०— हे अश्विनौ वशम् एतत्संज्ञमृषिम् एकस्याः वस्तोः एकस्याह्नः रणाय रमणीयाय सहस्रा सहस्रसङ्ख्याकाय सनये घनलाभाय आवतम् अरक्षतम् । स ऋषिः प्रत्यहं यथा सहस्रसङ्ख्यं धनं लभते तथा रक्षितवन्तावित्यर्थः । अपि च हे वृषणौ कामानां वर्षितारावश्विनौ इन्द्रवन्ता इन्द्रेण संयुक्तौ युवां दुच्छुनाः दुष्टसुखान् दुःखस्य कर्तॄन् पृथुश्रवसः विस्तीर्णयशसः अरातीः शत्रून् निरहतं निःशेषेणावधिष्टम् । यद्वा । कानीनस्य पृथुश्रवःसंज्ञस्य राज्ञः शत्रूनिति योज्यम् ॥ सहस्रा । 'सुपां सुलुक्०' इति चतुर्थ्या डादेशः । अहतम् । लङि थसस्तम् । 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादिना अनुनासिक-लोपः । दुच्छुनाः शुनमिति सुखनाम । दुष्टं सुखं यासां तास्तथोक्ताः । 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

अन्वय— अश्विना, वशम् एकस्याः वस्तोः सहस्रा रणाय सनये आवतम् । वृषणौ, इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसः दुच्छुनाः अरातीः निरहतम् ।

पदार्थ— अश्विना = हे दोनों अश्विनो ! वशम् = वश को । एकस्याः = एक ही । वस्तोः = दिन में । सहस्रा = हजारो । रणाय = रमणीय, सुन्दर । सनये = धन की प्राप्ति के लिए । आवतम् = तुम दोनों ने रक्षा की । वृषणौ = हे कामनाओं (अभिलाषों) की वर्षा (पूर्ति) करने वाले । इन्द्रवन्ता = इन्द्र से युक्त, इन्द्र के साथ । पृथुश्रवसः = पृथुश्रवस् के । दुच्छुना = कष्ट देने वाले, दुष्ट । अरातीः = शत्रुओं को । निरहतम् = तुम दोनों ने मार डाला (विनष्ट कर दिया) ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनो, वश की एक ही दिन में हजारों सुन्दर धन की प्राप्ति के लिए तुम दोनों ने रक्षा की । हे कामनाओं (अभिलाषाओं) की वर्षा (पूर्ति) करने वाले (दोनों अश्विनो), इन्द्र के साथ तुम दोनों ने पृथुश्रवस् के कष्ट देने वाले (दुष्ट) शत्रुओं को मार डाला ।

व्याकरण—

१. आवतम् – आ + √अव् +लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

२. सनये – √सन् + तुमर्थक अये प्रत्यय ।

३. अहतम् – √हन् + लङ् मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

४. दुच्छुना – दुष्टं सुखं यासां तथोक्ताः (बहुव्रीहि) ।

शरस्य॑ चिदार्च॒त्कस्या॑व॒ताद॒ा
नी॒चादु॒च्चा च॑क्रथुः पात॑वे॒ वाः ।
श॒यवे॑ चिन्नासत्या॒ शची॑भि॒-
र्जसु॑रये स्त॒र्यं॑ पिप्यथु॒र्गाम् ॥२२॥

पदपाठ— श॒रस्य॑ । चि॒त् । आ॒र्च॒त्ऽकस्य॑ । अ॒व॒तात् । आ । नी॒चात् । उ॒च्चा । च॒क्र॒थुः॒ । पात॑वे । वारिति॒ वाः ॥ श॒यवे॑ । चि॒त् । ना॒स॒त्या॒ । शची॑भिः । जसु॑रये । स्त॒र्य॑म् । पि॒प्य॒थुः॒ । गाम् ॥२२॥

सा०भा०— आर्चत्कस्य ऋचत्कपुत्रस्य शरस्य एतत्संज्ञस्यापि स्तोतुः पिपा-सितस्य पातवे पानार्थं नीचात् नीचानात् अवतात् कूपात् उच्चा उच्चैरुपरिष्टात् वाः उदकं हे अश्विनौ युवाम् आ चक्रथुः आभिमुख्येन कृतवन्तौ । तथा हे नासत्यावश्विनौ शचीभिः युष्मदीयैः कर्मभिः परिचरणैः जसुरये श्रान्ताय शयवे चित् शयुनाम्ने ऋषये निवृत्तप्रसवां गाम् अग्निहोत्रार्थस्य पयसो दोग्ध्रीं पिप्यथुः पयसा युवामापूरितवन्तौ ॥ पातवे । 'पा पाने' । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति तवेन्प्रत्ययः । जसुरये । 'जसु हिंसायाम् ।' 'जसिसहोरुरिन्' (उ०सू० २.२३१) । स्तर्यम् । स्तीर्यते आच्छाद्यते प्रसवसामर्थ्या-भावेन इति स्तरीः । 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्यः ईः' (उ०सू० ३.४३८) इति ईकारप्रत्ययः । 'वाच्छन्दसि' इति अमि पूर्वत्वस्य विकल्पितत्वात् अभावे यणादेशः । 'उदात्तस्वरित-योर्यणः०' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् । पिप्यथुः । 'प्यायी वृद्धौ' लिटि व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'लिड्यङोश्च' (पा०सू० ६.१.२९) इति पीभावः ॥

अन्वय— आर्चत्कस्य शरस्य चित् पातवे नीचात् अवतात् वाः उच्चा आ चक्रथुः । नासत्या,

जसुरये शयवे चित् शचीभिः स्तर्यं गां पिप्यथुः ।

पदार्थ— आर्चत्कस्य = ऋचत्क के पुत्र । शरस्य = शर (नामक स्तुति करने वाले) को । चित् = आदरार्थक निपात । पातवे = पीने के लिए । नीचात् = नीचे । अवतात् = कुएँ से । वाः = जल को । उच्चा = ऊँचा, ऊपर । आ चक्रथुः = तुम दोनों ने किया । नासत्या = हे दोनों नासत्यो । जसुरये = थके हुए । शयवे = शयु के लिए । चित् = आदरार्थक निपात । शचीभिः = शक्ति से । स्तर्यम् = वन्ध्या । गाम् = गाय को । पिप्यथुः = दूध देने योग्य किया (बनाया) ।

अनुवाद— तुम दोनों ने ऋचत्क के पुत्र शर (नामक स्तुति करने वाले) के लिए नीचे कुएँ से जल को ऊँचा (ऊपर) किया । हे दोनों नासत्यो, थके हुए शयु के लिए (अपनी) शक्ति से वन्ध्या गाय को दूध देने योग्य बनाया ।

व्याकरण—

१. पातवे – √पा + तुमर्थक वैदिक तवे प्रत्यय ।

२. वाः – वार् का द्वितीया, एकवचन ।

३. जसुरये – जसुरि का चतुर्थी, एकवचन । जसुरि = √जस् + उरिन् ।

४. पिप्यथुः – √पि + लिट्, मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय
ऋजूयते नासत्या शचीभिः ।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय
विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ॥२३॥

पदपाठ— अवस्यते । स्तुवते । कृष्णियाय । ऋजुऽयते । नासत्या । शचीभिः ॥ पशुम् । न । नष्टम्ऽइव । दर्शनाय । विष्णाप्वम् । ददथुः । विश्वकाय ॥२३॥

सा० भा०— अवस्यते अवनं रक्षणमात्मन इच्छते । स्तुवते स्तुतिं कुर्वते कृष्णि-याय । कृष्णो नाम कश्चित् । तस्य पुत्राय । ऋजूयते आर्जवमिच्छते विश्वकाय एतत्-संज्ञाय ऋषये हे नासत्यौ युवां शचीभिः आत्मीयैः कर्मभिः विष्णाप्वं नाम विनष्टं पुत्रं दर्शनाय दर्शनार्थं ददथुः दत्तवन्तौ । तत्र दृष्टान्तः । पशुं न नष्टमिव । एक उपमार्थीयः पूरकः । यथा कश्चिद्विनष्टं पशुं स्वामिनो दृष्टिपथं प्रापयति तद्वत् ॥ अवस्यते । अवः शब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । कृष्णियाय । कृष्णशब्ददपत्यार्थे छान्दसो घच् ॥

अन्वय— नासत्या, अवस्यते स्तुवते ऋजूयते कृष्णियाय विश्वकाय शचीभिः दर्शनाय नष्टं पशुं न विष्णाप्वम् ददथुः ।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों नासत्यो । अवस्यते = सहायता के इच्छुक । स्तुवते = स्तुति करने वाले । ऋजूयते = सरल जीवन यापन करने वाले । कृष्णियाय = कृष्ण के पुत्र । विश्वकाय = विश्वक के लिए । शचीभिः = शक्ति से । दर्शनाय = दर्शन के लिए । नष्टं = नष्ट हुए । पशुं न = पशु के समान । विष्णाप्वम् = विष्णापु को । ददथुः = प्रदान किया ।

अनुवाद— हे दोनों नासत्यो, सहायता के इच्छुक, स्तुति करने वाले (स्तोता), सरल जीवन यापन करने वाले, कृष्ण के पुत्र विश्वक के लिए तुम दोनों ने उसी प्रकार विष्णापु को दिया जिस प्रकार विनष्ट हुआ पशु (मालिक के पास) दर्शन (देखने) के लिए (आ जाय) ।

व्याकरण—

१. अवस्यते – अवस्यत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन । अवस्यत् = अवस् + क्यच् ।

२. स्तुवते – स्तुवत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन । स्तुवत् = √स्तु + शतृ ।

३. ऋजूयते – ऋजूयत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन। ऋजूयत् = √ऋजूय् + शतृ।

दश रात्रीरशिवेना नव द्यू-
नवनद्धं श्नथितमप्स्व१न्तः।
विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्त-
मुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण ॥२४॥

पदपाठ— दश। रात्रीः। अशिवेन। नव। द्यून्। अवऽनद्धम्। श्नथितम्। अप्ऽसु। अन्तरिति॥ विऽप्रुतम्। रेभम्। उदनि। प्रऽवृक्तम्। उत्। निन्यथुः। सोमम्ऽइव। स्रुवेण ॥२४॥

सा० भा०— पुरा खलु रेभमृषिं पाशैर्बध्वा असुराः कूपे कस्यचिद्दिवसस्य सायं-काले प्रचिक्षिपुः। स च अश्विनौ स्तुवन् दश रात्रीः नवाहानि च कूपमध्ये तथैवावतस्थे। दशमेऽहनि प्रातः अश्विनौ तं कूपात् उदतारयतामिति। तदाह। अप्सु कूपान्तर्वर्तमानासु अन्तः मध्ये असुरैः पातितम् अशिवेन दुःखहेतुना दाम्ना अवनद्धं बद्धं श्नथितं शत्रु-भिर्हिंसितं दश रात्रीः दशसङ्ख्याका निशाः नव द्यून् नवसङ्ख्याकान्यहानि च। अत्यन्त-संयोगे द्वितीया। एतावन्तं कालं तत्रैव कूपेऽवस्थितम् अत एव उदनि उदके विप्रुतं विप्लुतं व्याक्षिप्तसर्वाङ्गं प्रवृक्तम्। लुप्तोपममेतत्। प्रवृञ्जनेन सन्तप्तं घर्ममिव व्यथया सन्तप्यमानम् एवंभूतं रेभं हे अश्विनौ युवाम् उन्निन्यथुः तस्मात्कूपात् उन्नीतम् उत्तीर्णं कृतवन्तौ। तत्र दृष्टान्तः। सोममिव यथा अग्निहोत्रहोमार्थम् अभिषुतं सोमरसं कूपसदृशे अग्निहोत्रस्थालीमध्ये वर्तमानं स्रुवेण अध्वर्युः उन्नयति नयति तद्वत्॥ अवनद्धम्। 'णह बन्धने'। कर्मणि निष्ठा। 'नहो धः' (पा०सू० ८.२.३४)। 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति निष्ठातकारस्य धत्वम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। श्नथितम्। 'श्नथ हिंसार्थः'। निष्ठा। विप्रुतम्। 'प्रुङ् गतौ'। अवनद्धवत् प्रत्ययस्वरौ। कपिल-कादित्वात् लत्वविकल्पः। उदनि। 'पद्दन्०' इत्यादिना उदकशब्दस्य उदन्भावः॥

अन्वय— दश रात्री नव द्यून् स्नथितम् अशिवेन अवनद्धम् अप्सु अन्तः विप्रुतम् उदनि प्रवृक्तं रेभं स्रुवेण सोमम् इव अन्निन्यथुः।

पदार्थ— दश = दस। रात्री = रात्रि। नव द्यून् = नव दिनों तक। स्नथितम् = पीटे हुए। अशिवेन = कष्टकारी रस्सी से। अनवद्धम् = बँधे हुए। अप्सु अन्तः = जल के मध्य में। विप्रुतम् = फेके गये। उदनि = जल में। प्रवृत्तम् = कष्ट सहते हुए। रेभम् = रेभ को। स्रुव्रेण = स्रुवा से। सोमम् इव = सोम के समान। उन्निन्यथुः = तुम दोनों ने बाहर निकाला।

अनुवाद— (हे दोनों अश्विनो), तुम दोनों ने दस रात्रि (और) नव दिनों तक पीटे हुए, कष्टकारी रस्सी से बाँधे हुए, जल के मध्य में फेके गये तथा जल में कष्ट सहते हुए रेभ को स्रुवा द्वारा सोम के समान बाहर निकाला।

व्याकरण—

१. अनवद्धम् – अव + √नह् + क्त, द्वितीया, एकवचन।
२. श्नथितम् – √स्नथ् + क्त, द्वितीया, एकवचन।
३. विप्रुतम् – वि + √प्रु + क्त, द्वितीया, एकवचन।
४. प्रवृक्तम् – प्र + वृज् + क्त, द्वितीया, एकवचन।

प्र वां दंसांस्यश्विनाववोच-
मस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः।
उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायु-
रस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम् ॥२५॥

पदपाठ— प्र । वाम् । दंसांसि । अश्विनौ । अवोचम् । अस्य । पतिः । स्याम् । सुऽगवः । सुऽवीरः ॥ उत । पश्यन् । अश्नुवन् । दीर्घम् । आयुः । अस्तम्ऽइव । इत् । जरिमाणम् । जगम्याम् ॥२५॥

सा० भा०— एवमनेन सूक्तेन अश्विनोर्महिमानं प्रशस्य अधुना मन्त्रद्रष्टा स्वा-भीष्टं प्रार्थयते । हे अश्विनौ वां युवयोः दंसांसि पुरा कृतानि कर्माणि प्र अवोचम् इत्थम् उक्तवानस्मि । सोऽहं सुगवः शोभनगोयुक्तः सुवीरः शोभनवीरश्च भूत्वा अस्य राष्ट्रस्य पतिः अधिपतिः स्यां भवेयम् । उत अपि च पश्यन् अक्षिभ्यां पश्यन् । उपलक्षण-मेतत् । सर्वैरिन्द्रियैः स्वस्वविषयदर्शनसमर्थैः दीर्घं वर्षशतरूपेण आयतम् आयुः जीवितं च अश्नुवन् प्राप्नुवन्नहम् अस्तमिव यथा गृहं गृहस्वामी निष्कण्टकं प्रविशति एवं जरि- माणं जरां जगम्यां कण्टकराहित्येन प्राप्नुयाम् । वृद्धः सन् चिरकालं निवसेयमित्यर्थः । स्याम् । अस्तेः प्रार्थनायां लिङ् । यासुट् । 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः । अश्नुवन् । 'अशू व्याप्तौ' । व्यत्ययेन शतृ । जरिमाणम् । 'जृष् वयोहानौ' । अस्मादौणादिकः इम-निच् । जगम्याम् । गमेः प्रार्थनायां लिङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः ॥

अन्वय— अश्विनौ, दंसांसि प्रवोचम्, सुगवः सुवीरः अस्य पतिः स्याम् । उत पश्यन् दीर्घम् आयुः अश्नुवन् अस्तम् इव जरिमाणं जगम्याम् ।

पदार्थ— अश्विनौ = हे दोनों अश्विनो ! दंसांसि = पराक्रमयुक्त कार्यों को । प्रवोचम् = मैंने कह दिया (वर्णन कर दिया) । सुगवः = सन्दर गायों वाला । सुवीरः = सुन्दर सन्तानों वाला । अस्य = इस (राष्ट्र) का । पतिः = स्वामी । स्याम् = मैं होऊँ । उत = और । पश्यन् = देखता हुआ । दीर्घम् = दीर्घ । आयुः = आयु को । अश्नन् = प्राप्त करता हुआ । अस्तम् इव = घर के समान । जरिमाणम् = वृद्धावस्था को । जगम्याम् = जाऊँ, प्राप्त करूँ ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनो, मैंने (तुम्हारे) पराक्रमयुक्त कार्यों को कह दिया (वर्णन कर दिया) । सुन्दर गायों वाला सुन्दर सन्तानों से युक्त मैं इस (राष्ट्र) का स्वामी होऊँ (और) देखता हुआ, दीर्घ आयु को प्राप्त करता हुआ मैं उसी प्रकार वृद्धावस्था को जाऊँ (प्राप्त करूँ) जैसे (लोग) घर को जाते हैं ।

व्याकरण—

१. अवोचम् – √वच् (कहना) + लुङ् उत्तमपुरुष, एकवचन ।

२. सुवीरः, सुगवः – सुष्ठु वीरः यस्य तादृशः, सुष्ठु गौ यस्य तादृशः (बहुव्रीहि) ।

३. अश्नुवन् – √अश् + शतृ, पुल्लिङ्ग प्रथमा, एकवचन ।

४. पश्यन् – √दृश् + शतृ, पुल्लिङ्ग प्रथमा, एकवचन ।

५. जरिमाणम् – √जीर् + इमिनिच् ।

६. जगम्याम् – √गम् + लिट् उत्तमपुरुष, एकवचन ।

अभ्यास—

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) नासत्याभ्यां बर्हिरिव..................१

(ख) तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे..............३

(ग) युवं नरा स्तुवते पज्रियाय................७

(घ) तद्वां नरा सनये दंस..........१२

(ङ) शतं मेषान्वृक्ये...............१६

(२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) आशुहेमभिः ।

(ख) अश्विना ।

(ग) विद्वांसा ।

(घ) अपगूह्म्।

(ङ) सर्तवे।

५.१ विश्वामित्र-नदी-संवाद

वेद-ऋग्वेद **मण्डल संख्या-३** **सूक्त संख्या-३३**

ऋषि-१-५,७,९,११ विश्वामित्र देवता-इन्द्र छन्द-त्रिष्टुप्,
४,६,८,१० नदी ११ अनुष्टुप्

प्र पर्वतानामुशती उपस्था-
दश्वेइव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥१॥

पदपाठ— प्र। पर्वतानाम्। उशती इति। उपऽस्थात्। अश्वे इवेत्यश्वेऽइव। विसिते इति विऽसिते। हासमाने इति॥ गावाऽइव। शुभ्रे इति। मातरा। रिहाणे इति। विऽपाट्। शुतुद्री। पयसा। जवेते इति॥

सा०भा०— पर्वतानां गिरीणां शैलानाम् उपस्थात् उत्सङ्गान्निर्गत्य उशती समुद्र-गमनं कामयमाने। गमने दृष्टान्तः। अश्वेइव। यथा विसिते मन्दुरातो विमुक्ते हासमाने अन्योन्यजवेन स्पर्धमाने। यद्वा हृष्यन्त्यावश्वे इव बडवे इव त्वरया गच्छन्त्यौ परस्परं हृष्यन्त्यौ। तथा गावेव शुभ्रे। यथा द्वौ गावौ शोभमानौ वर्तेते तद्वच्छुभ्रे शोभमाने। किञ्च मातरा। यथा मातरौ धेनू रिहाणे। अन्तर्णीतत्सन्नर्थो लिहिः। वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ शीघ्रं गच्छतस्तद्वत् समुद्रं गन्तुं जवात् गच्छन्त्यौ पयसा संयुक्ते विपाट्। कूलविपाटनात् विपाशनाद्वा विमोचनाद्वा विपाट्। शुतुद्री। शु क्षिप्रं तु तुन्ना द्रवति गच्छतीति शुतुद्री। एतन्नामके नद्यौ प्र जवेते समुद्रं प्रति शीघ्रं गच्छतः। अत्र निरुक्तं 'पर्वतानामुपस्थादुपस्थानादुशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते' (निरु० ९.३९) इति॥ उशती। 'वश कान्तौ'। अस्य शतुर्ङित्वात् 'ग्रहिज्यावयि' इत्यादिना संप्रसारणम्। विषिते। 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य कर्मणि निष्ठा। संहितायां 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसह०' इत्यादिना षत्वम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरः। हासमाने। हासतिः स्पर्धाकर्मा हसे हसने वा। शानच्। तस्य लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः। रिहाणे। 'लिह आस्वादने'। स्वरितत्त्वादुभयपदी। शानच्। अदादित्वाच्छपो लुक्। लकारस्य रेफश्छान्दसः। रेफमवलम्ब्य णत्वम्। चित्वादन्तोदात्तः। विपाट्। 'पट गतौ' 'पश बाधनस्पर्शयोः' इति वा ण्यन्तावेतौ विपूर्वौ। शकारस्य व्रश्चादिना षत्वम्। शुतुद्री। छान्दसी रूपसिद्धिः। जवेते। 'जुङ् गतौ' भौवादिः। ङित्वादात्मनेपदम्। 'आतो ङितः' इति इयादेशः। निघातः॥

अन्वय— पर्वतानाम् उपस्थात् उशती, विषिते हासमाने अश्वे इव, मातरा रिहाणे शुभ्रे गावा इव, विपाट्शुतुद्री पयसा प्र जवेते।

पदार्थ— पर्वतानाम् = पर्वतों की। उपस्थात् = गोद से। उशती = इच्छा करती हुई, कामना करती हुई। विषिते = खुले लगाम वाली, खोली गयी। हासमाने = परस्पर स्पर्धा से दौड़ती हुई अथवा हिनहिनाती हुयी। अश्वे इव = दो घोड़ियों के समान। मातरा = माताएँ। रिहाणे = चाटती हुई। शुभ्रे = सफेद रंग की, शोभायमान होते हुए। गावा इव = दो गायों के समान। विपाट् = विपाट् (नाम वाली सिन्धु की सहायक एक नदी)। शुतुद्री = शुतुद्री (नाम वाली सिन्धु की एक सहायक नदी)। पयसा = जल के प्रवाह से। प्र जवेते = तेजी से बह रही हैं।

अनुवाद— पर्वतों की गोद से (निकलकर) समुद्र की ओर जाने की) इच्छा करती हुई, (परस्पर)

स्पर्धा से दौड़ती हुई, खुले लगाम वाली दो घोड़ियों के समान, (बछड़े को) चाटती हुई दो सफेद माता गायों के समान, विपाट् और शुतुद्री (अपने) जल के प्रवाह से तेजी से बह रही हैं।

व्याकरण—

१. उशती – √वश् कान्तौ + शतृ (अत्) ङीप् + (ई)। 'ग्रहिज्या०' सूत्र से सम्प्रसारण होकर = उशती।

२. उपस्थात् – उपस्थीयते अत्र। उप + √स्था + क (अ) = उपस्थ। पञ्चमी विभक्ति का एकवचन।

३. विषिते – वि + √षिञ् (बन्धने) + क्त = विषित। स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा, द्विवचन।

४. हासमाने – √हास (स्पर्धायां हर्षमाणे वा) + शानच् + हासमान, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा, द्विवचन।

५. शुभ्रे – √शुभ् (कान्तौ) शुभ् + र = शुभ्र स्त्रीलिङ्ग प्रथमा द्विवचन।

६. रिहाणे – √लिह् (आस्वादने) + शानच् (आन) 'ल को छान्दस र आदेश' 'न' को 'ण' होकर = रिहाण, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा द्विवचन।

७. विपाट् – वि + √पट् (गतौ) अथवा वि + √पश् (बन्धनस्पर्शयोः) + णिच् + क्विप्।

८. जवेते – √जुङ् (गतौ)। आत्मनेपद, लट्, प्रथमपुरुष, द्विवचन।

विशेष—

१. प्रस्तुत सूक्त के विषय में यह आख्यान प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषि सुदास नामक राजा के पुरोहित थे। पौरोहित्य से उनको प्रभूत धन प्राप्त हुआ। उस धन को लेकर वे अपने अनुयायियों के साथ विपाट् और शुतुद्री (व्यास और सतलज) नदियों के संगम पर पहुँचे। उन्होंने नदियों के पार जाने की इच्छा की। परन्तु नदियों के अगाध जल को देखकर उन्होंने उनकी स्तुति किया।

२. सायण ने 'उशती' की निष्पत्ति 'वश कान्तौ' से करके इनका अर्थ 'कामना करती हुई' किया है। पीटर्सन ने भी इसी प्रकार निष्पत्ति मानी है। परन्तु उसका अर्थ है— कान्ति से सम्भृत। विषित = वि + सि To let loose। लुई रेनो ने उशती का अर्थ 'Joyful ones' किया है। सायण ने हास धातु के दो अर्थ यास्क का अनुकरण करते हुए बताया हैं— स्पर्धा करना और प्रसन्न होना। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ दौड़ में दौड़ना भी करते हैं। पीटर्सन के अनुसार ऋग्वेद में 'हासमान' पद का प्रयोग तीन स्थानों पर हुआ है और इसका भाव है— Running। लुई रेनो यहाँ हसासमाने का अर्थ 'Who rush in to the arena' किया है।

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे
अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने
अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ॥२॥

पदपाठ— इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते। प्रऽसवम्। भिक्षमाणे इति। अच्छ। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः ॥ समाराणे इति सम्ऽआराणे। ऊर्मिऽभिः। पिन्वमाने इति। अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति ॥

सा० भा०— हे नद्यौ इन्द्रेषिते प्रेषिते प्रसवं तस्येन्द्रस्यानुज्ञां भिक्षमाणे प्रार्थयमाने युवां समुद्रम् अच्छ आभिमुख्येन याथः गच्छथः। तत्र दृष्टान्तः। रथ्येव इति। यथा रथिनौ लक्ष्यं देशमभिगच्छतस्तद्वत्। किं कुर्वत्यौ। समाराणे परस्परं सङ्गच्छन्त्यौ ऊर्मिभिः तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेशं सन्तर्पयन्त्यौ शुभ्रे शोभमाने। युवां समुद्रं गच्छथ इति पूर्वेणान्वयः। तथा वां युवयोर्मध्ये अन्या एका अन्याम् अपरां नदीम् अप्येति अपि गच्छति। परस्परमैक्यमापद्यत इत्यर्थः। ॥ इन्द्रेषिते। 'इष गतौ' इत्यस्य कर्मणि निष्ठायाः 'तीषसह०' इत्यादिना इडागमः। तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदस्वरः। प्रसवम्। 'षू प्रेरणे' इत्यस्य अप्। याथादिस्वरः। भिक्षमाणे। 'भिक्ष याच्ञायाम्'। आत्मनेपदी। शानचो लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वे धातुस्वरः। रथ्येव।

रथस्येमौ । तस्येदम् इत्यर्थे 'रथाद्यत्' इति यत्प्रत्ययः । तित्स्वरितः । इवेन विभक्त्यलोपः इत्यादि । याथः । यातेर्लटि रूपम् । समाराणे । 'ऋ गतौ' इत्यस्य लिट् । सम्पूर्वस्यार्तेः 'समो गमि०' इत्यादिना आत्मनेपदत्वात् तस्य कानजादेशः । 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः । पिन्वमाने । 'पिवि सेचने' । भूवादिः । लसार्वधातुकस्वरेण शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

अन्वय— इन्द्रेषिते, प्रसवं भिक्षमाणे, समाराणे, ऊर्मिभिः पिन्वमाने, शुभ्रे समुद्रम् अच्छ रथ्या इव याथः । वाम् अन्या अन्यामपि एति ।

पदार्थ— इन्द्रेषिते = इन्द्र के द्वारा भेजी गयी । प्रसवम् = प्रवाहित होने के लिए । भिक्षमाणे = प्रार्थना करती हुई, याचना करती हुई । समाराणे = एक साथ जाती हुई । ऊर्मिभिः = तरङ्गों से, लहरों से । पिन्वमाने = उमड़ती हुई, तृप्त करती हुई । शुभ्रे = हे सफेद वर्ण वाली । समुद्रम् अच्छ = समुद्र की ओर । रथ्या इव = दो रथियों के समान । याथः =जा रही हो । वाम् = तुम दोनों में से । अन्या = एक । अन्याम् = दूसरे के पास । अपि = भी । एति = जा रही है ।

अनुवाद— (हे नदियो !) इन्द्र द्वारा भेजी गयी, बहने के लिए प्रार्थना करती हुई, दो रथियों के समान समुद्र की ओर जा रही हो । हे शुभ्रे ! एक साथ जाती हुई, लहरों से उमड़ती हुई, तुममें से प्रत्येक एक दूसरे की ओर जा रही हो ।

व्याकरण—

१. इन्द्रेषिते – इन्द्रेण इषिते, (तृतीया तत्पुरुष), √इष् (गतौ) + क्त, इट् का आगम = इषित ।

२. भिक्षमाणे – √भिक्ष् (याच्ञायाम्) + शानच् = भिक्षमाण ।

३. प्रसवम् – प्र + √सू (प्रेरणे) + अ (अप्) = प्रसव ।

४. रथ्या – रथ्यास्य इदम् । 'तस्येदम्' अर्थ में 'रथाधत्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय । रथ + य = रथ्य ।

५. याथः – √या (गतौ) लट् लकार, मध्यमपुरुष, द्विवचन ।

६. समाराणे – सम् + आ + √ऋ (गतौ) आन (कानच्) गुण होकर = अराण । सम् + आ + अराण = समाराण ।

७. पिन्वमाने – √पिवि (सेचने) + आन (शानच्) । नुम् और मुक् का आगम होकर पिन्वमान ।

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं
विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म ।
वत्समिव मातरा संरिहाणे
समानं योनिमनु सञ्चरन्ती ॥३॥

पदपाठ— अच्छ । सिन्धुम् । मातृऽतमाम् । अयासम् । विऽपाशम् । उर्वीम् । सुऽभगाम् । अगन्म ॥ वत्सम्ऽइव । मातरा । संरिहाणे इति सम्ऽरिहाणे । समानम् । योनिम् । अनु । संचरन्ती इति सम्ऽचरन्ती ॥

सा० भा०— हे नद्यौ मातृतमाम् अतिशयेन मातरं सिन्धुं स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन अयासं विश्वामित्रोऽहं प्राप्तोऽभूवम् । उर्वीं महतीं सुभगां सौभाग्यवतीं विपाशं त्वाम् अगन्म वयं प्राप्ताः स्म । किं कुर्वत्यौ । मातरा मातरौ द्वे धेनू वत्समिव संरिहाणे अन्तर्णीतसन्नर्थौ लिहिः । जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ यथा वत्समनुगच्छतस्तद्वत् समानम् एकं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु अभिलक्ष्य सञ्चरन्ती रन्त्यौ । युवामयासिषमिति पूर्वेणान्वयः ॥ अयासम् । 'या प्रापणे' इत्यस्य रूपम् । इडभावश्छान्दसः । अगन्म । गमेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । 'म्वोश्च' इति मकारस्य नकारः । निघातः । सञ्चरन्ती । चरतिर्गत्यर्थः । तृतीयायुक्तत्वाभावात् आत्मनेपदाभावः । शतुर्लसार्वधातुक-स्वरेणानुदात्तत्वे कृते धातुस्वरः ॥

अन्वय— मातृतमाम् सिन्धुम् अच्छ अयासम् । उर्वीं, सुभगां विपाशम् अगन्म । मातरा वत्सम् इव

संरिहाणे समानं योनिम् अनुसञ्चरन्ती (अयासम्)।

पदार्थ— मातृतमाम् = सर्वश्रेष्ठ माता । सिन्धुम् = नदी । अच्छ = ओर, पास । अयासम् = आया हूँ, पहुँच गया हूँ । उर्वीम् = विशाल । सुभगाम् = सुन्दर, सौभाग्यशालिनी । विपाशम् = विपाशा (विपाट् की ओर) । अगन्म = आया हूँ, पहुँच गए हैं । मातरा इव = दो माता गायों के समान। वत्सम् = बछड़े । संरिहाणे = चाटने की इच्छा करती हुई । समानं योनिम् = एक ही स्थान । अनु = और । सञ्चरन्ती = साथ-साथ जाती है ।

अनुवाद— श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सौभाग्य-शालिनी (सुन्दर) विपाट् के पास आया हूँ। बछड़ों को चाटती हुई दो माता (गायों) के समान, एक ही स्थान (समुद्र को लक्ष्य कर) बहती हुई (शुतुद्री और विपाट् के पास आया हूँ) ।

व्याकरण—

१. मातृतमाम् – अतिशयेन मातरम् । अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय ।

२. अयासम् – √या (प्राप्त करना), लुङ् लकार, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

३. सुभगाम् – शोभनः भगः यस्याः ताम् (बहुव्रीहि समास) ।

४. संरिहाणे – सम् + √लिह् (आस्वादने) + शानच्, ल को र आदेश, नकार का णकार होकर रिहाण, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा, द्विवचन ।

५. अगन्म – √गम् लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

६. सञ्चरन्ती – सम् + √चर् (विचरणे) + शतृ + ङीप् प्रथमा, द्विवचन, पदान्त ईकार प्रगृह्य ।

एना वयं पर्यसा पिन्वमाना
अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः
किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति ॥४॥

पदपाठ— एना । वयम् । पर्यसा । पिन्वमानाः । अनु । योनिम् । देवऽकृतम् । चरन्तीः ॥ न । वर्तवे । प्रऽसवः । सर्गऽतक्तः । किम्ऽयुः । विप्रः । नद्यः । जोहवीति ॥

सा० भा०— एवं स्तुते नद्यौ विश्वामित्रं प्रत्यूचतुः । एना एनेन पयसा पिन्व-मानाः सन्तर्पयन्त्यः देवकृतं देवेनेन्द्रेण कृतं संदिष्टं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु लक्षी- कृत्य चरन्तीः गच्छन्त्यः वयम् आस्महे । द्वयोर्बहुवचनं पूजार्थम् । तासामस्माकं सर्ग-तक्तः सर्गे गमने प्रवृत्तः प्रसवः उद्योगः न वर्तवे निवर्तनाय न भवति । किंयुः किमिच्छन् असौ विप्रः ब्राह्मणः नद्यः नदीः अस्मान् जोहवीति भृशमाह्वयति ॥ एना । एतच्छब्दस्य तृतीयाया एनादेशः । 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया आजादेशः । 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । पिन्वमानाः । 'पिवि सेचने' । देवकृतम् । 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । वर्तवे । 'वृतु वर्तने' । तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः । नित्स्वरः । सर्गतक्तः । 'क्ते च' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । किंयुः । कि-मिच्छन् । 'क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेध' (पा०वा० ३.१.८.१) इति छान्दसत्वादत्र प्रति-षेधो न भवतीति क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । नद्यः । छान्दसो यणादेशः । जोहवीति । ह्वेञः यङ्लुकि 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणे कृते यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणः । 'यङो वा' इति इडागमः । गुणः । निघातः ।

अन्वय— एना पयसा पिन्वमानाः वयं देवकृतं योनिम् अनुचरन्तीः । सर्गतक्तः प्रसवः वर्तवे न । किंयुः विप्रः नद्यः जोहवीति ।

पदार्थ— एना = इस, ऐसी, । पयसा = जल से । पिन्वमानाः = संतृप्त करती हुई, उमड़ती हुई । वयम् = हम लोग । देवकृतम् = देव इन्द्र द्वारा बताये गये, देवताओं द्वारा निर्मित । योनिम् = स्थान

(की ओर)। अनुचरन्ती: = जाती हुई, विचरण करती हुई। सर्गतक्त: = बहने में प्रवृत्त होता हुआ, स्वाभाविक रूप से प्रवाहित। प्रसव: = प्रेरणा (उद्योग)। वर्तवे = रुकने के लिए। न = नहीं। किंयु: = क्या चाहता हुआ। विप्र: = ब्राह्मण (विश्वामित्र)। नद्य: = नदियों को। जोहवीति = बार-बार पुकारता है।

अनुवाद— विश्वामित्र द्वारा स्तुति की जाती हुई नदियाँ उत्तर देती हैं— इस जल से प्रान्तभूमियों को संतृप्त करती हुई हम देवराज इन्द्र द्वारा बताए स्थान समुद्र की ओर जा रही हैं। हमारा बहने में प्रवृत्त होता हुआ उद्योग (बहाव) रुकने के लिए नहीं है। क्या चाहता हुआ (किस इच्छा वाला) यह ब्राह्मण (विश्वामित्र) हम नदियों को बार-बार पुकार रहा है?

व्याकरण—

१. एना – इदम् शब्द। तृतीया विभक्ति के एकवचन में इदम् को 'एन' आदेश और विभक्ति को आ आदेश।

२. देवकृतम् – देवेन कृतम्। (तृतीया तत्पुरुष समास)। कृ + क्त = कृत।

३. वर्तवे – √वृ, तुमर्थक वैदिक तवेन् प्रत्यय। वृ + तवे = वर्तवे।

४. प्रसव: – प्र + √षू (प्रेरणे) + अ (अप्) = प्रसव।

५. सर्गतक्त: – सर्गे तक्त:। √सृज् + घञ् = सर्ग। तक् + क्त = तक्त।

६. किंयु: – 'किम् इच्छन्' अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय। किम् + य। 'क्यचन्दसि' सूत्र से उ प्रत्यय = किंयु।

७. जोहवीति – पुन: पुन: ह्वयते। यङ् प्रत्यय, यङ् का लोप, द्वित्व अभ्यास को 'ज' आदेश और गुण, सम्प्रसारण, इट् का आगम, गुण और अव आदेश होकर = जोहवीति।

विशेष—

१. 'पयसा पिन्वमाना:' का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने 'Swelling with water' किया है और 'योनि' का अर्थ 'River Bed' किया है। इस स्थान पर बहने के लिए इन्द्र ने उन नदियों को निर्देश किया था। नदियाँ दो हैं, तथापि 'वयम्' में बहुवचन का प्रयोग आदर के लिए है। इस सूक्त में नदियाँ जब कुछ कहती हैं, तो अपने के लिए बहुवचन का प्रयोग करती हैं।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय
ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा-
वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥५॥

पदपाठ— रमध्वम्। मे। वचसे। सोम्याय। ऋतऽवरी:। उप। मुहूर्तम्। एवै: ॥ प्र। सिन्धुम्। अच्छ। बृहती। मनीषा। अवस्युः। अह्वे। कुशिकस्य। सूनुः ॥

सा० भा०— विश्वामित्रो नदी: प्रति ब्रूते। ऋतावरी:। ऋतमुदकम् तद्वत्यो हे नद्यो यूयं मे विश्वामित्रस्य मम सोम्याय। उत्तीर्याहं सोमं संपादयामीत्येवं सोमसंपादिने वचसे तदर्थम् एवै:। पञ्चम्यर्थे तृतीया। शीघ्रगमनेभ्य: मुहूर्तं मुहूर्तमात्रम् उप रमध्वम्। उपपूर्वो रमिरुपसंहारे वर्तते। क्षणमात्रं शीघ्रगमनादुपरता भवत। सामान्येन नदीषूच्यमा-नासु समीहितं प्रयोजनमकुर्वतीषु पुरोवर्तिनीं शुतुद्रीं प्रति ब्रूते। कुशिकस्य राजर्षे: सूनु: विश्वामित्रोहऽहं बृहती महत्या मनीषा मनीषया स्तुत्या अवस्यु: आत्मनो रक्षणमिच्छन् सन् सिन्धुं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन प्र अह्वे प्रकर्षेणाह्वयामि। अत्र निरुक्तम्— 'उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिना ऋतावरीर्ऋतवस्य ऋतमित्युदकनाम प्रत्युतं भवति मुहूर्तमेवैरयनैरवनैर्वा। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वाननाय कुशिकस्य सूनु:। कुशिको राजा बभूव (निरु० २.२५) इति ॥ रमध्वम्। 'रमु उपरमे'। उपपूर्वाद्रमते: 'विभाषाकर्मकात्' (पा०सू० १.३.८५) इत्यात्मनेपदम्। ऋतावरी: ऋतशब्दान्मत्वर्थे 'छन्दसीवनिपौ' इति वनिप्। 'वनो र च' इति ङीप् रेफश्चान्तादेश:।

'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः । आमन्त्रितस्य पादादित्वात् षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वम् । एवैः । 'इण् गतौ' । 'इण्शीङ्भ्यां वन्' । आर्धधातुकलक्षणो गुणः । नित्स्वरः । बृहती मनीषा । उभयत्र तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः । अवस्युः । अवो रक्षणमिच्छन् । सुप आत्मनः क्यच् । 'नः क्ये' इति नकारान्तस्य पदसंज्ञाया नियमितत्वादत्र सकारस्य रुनं नभति । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः । अह्वे । ह्वयतेर्लुङि सिंचः 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यङादेशः । गुणः । निघातः ॥

अन्वय— ऋतावरीः मे सोम्याय वचसे एवैः मुहूर्तम् उपरमध्वम् । कुशिकस्य सूनुः अवस्युः सिन्धुम् अच्छ बृहती मनीषा प्र अह्वे ।

पदार्थ— ऋतावरीः = जल से भरी हुई । मे = मेरे । सोम्याय = सोम रस को सम्पादित करने के लिए । वचसे = कथन के निमित्त से । एवैः = अपनी गतियों से । मुर्हुतम् = क्षण भर के लिए । उपरमध्वम् = रुक जाओ । कुशिकस्य सूनुः = कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र । अवस्युः = रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ । सिन्धुम् अच्छ = शुतुद्री नदी की ओर अभिमुख होकर । बृहती = महान् । मनीषा = स्तुति से । प्र अह्वे = जोर से पुकार रहा है ।

अनुवाद— (नदियों के पूछने पर विश्वामित्र कहते हैं—) जल से भरी हुई हे नदियो ! मुझ विश्वामित्र के सोम को सम्पादित करने वाले कथन के निमित्त से ही तुम अपनी गति से क्षणभर के लिए रुक जाओ । (तदनन्तर विश्वामित्र शुतुद्री नदी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं—) मैं कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र (विश्वामित्र) रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (तुम) शुतुद्री नदी की ओर अभिमुख होकर (अपनी) महान् स्तुति से (तुमको) जोर से पुकार रहा हूँ ।

व्याकरण—

१. ऋतावरीः – 'ऋतम् यस्याः सा' अर्थ में ऋत शब्द से मतुप् के अर्थ में 'छन्दसीवनिपौ' सूत्र से वनिप् प्रत्यय । ऋत् + वन् । 'वनो र च' सूत्र से ङीप् और वन् के न को र आदेश 'वा छन्दसि' से दीर्घ होकर = ऋतावरी, सम्बोधन बहुवचन ।

२. एवैः – √इण् (गतौ) 'इण्शीङ्भ्यां वन्' सूत्र से वन् प्रत्यय । इ + व । गुण होकर = एव । तृतीया का बहुवचन = एवैः । यहाँ पञ्चमी के अर्थ में तृतीया है ।

३. मनीषा – मनसः ईषा = मनीषा । तृतीया के अर्थ में प्रथमा ।

४. अवस्युः – 'अवः आत्मन इच्छति' अर्थ में 'सुप आमनः क्यच्' से क्यच् प्रत्यय । अवस् + य । 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से उ प्रत्यय = अवस्युः ।

विशेष—

१. यहाँ सायण ने 'ऋत' का अर्थ 'उदक करके' ऋतावरी का अर्थ 'जल से भरी हुई' किया है । सायण ने अपने अर्थ की पुष्टि यास्क के निरुक्त से की है— 'ऋतमित्युदकनाम' । पीटर्सन ने ऋत का अर्थ 'आदरणीय पवित्र' मानकर 'ऋतावरी' का अर्थ 'holy one' किया है । लुई रेनो ने इस शब्द का अर्थ Rite obsesvers किया है । उसके अनुसार ऋत का अर्थ 'वैदिक यज्ञ' है ।

२. सायण ने 'सोम्याय' पद से यह अभिप्राय लेते हैं कि ऋषि को नदी के पार जाकर सोम का सम्पादन करना है, अतः उनका वचन 'सोम्य' है । यास्क ने भी 'सोम्याय' का अर्थ 'सोमसम्पादिने' किया है । पीटर्सन इससे यह अभिप्राय लेते है कि विश्वामित्र ऋषि अपने कथन के सोम भी प्रदान कर रहे हैं (My words that have accompanieal) । लुई रेनो सोम्याय में उपमा मानते है । विश्वामित्र के वचन सोम के समान मधुर है (my spech sweet like the Soma)

३. सायण ने 'मनीषा' का अर्थ स्तुति किया है । पीटर्सन इसका अर्थ अभिलाषा (Longing) करते हैं । लुई रेनो ने इसका अर्थ विचार'(Thought) किया है । यास्क के अनुसार 'मनीषा' का अर्थ 'स्तुति अथवा प्रज्ञा' है ।

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रदु॒द्वज्र॑बाहु-
रपा॑हन्वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म् ।

देवौऽनयत्सविता सुपाणि-

स्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥६॥

पदपाठ— **इन्द्रः । अस्मान् । अरदत् । वज्रऽबाहुः । अप । अहन् । वृत्रम् । परिऽधिम् । नदीनाम् ॥ देवः । अनयत् । सविता । सुऽपाणिः । तस्य । वयम् । प्रऽसवे । यामः । उर्वीः ॥**

सा० भा०— नद्यः प्रत्यूचुः । हे विश्वामित्र वज्रबाहुः वज्रयुक्तो बाहुर्यस्यासौ वज्र-बाहुः । तादृशो बलवान् इन्द्रः नदीः अस्मान् अरदत् । रदतिः खनतिकर्मा । अखनत् । कथमखनत् । उच्यते । नदीनां शब्दकारिणीनामपां परिधिं परितो निहितमुदकमन्तः कृत्वा परितो वर्तमानमित्यर्थः । तादृशं वृत्रम् । वृणोत्याकाशमिति वृत्रो मेघः । तं मेघम् अपाहन् जघान । तस्मिन् हते आपः पतिताः । ताभिर्गच्छन्तीभिर्वयं खाताः । एवं मेघहननद्वारेणा-खनत् । न केवलखनत् किं तर्हि सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सुपाणिः शोभनहस्तः उत्पत्तिस्थितिकर्तृत्वात्तादृशः देवः द्योतमानः इन्द्रः अस्मान् अनयत् । मेघभेदनं कृत्वोदक-प्रेरणेन समुद्रमपूरयत् । तस्य तादृशसामर्थ्योपेतस्य इन्द्रस्य प्रसवे अभ्यनुज्ञायां वर्त-मानाः उर्वीः उदकैः प्रभूताः वयं यामः गच्छामः । न तव वचनादुपरमामहे । उक्तार्थं यास्को ब्रवीति— 'इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहू रदतिः खनतिकर्मपाहन्वृत्रं परिधिं नदीना-मिति व्याख्यातम् । देवोऽनयत्सविता सुपाणिः कल्याणपाणिः पाणिः पणायते: पूजा-कर्मणः प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीरुर्व्यः' (निरु० २.२६) इति ॥ अरदत् । रदतेर्लङि रूपम् । वज्रबाहुः बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वरः । अहन् । हन्तेर्लङि रूपम् । निघातः । परिधिम् । डुधाञ् धारणपोषणयोः' इत्यस्यात् कर्मण्युपसर्गे 'घोः किः' इति किप्रत्ययः । आतो लोपः । कृदुत्तरपदस्वरः । अनयत् । नयतेर्लङि रूपम् । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' । 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ ' (उ०सू० ४.५७२) इतीण् । आयलुक् । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इति स्वरः । प्रसवे 'षू प्रेरणे' । 'ऋदोरप्' इति भावेऽप्प्रत्ययः । 'थाथघञ्क्ता' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यामः । 'या प्रायणे' इत्यस्य लटि रूपम् । निघातः । उर्वीः । उरुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः । प्रत्ययस्वरः ॥

अन्वय— वज्रबाहुः इन्द्रः अस्मान् अरदत् । नदीनां परिधिं वृत्रम् अपाहन् । सविता सुपाणिः देवः अनयत् । वयम् उर्वीः तस्य प्रसवे यामः ।

पदार्थ— वज्रबाहुः = भुजाओं में वज्र को धारण करने वाले । इन्द्रः = इन्द्र ने । अस्मान् = हमको । अरदत् = खोदा । नदीनाम् = नदियों की । परिधिम् = घेर कर रोकने वाले । वृत्रम् = वृत्र को । अपाहन् = मारा । सविता = प्रेरणा देने वाला । सुपाणिः = शोभन हाथों वाला । देवः = तेज से चमकता हुआ । अनयत् = ले गया । वयम् = हम । उर्वीः = विशाल । तस्य = उसके । प्रसवे = प्रेरणा से । यामः = जाती हैं ।

अनुवाद— (नदियाँ प्रत्युत्तर देती हैं— हे विश्वामित्र !) भुजाओं में वज्र को धारण करने वाले इन्द्र ने हमको खोदा । (अर्थात् उसने खोदकर हमारे लिए मार्ग बनाया) । नदियों को (अर्थात् जलों को) चारों ओर से घेर कर रोकने वाले वृत्र को (इन्द्र ने) मारा । सबको प्रेरणा देने वाले और शोभन हाथों वाले तेज से दीप्तिमान् (इन्द्र) हमें (इस मार्ग से) ले गये । हम विशाल जल से भरी नदियाँ उसकी प्रेरणा से जाती हैं (बहती) हैं ।

व्याख्या—

१. अस्माँ – स्वर बाद में होने पर वेद में पदान्त आकार से परवर्ती नकार का लोप और पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक ।

२. अरदत् – √रद्, लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

३. अनयत् – √नी, लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

४. यामः – √या, लट् उत्तमपुरुष, बहुवचन ।

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१ंत-

दिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत् ।

वि वज्रेण परिषदो जघाना-

यन्नापोऽयनमिच्छमानाः ॥७॥

पदपाठ— प्रऽवाच्यम् । शश्वधा । वीर्यम् । तत् । इन्द्रस्य । कर्म । यत् । अहिम् । विऽवृश्चत् ॥ वि । वज्रेण । परिऽसदः । जघान । आयन् । आपः । अयनम् । इच्छमानाः ॥

सा० भा०— योऽयमिन्द्रः अहिं मेघं विवृश्चत् उदकप्रेरणार्थं जघानेति यत् कर्म छेदनरूपं तत् इदम् तस्य इन्द्रस्य वीर्यं सामर्थ्यं शश्वधा सर्वदा प्रवाच्यं प्रकर्षेण वच-नीयम् । तथा स इन्द्रः परिषदः परितः सीदत आसीनान् प्रतिबन्धकारिणोऽसुरान् वज्रेण वि जघान । अथ अयनं स्थानम् इच्छमानाः इच्छन्त्यः आपः आयन् यान्ति ॥ प्रवाच्यम् । 'वच परिभाषणे' इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् । णित्त्वादुपधावृद्धिः । 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' (पा०सू० ७.३.६७) इति कुत्वाभावः । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा वाच-यतेः 'अचो यत्' । 'यतोऽनावः' इति स्वरः । शश्वधा । शश्वच्छब्दात् स्वार्थे धाप्रत्ययस्तकारलोपश्च द्रष्टव्यः । विवृश्चत् । 'ओव्रश्चू छेदने' । तुदादिः । लङि 'ग्रहिज्यावयि०' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात् समासः । समास-स्वरः । परिषदः । क्विप् । संहितायां 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् । जघान हन्तेर्लिटि णलि रूपम् । निघातः । आयन् । 'अय गतौ' इत्यस्य लङि रूपम् । पादादित्वादनिघातः । इच्छमानाः । इषु इच्छायाम् इत्यस्मात् व्यत्ययेन शानच् । तस्य लसार्वधातुकस्वरे कृते प्रत्ययस्वरः ॥

अन्वय— इन्द्रस्य तत् वीर्यं कर्म यत् अहिं विवृश्चत् शश्वधा प्रवाच्यम्, वज्रेण परिसदः विजघान, आपः अयनम् इच्छमानाः आयन् ।

पदार्थ— इन्द्रस्य = इन्द्र का । तत् = वह । वीर्यम् = पराक्रमयुक्त । कर्म = कार्य । यत् = जो । अहिम् = अहि (नामक असुर) को । विवृश्चत् = काट डाला, मार डाला । शश्वधा = सर्वदा । प्रवाच्यम् = प्रकृष्ट रूप से कहने (प्रशंसा करने) योग्य । वज्रेण = वज्र से । परिसदः = प्रतिबन्धकों को । वि जघान = मार डाला । आपः = जल । अयनम् = मार्ग को । इच्छमानाः = इच्छा करता हुआ, खोजता हुआ । आयन् = प्रवाहित हुआ ।

अनुवाद— इन्द्र का वह पराक्रमयुक्त कार्य, जो (उसने) अहि (जल को रोकने वाले अहि नामक असुर) को मार डाला, (वह) सर्वदा प्रकृष्टरूप से प्रशंसनीय है । (उस इन्द्र ने) वज्र से प्रतिबन्धकों (जल के रोकने वालों) को मार डाला (और) जल (अपने) मार्ग को खोजता हुआ प्रवाहित हुआ ।

व्याकरण—

१. प्रवाच्यम् – प्र + √वच् + ण्यत् ।

२. वीर्यम् – √वीर् + यत् ।

३. विवृश्चत् – √व्रश्च् (कर्त्तने) + लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

४. परिषदः – परि + √सद् + क्विप् ।

५. जघान – √हन् + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

६. आयन् – √इ (गमने) + लङ् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

७. इच्छमानाः – √इष् (अभिलाषे) + शानच्, प्रथमा, बहुवचन ।

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा

आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि ।

उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व

मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते ॥८॥

पदपाठ— एतत् । वचः । जरितः । मा । अपि । मृष्ठाः । आ । यत् । ते । घोषान् ।

उत्ऽतरा । युगानि ॥ उक्थेषु । कारो इति । प्रति । नः । जुषस्व । मा । नः । नि । करिति कः । पुरुषऽत्रा । नमः । ते ॥

सा० भा०— नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः । जरितः स्तोतः हे विश्वामित्र ते त्वदीयं यत् संवादात्मकं वचः त्वं नः अभीत्या घोषान् उद्घोषयन् वर्तसे तद्वचः मापि मृष्ठाः मा विस्मार्षीः । कि कारणम् । उत्तरा युगानि उत्तरेषु याज्ञिकेषु युगेषु अहःसु उक्थेषु कारो शास्त्राणां कर्तस्त्वं नः अस्मान् प्रति जुषस्व संवादात्मकेन तेन वाक्येन प्रतिसेवस्व । इदानीं नः अस्मान् पुरुषत्रा पुरुषेषु मा नि कः । उक्तिप्रत्युक्ति-रूपसंवादवाक्याध्यापनेन नितरां पुंवत् प्रागल्भाः मा कार्षीः । ते तुभ्यं नमः ॥ मृष्ठाः । 'मृजूष् शुद्धौ' इत्यस्य लङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । अदादित्वाच्छपो लुक् । व्रश्चा- दिना षत्वम् । निघातः । घोषान् । 'घुषिर् संशब्दने' इत्यस्य शतरि सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' इति पररूपत्वाभावः । सवर्णदीर्घः । शतुर्लसार्वधातुक- स्वरे कृते धातुस्वरः । युगानि । 'युजिर् योगे' । उञ्छादिषु घञन्तत्वेन निपातनादगुण-त्वम् । विशिष्टविषयं च निपातनमिष्यते । 'कालविशेषे रथाद्युपकरणे च' इति तत्र पाठादेवान्तोदात्तत्वम् । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । कारो । करोतेः 'कृवापा-जिमि०' इत्यादिना उण्प्रत्ययः । आमन्त्रितत्वान्निघातः । कः । करोतेर्लुङि च्लेः 'मन्त्रे घस०' इत्यादिना लुक् हल्ङ्यादिना सिचो लोपः । 'न माङ्योगे' इत्यडभावः । पुरुषत्रा । 'देवमनुष्यपुरुषपुरुर्मर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ॥

अन्वय— जरितः, एतत् वचः अपि मा मृष्ठाः यत् ते उत्तरा युगानि आ घोषान् । कारो, उक्थेषु नः प्रति जुषस्व । नः पुरुषत्रा मा नि कः, ते नमः ।

पदार्थ— जरितः = हे स्तोता, हे स्तुति करने वाले । एतत् = इस । वचः = वचन को । अपि = भी, कभी भी । मा = नहीं, मत । मृष्ठाः = भूलना । यत् = जिससे । ते = तुम्हारे । उत्तरा = उत्तरवर्ती, भावी । युगानि = युगों वाले लोग । आघोषान् = सुन सकें । कारो = हे क्रान्तद्रष्टा (कवि) । उक्थेषु = स्तुतियों में । नः = हमारे । प्रति जुषस्व = प्रति आदर करो (रखो) । नः = हम लोगों को । पुरुषत्रा = पुरुषों (की श्रेणी) में । मा = मत । नि कः = नीचे करो (रखो) । ते = तुमको । नमः = नमस्कार है ।

अनुवाद— हे स्तुति करने वाले (विश्वामित्र), इस वचन को कभी भी मत भूलना जिससे तुम्हारे (इस वचन को) भावी युगों के लोग सुन सकें । हे क्रान्तद्रष्टा (कवि), (अपनी) स्तुतियों में हमारे लिए आदर रखो । हम लोगों को पुरुष (की श्रेणी) में नीचे मत रखो । तुमको नमस्कार है ।

व्याकरण—

१. जरितः – √जॄ + तृच् = जरितृ, सम्बोधन ।
२. मृष्ठाः – √मृष् + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।
३. घोषान् – √घुष् (श्रवणे), लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप ।
४. कारो – √कृ + उण्, सम्बोधन, एकवचन ।
५. जुषस्व – √जुष् आत्मनेपद, लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।
६. कः – √कृ, लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप ।
७. पुरुषत्रा– पुरुष + सप्तम्यर्थ देवमनुष्यपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् (पा०सू० ६.२.४९) से त्रा प्रत्यय ।

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत
ययौ वो दूरादनसा रथेन ।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा
अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥९॥

पदपाठ— **ओ इति । सु । स्वसारः । कारवे । शृणोत । ययौ । वः । दूरात् । अनसा ।**

रथेन ॥ नि । सु । नमध्वम् । भवत । सुऽपाराः । अधःऽअक्षाः । सिन्धवः । स्रोत्याभिः ॥

सा० भा०— विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच । स्वसारः भगिन्यः सिन्धवः हे नद्यः कारवे स्तोत्रं कुर्वाणस्य मम वचनं सुष्ठु ओ शृणोत शृणुतैव । अनया शकटेन रथेन च सह दूरात् विप्रकृष्टाद्देशात् वः युष्मात् ययौ प्राप्तोऽस्मि । यूयं सु सुष्ठु नि नमध्वम् आत्मना स्वयं प्रह्वाः भवत । तथा सुपाराः रथादीनां तीरात् सुखेनावरोहणावरोहणे यथा स्यातां तथा शोभनरोधसश्च भवत । किञ्च यूयं स्रोत्याभिः स्रवणशीलाभिरद्भिः अधो-अक्षाः रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत । यदापोऽक्षस्याधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते । तस्मात् तत्परिमाणोदकाः भवतेति अर्थाभिप्रायः ॥ ओ अति प्रगृह्यसंज्ञा । शृणोत । 'श्रु श्रवणे' इत्यस्य लोटि तप्रत्ययस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' इति तवादेशः । पित्त्वाद्गुणः । निघातः । ययौ । 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिट्युत्तमे णलि 'आत औ णलः' इत्यौकारः एकादेशस्वरः । वः । युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायाः बहुवचनस्य वस्नसौ' इति वसादेशः । षु । 'निपातस्य' इति संहितायां दीर्घः । नमध्वम् । 'णमु प्रह्वत्वं शब्दे च' इत्यस्य कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुगमां यक्चिणौ' इति प्रतिषेधात् यगभावः । अधोअक्षाः अधरशब्दस्य 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययोऽधादेशश्च । अक्षशब्दः 'अशूव्याप्तौ' इत्यस्मात् 'अशेर्दवने' (उ०सू० ३.३४५) इति सप्रत्ययान्तः । कृदुत्तर-पदप्रकृतिस्वरः । सिन्धवः । आमन्त्रितत्वान्निघातः । स्रोत्याभिः स्रोतःशब्दात् 'स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ' (पा सू० ४.४.११३) इति ड्वप्रत्ययः । डित्वात् टिलोपः । प्रत्ययस्वरः ॥

अन्वय— ओ सु स्वसारः, कारवे शृणोत, वः दूरात् अनसा रथेन ययौ । सु नि नमध्वम् । सिन्धवः, स्रोत्याभिः अधो अक्षाः सुपारा भवत ।

पदार्थ— ओ सु स्वसारः = हे सुन्दर बहनो । कारवे = कवि की बात को । शृणोत = सुनो । वः = तुम्हारे (समीप) । दूरात् = बहुत दूर से । अनसा = गाड़ी द्वारा । रथेन = रथ द्वारा । ययौ = आया हूँ । सु नि नमध्वम् = तुम लोग अच्छी प्रकार से नीचे झुक जाओ । सिन्धवः = हे नदियो । स्रोत्यामिः = (अपनी) जलधाराओं से । अधोअक्षाः = अक्ष (धूरी) से नीचे । सुपारा = सरलता से पार होने योग्य । भवत = हो जाओ ।

अनुवाद— हे सुन्दर बहनो, तुम लोग (मुझ) कवि की बात को सुनो, हम बहुत दूर से गाड़ी द्वारा (और) रथ द्वारा तुम्हारे समीप आये हैं । तुम लोग अच्छी प्रकार से नीचे झुक जाओ । हे नदियो, अपनी जलधाराओं से रथ के अक्ष (धूरी) के नीचे (बहती हुई) तुम लोग सरलतापूर्वक पार होने योग्य हो जाओ ।

व्याकरण—

१. ओ – सम्बोधन वाचक निपात, प्रगृह्य ।

२. शृणोत – √श्रु (श्रवणे) लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन ।

३. ययौ – √या (गमने) लिट् उत्तमपुरुष, एकवचन ।

४. नमध्वम् – √नम् आत्मनेपद लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन ।

५. भवत – √भू लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि
ययाथ दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा
मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥१०॥

पदपाठ— **आ । ते । कारो इति । शृणवाम । वचांसि । ययाथ । दूरात् । अनसा । रथेन ॥ नि । ते । नंसै । पीप्यानाऽइव । योषा । मर्यायऽइव । कन्या । शश्वचै । त इति ते ॥**

सा० भा०— नद्यः पूर्वं विश्वामित्रं प्रत्याख्यायानयर्चा तस्य वाक्यमाशुश्रुवुः । कारो स्तोत्रं कुर्वाण हे विश्वामित्र ते तव वचांसि इमानि वाक्यानि आ शृणवाम शृणुमः । तव समीहितं प्रयोजनं कुर्म इत्यर्थः । अनसा शकटेन रथेन च सह ययाथ । यतो दूरात् आगतोऽसि । वयं त्वदर्थं नि नंसै नीचैर्नमाम ।

प्रत्येकविवक्षया अत्रैकवचनम्। रथेन गन्तुं गाधोदका भवामेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। पीप्यानेव योषा। पीप्याना पुत्रं स्तनं पाय-यन्ती योषा माता यथा प्रह्वीभवति। दृष्टान्तान्तरम्। यथा कन्या युवतिः मर्यायेव मनुष्याय पित्रे भ्रात्रे वा शश्वचै परिष्वजनाय नभ्रीभवति तद्वत् ते त्वदर्थ प्रह्वीभवामः॥ ते इति पुनरुक्तिरादरार्थम्। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे— 'आश्रणवाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा च रथेन च निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' (निरु० २.२७) इति॥ कारो। 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतौ०' (पा०सू० १.१.१६) इति प्रगृह्यसंज्ञा। श्रृणवाम। 'श्रु श्रवणे' इत्यस्य लोटि 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमः। पित्वात् गुणः। निघातः। ययाथ। 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिटि थलि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधः। लित्स्वरः। अनसा। सहार्थे तृतीया। नंसै। 'णमु प्रह्वत्वे' इत्यस्य लेट्युत्तमे लेटि सिब्बहुलमिति सिप्। 'वैतोऽन्यत्र' इत्यै-कारादेशः। निघातः। पीप्यानेव। 'पीङ् पाने' इत्यस्यान्तर्भावितण्यर्थस्य लिटि कानचि रूपम्। चित्स्वरः। योषा। 'यू मिश्रणे'। 'वृतृवदिहनि' (उ०सू० ३.३४२) इत्यादिना सप्रत्ययः। यौतीति योषा। वृषादित्वादाद्युदात्तः। शश्वचै। 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इत्यस्मात् सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप्। पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिरन्तोदात्तश्च॥

अन्वय— कारो, ते वचांसि आशृणवाम, दूरात् अनसा रथेन ययाथ। योषा पीप्यानेव कन्या मर्यायेव शश्वचैः ते नि नंसै।

शब्दार्थ— कारो = हे प्रार्थना (स्तुति) करने वाले (विश्वामित्र)। ते = तुम्हारी। वचांसि = बातों को। आशृणवाम = हम सुन रहीं हैं। दूरात् = दूर से। अनसा = गाड़ी द्वारा। रथेन = रथ द्वारा। ययाथ = तुम लोग आये हो। योषा = स्त्री। पीप्यानेव = दूध भरे स्तन के समान। कन्या = युवती। मर्यायेव = प्रेमी के समान। शश्वचैः = आलिङ्गन के लिए। ते = तुम्हारे लिए। नि नंसै = नीच झुक रही हूँ।

अनुवाद— हे स्तुति करने वाले (विश्वामित्र), तुम्हारी बातों को हम सुन रही है कि दूर से गाड़ी द्वारा और रथ द्वारा तुम लोग आये हो, जिस प्रकार दूध भरे स्तन वाली स्त्री (अपने पुत्र के और) जैसे युवती अपने प्रेमी के आलिङ्गन के लिए झुकती है, उसी प्रकार मैं नीचे झुक रही हूँ।

व्याकरण—

१. श्रृणवाम – √श्रृ (श्रवणे) लट् उत्तमपुरुष, बहुवचन, वैदिकरूप।

२. ययाथ – √या (गमने) + लिट् मध्यमपुरुष, बहुवचन।

३. नंसै – √नम् आत्मनेपद, लुङ् उत्तमपुरुष, एकवचन।

४. शश्वचैः – √श्वच् + क्विप्।

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयु-

र्गव्यन्ग्रामं इषित इन्द्रजूतः।

अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त

आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥११॥

पदपाठ— यत्। अङ्ग। त्वा। भरताः। सम्ऽतरेयुः। गव्यन्। ग्रामः। इषितः। इन्द्रऽजूतः॥ अर्षात्। अह। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः। आ। वः। वृणे। सुऽमतिम्। यज्ञियानाम्॥

सा०भा०— विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच। अङ्ग इत्यामन्त्रणे। हे नद्यः यत् यस्मात् युष्माभिरुत्तितीर्षोः ममोत्तरणमभ्यनुज्ञातं तस्मात् भरताः भरतकुलजा मदीयाः सर्वे त्वा परस्परमेकतामापन्नां नदीं त्वां संतरेयुः सम्यगुत्तीर्णा भवेयुः। तदेव विशिनष्टि। गव्यन् गा उदकानि तरीतुमिच्छन् इषितः त्वयाभ्यनुज्ञातः इन्द्रजूतः युष्माकं प्रवर्तकेनेन्द्रेण च प्रेरितः ग्रामः भरतानां सङ्घः अर्षात् संतरेत्। यतः सर्गतक्तः गमनाय प्रवृत्तः प्रसवः तेषामुद्योगः अह पूर्वं युष्माभिरनुज्ञातः। अहं तु यज्ञियानां यज्ञार्हाणां वः युष्माकं सुमतिं शोभनां स्तुतिम् आ वृणे सर्वतः संभजे॥ भरताः। भरतशब्दादुत्सादित्वादञ्। तस्य 'यञञोश्च' इति लुक्। अतच्प्रत्ययस्वरः। संतरेयुः। तरलेर्लिङि जुसि रूपम्। झेर्लसार्वधातुकस्वरे धातुस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेर्निघातः। गव्यन्। गा आत्मन इच्छन्। सुपः क्यच्। एकादेशस्वरः। ग्रामः। 'ग्रसतेरा च' (उ०सू० १.१४०) इति

मन्प्रत्यय आकारादेशश्च । नित्स्वर: । इन्द्रजूत: । जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थ: । 'श्र्युक: किति' इति निष्ठायामिट्प्रतिषेध: । 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर: । अर्षात् । 'ऋ गतौ' इत्यस्य लेटि तिपि 'सिब्बहुलम्' इति सिप् । लेट आडागम: । 'एकाच:' इतीट्प्रतिषेध: । गुण: । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वर: । वृणे । 'वृङ् संभक्तौ' इत्यस्य लटि रूपम् । यज्ञियानाम् । 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' इति घप्रत्यय: । प्रत्ययस्वर: ॥

अन्वय— अङ्ग, यत् भरता: त्वा सन्तरेयु:, गव्यन् इषित: इन्द्रजूत: ग्राम: (सन्तरेयु:), व: प्रसव: सर्गतक्त: अर्षात्, यज्ञियानां सुमतिम् आवृणे ।

पदार्थ— अङ्ग = सम्बोधन वाचक निपात, हे (नदियों) । यत् = जो (तुम्हारी अनुमति मिल गयी है) । भरता: = भरतवंश वाले (हम) लोग । त्वा = तुमको । सन्तरेयु: = पार करें । गव्यन् = (पार करने की) इच्छा वाले । इषित: = (तुम्हारे द्वारा) अनुज्ञात (पार जाने के निर्देश को प्राप्त) । इन्द्रजूत: = इन्द्र द्वारा भेजा गया । ग्राम: = (यह) समूह । व: = तुम लोगों का । प्रसव: = जलप्रवाह । सर्गसक्त: = स्वाभाविक रूप से । अर्षात् = प्रवाहित रहे । यज्ञियानाम् = पवित्र (नदियों) की । सुमतिम् = सुन्दर मति, को समर्थन को । आवृणे = मैं चाहता हूँ ।

अनुवाद— हे (नदियो), जो (तुम्हारी अनुमति मिल गयी है) (इसलिए) भरत-वंश वाले (हम) लोग तुमको पार करें । (पार जाने की) इच्छा वाले (तुम्हारे द्वारा) अनुज्ञात (और) इन्द्र द्वारा भेजा गया (यह) समूह (तुमको पार करे) । तुम लोगों का जल-प्रवाह स्वाभाविक रूप से प्रवाहित रहे, पवित्र (नदियों) के समर्थन को मैं चाहता (स्वीकार करता) हूँ ।

व्याकरण—

१. सन्तरेयु: – सम् + √तृ (तरणे) विधिलिङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. इन्द्रजूत: – इन्द्रेण जूत: (तृतीया तत्पुरुष) ।

३. गव्यन् – गो + क्यच् ।

४. अर्षात् – √ऋष् – लेट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

५. वृणे – √वृ (चयने) आत्मनेपद् लट् उत्तमपुरुष, एकवचन ।

अतारिषुर्भरता गव्यव: स-

मभक्त विप्र: सुमतिं नदीनाम् ।

प्र पिन्वध्वमिषयन्ती: सुराधा

आ वक्षणा: पृणध्वं यात शीभम् ॥१२॥

पदपाठ— **अतारिषु: । भरता: । गव्यव: । सम् । अभक्त । विप्र: । सुऽमतिम् । नदीनाम् ॥ प्र । पिन्वध्वम् । इषयन्ती: । सुऽराधा: । आ । वक्षणा: । पृणध्वम् । यात । शीभम् ॥**

सा० भा०— गव्यव: गा आत्मन इच्छन्त: भरता: भरतकुलजा: सर्वे अतारिषु: तां नदीं समतरन् विप्र: मेधावी विश्वामित्र: नदीनां सुमतिं शोभनां स्तुतिं समभक्त समभजत । यूयं तु यथापूर्वम् इषयन्ती: कुल्यादिद्वारा अन्नं कुर्वाणा अत एव सुराधा: शोभनधनोपेता यूयं वक्षणा: कृत्रिमसरित: कुल्या: प्र पिन्वध्वं प्रकर्षेण तर्पयत । आ पृणध्वं ता: सर्वत: पूरयत च । शीघ्रं यात गच्छत च ॥ अतारिषु: । 'तिप्लवनतरणयो:' इत्यस्य लुङि 'सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु' इति वृद्धि: । अडागमस्वर: । गव्यव: । सुप: क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्यय: । तस्य स्वर: । अभक्त । 'भज सेवायाम्' इत्यस्य लुङि सिच: 'झलो झलि' इति लोप: । [illegible]ादित्वादनिघात: । पिन्वध्वम् । 'पिवि सेचने' इत्यस्य लोटि रूपम् । निघात: । इषयन्ता: । इषं कुर्वत्य: । 'तत्करोति' इति णिच् । 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति इष्ठवद्भावात् 'टे[illegible]ते टिलोप: । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घ: । प्रत्ययस्वर: । पृणध्वम् । 'पृण प्रीणने' । लोटि रूपम् । व्यत्ययेनात्मने-पदम् । वाक्यभेदादनिघात: । यात । 'या प्रापणे' इत्यस्य लोटि रूपम् । अत्रापि न निघात: । शीभम् । 'शीभृ

कत्थने'। श्लाघ्यतेऽनेन तद्वानिति करणे घञ्। ञित्स्वरः॥

अन्वय— गव्यवः भरताः अतारिषुः, विप्रः नदीनां सुमतिं समभक्त। सुराधाः इषयन्तीः वक्षणाः प्र पिन्वध्वम्। आपृणध्वं शीभं यात।

पदार्थ— गव्यवः = पार जाने की कामना वाले। भरता = भरतवंश वाले लोगों ने। अतारिषुः = पार कर लिया। विप्रः = विप्र (विश्वामित्र) ने। नदीनाम् = नदियों की। सुमतिम् = सुन्दर मति को, समर्थन को। समभक्त = प्राप्त कर लिया। सुराधाः = सुन्दर धन वाली (नदियाँ)। इषयन्तीः = धन लाती हुई। वक्षणाः = अपने स्थान पर। प्र पिन्वध्वम् = प्रकृष्ट रूप से प्रवाहित होवो। आ पृणध्वम् = पूर्णरूप से भर जाओ। शीभम् = शीघ्रता से। यात = बहो, प्रवाहित होवों।

अनुवाद— पार जाने की कामना वाले भरतवंश के लोगों ने पार कर लिया (और) विप्र (विश्वामित्र) ने नदियों का समर्थन प्राप्त कर लिया। सुन्दर धन वाली (नदियाँ) (तुम लोग) धन लाती हुई (अपने) स्थान पर (यथावत्) प्रकृष्टरूप से प्रवाहित होवों, पूर्णरूप से भर जाओ (और) शीध्रता से बहो।

व्याकरण—

१. अतारिषुः – √तृ लुङ् प्रथमपुरुष, बहुवचन।

२. भक्त – √भज् अत्मनेपद लुङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

३. इषयन्तीः – √इष् + णिच्।

४. पिन्वध्वम् – √पिन्व आत्मनेपद लोट्, मध्यमपुरुष, बहुवचन।

५. पृणध्वम् – √पृञ्, आत्मनेपद, लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन।

६. यात – √या (गमने) लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन।

उद्व ऊर्मिः शम्या हु-
न्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्यैनसा-
घ्न्यौ शूनमारताम् ॥१३॥

पदपाठ— उत्। वः। ऊर्मिः। शम्याः। हन्तु। आपः। योक्त्राणि। मुञ्चत॥ मा। अदुःऽकृतौ। विऽएनसा। अघ्न्यौ। शूनम्। आ। अरताम्॥

सा०भा०— पूर्वमुत्तितीर्षुर्विश्वामित्रो नदीरुक्त्वा अधुना उत्तितीर्षुः पुनराह। हे नद्यः वः युष्माकम् ऊर्मिः तरङ्गः शम्याः युग्मकण्ठपार्श्वादिसंलेग्ना रज्जवः उत् ऊर्ध्वं यथा भवन्ति तथा हन्तु गच्छतु। स तरङ्गो रज्जूनामधो गच्छत्वित्यभिप्रायः। तथा हे आपः यूयं येक्त्राणि ता रज्जूः मुञ्चत। यथा न स्पृशन्ति तथा यान्त्वित्यभिप्रायः। व्येनसा विगतपापे अत एव अदुष्कृतौ कल्याणकर्मकारिण्यौ अघ्न्ये न केनापि तिरस्करणीये विपाट्छुतुद्र्यौ शूनं समृद्धिं मा आरताम् आगच्छताम्। एवं विश्वामित्रो नदीः स्तुत्य ताभिरनुज्ञातोऽतरदिति॥ ऊर्मिः। 'ऋ गतौ'। 'अर्तेरूच्च' इति मिप्रत्ययः। 'ऊः' इत्ययमादेशो धातोः। ऋच्छतीत्यूर्मिः। प्रत्ययस्वरः। शम्याः। 'शमु उपशमे'। 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः। 'यतोऽनावः इत्याद्युदात्तत्वम्। हन्तु। 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य लोटि रूपम्। निघातः। यौक्त्राणि। 'युजिर् योगे'। करणे 'दाम्नीशसयुयुजः०' इत्यादिना ष्ट्रन्प्रत्ययः। नित्स्वरः। मुञ्चत। मुच्लृ मोक्षणे'। निघातः। अदुष्कृतौ। 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। व्येनसा। बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वरः। सुपो डादेशः। अघ्न्यौ। 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य नञ्पूर्वस्य 'अघ्न्यादयश्च' इति निपातनात् यक्। कित्वादुपधालोपः। 'हो हन्तेः' इति घत्वम्। सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वादत्र औङः शीभावाभावः। एकादेशस्वरः। शूनम्। श्वयतेः 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तः। यजादित्वात् सम्प्रसारणम्। 'हलः' इति दीर्घत्वम्। 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम्। 'निष्टा च द्व्यजनात्' इत्या-द्युदात्तः। अरताम्। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लुङि च्लेः 'सतिशास्त्यतिभ्यश्च'

इत्यङादेशः । 'ऋदृशोऽङि गुणः' । 'न माङ्योगे' इत्यडभावः । निघातः ।।

अन्वय— वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु, आपः योक्त्राणि मुञ्चत । अदुष्कृतौ व्येनसा अघ्न्यौ शूनं मा आ अरताम् ।

पदार्थ— वः = तुम्हारी । ऊर्मिः = तरङ्ग, धारा । शम्याः = जुए की कील को । उत् हन्तु = ऊपर से आघात करे । आपः = जल । योक्त्राणि = रस्सी को । मुञ्चत = छोड़ दे । अदुष्कृतौ = दृष्कृत्य न करने वाली, कल्याणकारी । व्येनसा = पापरहित । अघ्न्यौ = तिरस्कार न करने योग्य । शूनम् = वृद्धि को । मा = न । आ अरताम् = प्राप्त करें ।

अनुवाद— तुम्हारी तरङ्ग (धारा) जुए की कील को ऊपर से आघात करे (अर्थात् जुए की कील के नीचे से प्रवाहित होवे) (तुम्हारा) जल रस्सी को छोड़ दे । कल्याणकारी, पापरहित (तथा) तिरस्कार न करने योग्य दोनों (नदियाँ) वृद्धि को न प्राप्त करें ।

व्याकरण—

१. हन्तु – √हन्, लोट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. मुञ्चत – √मुञ्च् लोट् प्रथमपुरुष बहुवहन ।

३. अरताम् – √ऋ (गमने) लुङ् प्रथमपुरुष द्विवचन ।

अभ्यास—

(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे................२

(ख) एना वयं पयसा पिन्वमाना..............४

(ग) रमध्वं मे वचसे सोम्याय.................५

(घ) इन्द्रो अस्माँ अरदद् ६

(ङ) ओ षु स्वसारः.............................९

(२) निम्नलिखित शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) रथ्या ।

(ख) यावः ।

(ग) वर्तवे ।

(घ) जोहवीति ।

(ङ) जघान ।

५.२ अग्निसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद **मण्डल संख्या–४** **सूक्त संख्या–७**

ऋषि-वामदेव **देवता-अग्नि** **छन्द- १ जगती, २–६ अनुष्टुप्, शेष– त्रिष्टुप् ।**

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि-
र्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचु-
र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥१॥

पदपाठ— अ॒यम् । इ॒ह । प्र॒थ॒मः । धा॒यि॒ । धा॒तृऽभिः॑ । होता॑ । यजि॑ष्ठः । अ॒ध्व॒रेषु॑ । ईड्यः॑ ॥ यम् । अप्न॑वानः । भृग॑वः । वि॒ऽरु॒रु॒चुः । वने॑षु । चि॒त्रम् । वि॒ऽभ्व॑म् । वि॒शेऽवि॑शे ॥

सा०भा०— धातृभिः अज्ञार्थं कर्म कुर्वद्भिरध्वर्युभिः इह अस्मिन् यज्ञे होता देवानामाह्वाता यजिष्ठाः अतिशयेन यष्टा अध्वरेषु यागेषु ईड्यः ऋत्विग्भिः स्तूयमानः प्रथमः सर्वेषां देवानां मुख्यः अयम् आह– वनीयादिस्थानेषु प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानोऽग्निः धायि अधायि निहितः ॥ दधातेः कर्मणि लुङ् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगे' इत्यडभावः । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ॥ अयमग्निरित्युक्तम् । कोऽसावग्निरित्यत आह । अप्नवानः भृगुसंबन्धी कश्चिदृषिः । स चान्ये भृगवः च वनेषु अरण्येषु चित्रं दावाग्निरूपेण बहुधा विशेविशे । वीप्सया सर्वजनव्याप्तिर्गृह्यते । सर्वस्या विशः प्रजायाः विभुमीश्वरं यं देवानां हविर्वाहकत्वेन प्रसिद्धमग्निं विरुरुचुः दीप्तियुक्तं कुर्वन्ति स्म । यमिति यच्छब्दस्या-यमिति इदंशब्देन सम्बन्धः ॥

अन्वय— होता यजिष्ठः अध्वरेषु ईड्यः अयं धातृभिः इह प्रथमम् धायि । यम् आप्नवानः भृगवः विरुरुचुः, वनेषु चित्रं विशेविशे विभ्वम् (अस्ति) ।

पदार्थ— होता = होता (नामक ऋत्विक्) । यजिष्ठः = यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ, श्रेष्ठ यज्ञकर्त्ता । अध्वरेषु = हिंसारहित यज्ञों में । ईड्यः = पूजनीय । अयम् = यह (अग्नि) । धातृभिः = यज्ञ कर्त्ताओं के द्वारा । इह = यहाँ, यज्ञवेदि पर । प्रथमम् = (सभी देवताओं से) पहिले । धायि = रखा गया है, स्थापित किया गया है । यम् = जिसको । अप्नवानः = अप्नवान (नामक ऋषियों) ने । भृगवः = भृगुवंशीय (ऋषियों) ने । विरुरुचुः = प्रज्ज्वलित किया है । वनेषु = वनों में । चित्रम् = चमकने वाला । विशेविशे = प्रत्येक घर में । विभ्वम् = व्याप्त रहने वाला ।

अनुवाद— होता, यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ (और) हिंसाविहीन यज्ञों में पूजनीय यह अग्नि यज्ञकर्त्ताओं द्वारा यहाँ (यज्ञवेदि पर) सभी देवताओं से पहिले स्थापित किया गया है । जिस (अग्नि) को अप्नवान् और भृगुवंशीय (ऋषियों) ने प्रज्ज्वलित किया है (और जो) वनों में (दावाग्नि के रूप में) चमकने वाला (तथा) प्रत्येक घर में व्याप्त रहने वाला है ।

व्याकरण—

१. धायि – √धा + लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. होता – √हू + तृन् ।

३. यजिष्ठ – √यज् + इष्ठन् ।

४. ईड्यः – √ईड् + ण्यत् ।

५. विरुरुचुः – वि + √रुच्, लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

अग्ने॑ क॒दा त॑ आनु॒ष-
ग्भुव॑द्दे॒वस्य॒ चेत॑नम् ।
अधा॒ हि त्वा॑ जगृभ्रि॒रे
मर्ता॑सो वि॒क्ष्वीड्य॑म् ॥२॥

पदपाठ— अग्ने॑ । क॒दा । ते॒ । आ॒नु॒षक् । भुव॑त् । दे॒वस्य॑ । चेत॑नम् ॥ अध॑ । हि । त्वा॒ । ज॒गृ॒भ्रि॒रे । मर्ता॑सः । वि॒क्षु । ईड्य॑म् ॥

सा०भा०— 'अग्ने कदा ते' इति । प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोराग्नेये क्रतौ आनु-ष्टुभे छन्दसि 'अग्ने कदा ते' इत्याद्याः पञ्चर्चः । सूत्रितं च— 'अग्ने कदा त इति पञ्च' (आश्व०श्रौ० ४.१३) इति ॥

हे अग्ने अध अतः कारणात् देवस्य द्योतमानस्य ते तव सम्बन्धि चेतनं तेजः कदा आनुषक् अनुषक्तं भुवत् भवेत् ॥ लेट्यडागमः । 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक् । 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणप्रतिषेधः ॥ अतः कारणादित्युक्तम् । कस्माद्धेतोरित्यु-च्यते । हि यस्मात् कारणात् मर्तासः मनुष्याः विक्षु विड्भिः प्रजाभिः ईड्यं स्तुत्यं त्वा त्वां जगृभ्रिरे जगृहिरे गृह्णन्ति ॥ ग्रहेर्धातोर्लिटि 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम् । 'बहुलं

छन्दसि' इति रुडागमः ।।

अन्वय— अग्ने, ते देवस्य चेतनम् आनुषक् कदा भुवत्, अध हि मर्त्तासः ईड्यः त्वा विक्षु जगृभिरे।

पदार्थ— अग्ने = हे अग्नि। ते देवतस्य = तुम देव का। चेतनम् = तेज। आनुषक् = निर्बाधरूप से। कदा = कब। भुवत् = प्रकट होगा। हि = क्योंकि। अध = इसी कारण से। मर्त्यासः = मनुष्य। इड्यः = पूजनीय। त्वा = तुमको। विक्षु = घरों में जगृभिरे = स्वीकार करते हैं।

अनुवाद— हे अग्नि, तुम देव का तेज निर्बाध रूप से कब प्रकट होगा क्योंकि इसी कारण से मनुष्य पूजनीय तुमको घरों में स्वीकार करते हैं।

व्याकरण—

१. भुवत् – √भू + लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. जगृभ्रिरे – √ग्रभ् + आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन।

ऋतावानं विचेतसं

पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः ।

विश्वेषामध्वराणां

हस्कर्तारं दमेदमे ।।३।।

पदपाठ— **ऋतऽवानम् । विऽचेतसम् । पश्यन्तः । द्याम्ऽईव । स्तृऽभि ।। विश्वेषाम् । अध्वराणाम् । हस्कर्तारम् । दमेऽदमे ।।**

सा० भा०— ऋतावानम् अमायिनं विचेतसं विशिष्टज्ञानं स्तुभिः नक्षत्रैः परिवृतं द्यामिव विस्फुलिङ्गैः समेतं विश्वेषां सर्वेषाम् अध्वराणां ज्ञानां हस्कर्तारं प्रभासकं वृद्धेः कर्तारं वा अग्निं पश्यन्तः ऋत्विगादयः दमेदमे सर्वस्मिन् यज्ञगृहे। जगृभ्रिरे इति पूर्वेण सम्बन्धः ।।

अन्वय— ऋतावानं विचेतसं स्तृभिः द्याम् इव विश्वेषाम् अध्वराणां हस्कर्त्तारं पश्यन्तः दमे दमे (जगृभिरे)।

पदार्थ— ऋतावानम् = सत्यवान्। विचेतसम् = विशिष्ट ज्ञानी। स्तृभिः = तारों से धिरे हुए। द्याम् इव = आकाश के समान। विश्वेसाम् = सम्पूर्ण। अध्वराणाम् = हिंसारहित यज्ञों के। हस्कर्त्तारम् = प्रकाशक को। पश्यन्तः = देखते हुए। दमे दमे = प्रत्येक घर में।

अनुवाद— सत्यवान् (सत्ययुक्त), विशिष्ट ज्ञानी (विशेष ज्ञान वाले), तारों से घिरे हुए आकाश के समान सम्पूर्ण हिंसारहित यज्ञों के प्रकाशक (अग्नि) को देखते हुए प्रत्येक घर में (मनुष्यों ने स्वीकार किया है)।

व्याकरण—

१. ऋतावानम् – ऋतावा + वतुप् द्वितीया, एकवचन।

२. पश्यन्तः – √दृश् + शतृ पुल्लिङ्ग, प्रथमा, बहुवचन।

आशुं दूतं विवस्वतो

विश्वा यश्चर्षणीरभि ।

आ जभ्रुः केतुमायवो

भृगवाणं विशेविशे ।।४।।

पदपाठ— **आशुम् । दूतम् । विवस्वतः । विश्वाः । यः । चर्षणीः । अभि ।। आ । अभ्रुः**

। केतुम् । आयवः । भृगवाणम् । विशेऽविशे ॥

सा० भा०— यः अग्निः विश्वाः चर्षणीः सर्वाः प्रजाः अभि भवति आयव इति मनुष्यनाम 'आयवः यदवः' (निरु० २.३.१७) इति मनुष्यनामसु पाठात् । आशुं क्षिप्रगामिनं विवस्वतः मनुष्यस्य यजमानस्य दूतम् । विवस्वन्त इति मनुष्यनाम । केतुं प्रज्ञापकं भृगवाणं भृगुवदाचरन्तम् । दीप्यमानमित्यर्थः ॥ 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्व-क्तव्यः' इति क्विप् । तदन्ताल्लटो व्यत्ययेन शानच् । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानु-दात्तत्वे प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वात् आद्युदात्तत्वम् ॥ तमग्निं विशेविशे सर्वस्यै प्रजायै आ जभ्रुः आजह्रः ॥ 'हृग्रहोर्भः' इति भत्वम् ॥

अन्वय— यः विश्वाः चर्षणीः अभि आ जभ्रुः विवस्वतः आशुं दूतं केतुम्, भृगवाणं विशेविशे (जगृभिरे) ।

पदार्थ— यः = जो । विश्वाः = सम्पूर्ण । चर्षणीः = प्राणियों को । अभि आ जभ्रुः = अभिभूत करने वाला है । विवस्वतः = यजमान के । आशुम् = शीघ्रगामी, द्रुतगमन करने वाले । दूतम् = दूत को । केतुम् = यज्ञ के प्रज्ञापक । भृगवाणम् = भृगु के समान आचरण करने वाले (अर्थात् चमकने वाले) (अग्नि) को । विशे विशे = प्रत्येक घर में ।

अनुवाद— जो सम्पूर्ण प्राणियों को अभिभूत करने वाला है, यजमान के शीघ्रगामी दूत, यज्ञ के प्रज्ञापक और भृगु के समान आचरण करने वाले (अर्थात् चमकने वाले) (अग्नि) को प्रत्येक घर में (मनुष्यों ने स्वीकार किया है) ।

व्याकरण—

१. जभ्रुः – √भृ + लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

२. भृगवाणम् – √वृज् + शानच् द्वितीया, एकवचन ।

तमीं होतारमानुष-
चिकित्वांसं नि षेदिरे ।
रण्वं पावकशोचिषं
यजिष्ठं सप्त धामभिः ॥५॥

पदपाठ— तम् । ईम् । होतारम् । आनुषक् । चिकित्वांसम् । नि । सेदिरे ॥ रण्वम् । पावकऽशोचिषम् । यजिष्ठम् । सप्त । धामऽभिः ॥

सा० भा०— ऋत्विगादयो मनुष्याः आनुषक् आनुपूर्व्येण होतारं देवानामाह्वा-तारं चिकित्वांसं जानन्तम् ॥ 'कित ज्ञाने' । लिटः क्वसुः । द्विर्भावहलादिशेषचुत्व-दीर्घाः । प्रत्ययस्वरः ॥ तमीं तमिममग्निं निषेदिरे निषादयन्ति स्म । कीदृशम् रण्वं रम-णीयम् पावकशोचिषं शोधकदीप्तिं यजिष्ठं यष्टृतमं सप्त सप्तभिः तेजोभिर्युक्तम् ॥

अन्वय— होतारं चिकित्वांसं रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्तधामभिः तं आनुषक् ईम् निषेदिरे ।

पदार्थ— होतारम् = होता । चिकित्वांसम् = ज्ञाता, जानने वाले । रण्वम् = रमणीय । पावकशोचिषम् = पवित्र प्रकाश वाले । यजिष्ठम् = श्रेष्ठ यज्ञकर्त्ता । सप्त-धामभिः = सात प्रकार के तेजो से (युक्त) । तम् = उस (अग्नि) को । आनुषक् = निर्बाध रूप से । ईम् = निश्चयेन । निषेदिरे = बैठाया है ।

अनुवाद— होता, जानने वाले, रमणीय, पवित्र प्रकाश वाले, श्रेष्ठयज्ञकर्त्ता (और) सात प्रकार के तेजों से (सम्पन्न) उस (अग्नि) को (यज्ञकर्त्ता यजमानों ने) निर्बाध रूप से (अपने घरों में) निश्चयपूर्वक बैठाया (स्थापित किया) है ।

व्याकरण—

१. चिकित्वांसम् – √चित् + क्वसु = चिकित्वस्, पुलिङ्ग, द्वितीया, एकवचन ।

२. निषेदिरे – नि + सद् (बैठना) + आत्मनेपद, लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

तं शश्वतीषु मातृषु
वन आ वीतमश्रितम् ।
चित्रं सन्तं गुहा हितं
सुवेदं कूचिदर्थिनम् ॥६॥

पदपाठ— **तम् । शश्वतीषु । मातृषु । वने । आ । वीतम् । अश्रितम् ॥ चित्रम् । सन्तम् । गुहा । हितम् । सुऽवेदम् । कूचित्ऽअर्थिनम् ॥**

साभा०— शश्वतीषु बह्वीषु मातृषु अप्सु । ताः सत्यादिनिर्मातृकत्वात् मातर इत्युच्यन्त । वने आ वृक्षसमूहे च । आकारश्चार्थे । सन्तं विद्यमानं वीतं कान्तम् अश्रितं प्राणिभिर्दाहभयात् असेवितम् । दुरासदमित्यर्थः । चित्रं चायनीयं गुहा गुहायां निहितं सुवेदं सुविज्ञानं सुधनं वा कूचिदर्थिनं क्वापि हविष्यर्थिनं समिदाज्यपुरोडाशादिहविः स्वीकुर्वन्तम् ॥ क्व इत्यत्र वकारस्य छान्दसे सम्प्रसारणे परपूर्वत्वे च 'हलः' इति दीर्घत्वम् । एवंभूतं तम् अग्निं निषेदिरे इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥

अन्वय— शश्वतीषु मातृषु आ वने वीतम् अश्रितं चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनं (निषेदिरे) ।

पदार्थ— शश्वतीषु = शाश्वत् । मातृषु = माताओं (अर्थात् जलों) में । आ वने = और वन में । वीतम् = (सभी द्वारा) अभिलषित । अश्रितम् = असेवित । चित्रं सन्तम् = प्रकाशमान होते हुए । गुहा = गुहा (रहस्य) में । हितम् = निहित, छिपे हुए, पड़े हुए । सुवेदम् = सुन्दर ज्ञान वाले । कूचिदर्थिनम् = कहीं से भी (हविद्रव्य की) इच्छा करने वाले को ।

अनुवाद— शाश्वत् माताओं (अर्थात् जलों में बड़वागिन रूप में) और वन में (दावाग्नि रूप में) (रहने वाले), (सभी द्वारा) अभिलषित, (तथापि) असेवित, प्रकाश-मान होते हुए (भी) गुहा (रहस्य) में निहित (पड़े हुए), सुन्दर ज्ञान वाले (और) कहीं से भी (हविर्द्रव्य की) इच्छा करने वाले (अग्नि) को (घर में बैठाया है) ।

व्याकरण—

१. वीतम् – √वी + क्त द्वितीया, एकवचन ।

२. अश्रितम् – √श्रि + क्त, द्वितीया, एकवचन = श्रितम्, न श्रितम् आश्रितम् (नञ् तत्पुरुष) ।

३. सन्तम् – √अस् + शतृ, द्वितीया, एकवचन ।

४. हितम् – √धा अथवा √हि + क्त, द्वितीया, एकवचन ।

ससस्य यद्वियुता सस्मिन्नूधं-
न्नृतस्य धामन्रणयन्त देवाः ।
महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो
वेरध्वराय सदमिदृतावा ॥७॥

पदपाठ— **ससस्य । यत् । विऽयुता । सस्मिन् । ऊधन् । ऋतस्य । धामन् । रणयन्त । देवाः । महान् । अग्निः । नमसा । रातऽहव्यः । वेः । अध्वराय । सदम् । इत् । ऋतऽवा ॥**

सा० भा०— प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोस्त्रैष्टुभे छन्दसि 'ससस्य यद्वियुता' इत्याद्याः पञ्चर्चः । सूत्रितं च— 'ससस्य यद्वियुतेति पञ्च' (आश्व०श्रौ० ४.१३) इति । यत् यमग्निं देवाः स्तोतारः ससस्य स्वप्नस्य वियुता वियुते वियोगे । उषसीत्यर्थः । ऋतस्य उदकस्य धामन् धामनि स्थाने सस्मिन् सर्वस्मिन् ऊधन् ऊधनि यज्ञे रणयन्त रमयन्ति । स्तोत्रैरिति शेषः । महान् प्रभूतः नमसा नमस्कारेण रातहव्यः दत्तहविष्कः ऋतावा

सत्य-वान् सः अ॒ग्निः सदमित् सदैव अध्वराय अध्वरं यजमानैः कृतं यज्ञम् ।। 'सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्' (पा०सू० ७.१.३९) इति वचनादत्र द्वितीयार्थे चतुर्थी ।। वेः वेत्ति जानाति । यद्वा । देवा इन्द्रादयः समस्य ऋत्विग्भिः सेव्यस्य यद्यस्याग्नेर्वियुता विशिष्टे सस्मिन् भजनीये ऋतस्य सत्यस्य धामन् धामनि ऊधन्नूधनि यज्ञे रणयन्त रमयन्ते । महान् प्रभूतो नमसा हविषा रातहव्यो दत्तहविष्क ऋतावा सत्यवान् सोऽग्निध्वराय यज्ञार्थं सदमित् सदैव वेः गन्ता भवति । अध्वराय यज्ञं वेः कामयते वा ।।

अन्वय— ससस्य वियुता ऋतस्य धामन् सस्मिन् ऊधन् देवाः रणयन्त, महान् ऋतावा नमसा रातहव्यः अग्निः अध्वराय सदं वेः ।

पदार्थ— ससस्य = स्वप्न के, रात्रि के । वियुता = वियुक्त होने पर, बीतने पर, समाप्त होने पर । ऋतस्य = जल के, यज्ञ के । धामन् = स्थान पर । सस्मिन् = सभी । ऊधन् = यज्ञ में । देवाः = स्तुति करने वाले, यजमान । रणयन्त = रमण करते हैं, प्रसन्न करते हैं । महान् = महान् । ऋतावा = सत्यवान् । नमसा = नमस्कार के साथ । रातहव्यः = हवि की आहुति दिया जाने वाला । अग्निः = अग्नि । अध्वराय = यज्ञ का । सदम् = सर्वदा । इत् = निश्चित रूप से । वेः = आनन्द लेता है ।

अनुवाद— स्वप्न (रात्रि) के समाप्त होने पर (अर्थात् उषःकाल होने पर) जल के (अथवा यज्ञ के) स्थान पर सभी यज्ञों में स्तुति करने वाले (यजमान) (जिस अग्नि को) प्रसन्न करते हैं, (वह) महान्, सत्यवान्, नमस्कार के साथ (नमस्कारपूर्वक) हवि की आहुति दिया जाने वाला (अग्नि) यज्ञ का सर्वदा निश्चित रूप से आनन्द लेता है ।

व्याकरण—

१. वियुता – वि + √यु + क्त ।
२. सस्मिन् – सर्व शब्द सप्तमी एकवचन में सर्वस्मिन् का वैदिकरूप ।
३. ऊधन् – सप्तमी एकवचन ऊधनि का वैदिकरूप ।
४. धामन् – धाम शब्द के सप्तमी एकवचन धामनि का वैदिकरूप, √धा + मनिन् = धाम ।
५. रणयन्त – √रन् + आत्मनेपद लङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
६. वेः – √वी विधानात्मक लट् + प्रथमपुरुष, एकवचन ।
७. रातहव्यः – रात = √रा + क्त, हव्य – √हु + यत्, रातं हव्यं यस्मै तम् (बहुव्रीहि) ।

वेर॑ध्व॒रस्य॑ दू॒त्या॑नि वि॒द्वा-
नु॒भे अ॒न्ता रोद॑सी सञ्चिकि॒त्वान् ।
दू॒त ई॑यसे प्र॒दिव॑ उ॒रा॒णो
वि॒दुष्ट॑रो दि॒व आ॒रोध॑नानि ।।८।।

पदपाठ— **वेः । अ॒ध्व॒रस्य॑ । दू॒त्या॑नि । वि॒द्वान् । उ॒भे इति॑ । अ॒न्तरिति॑ । रोद॑सी॒ इति॑ । स॒म्ऽचि॒कि॒त्वान् ।। दू॒तः । ई॒य॒से॒ । प्र॒ऽदिवः॑ । उ॒रा॒णः । वि॒दुःऽत॑रः । दि॒वः । आ॒ऽरोध॑नानि ।।**

सा०भा०— हे अग्ने विद्वान् सर्वं जानानस्त्वम् अध्वरस्य यज्ञस्य सम्बन्धीनि दूत्यानि दूतकर्माणि वेः वेत्सि कामयसे वा । यद्वा वेरिति यज्ञविशेषणम् । वेर्यजमान-स्याभीष्टफलजनकस्याध्वरस्य यागस्य सम्बन्धीनि दूत्यानि दूतकर्माणि विद्वान् जानन् । उभे रोदसी उभयो रोदस्योर्द्यावापृथिव्योः अन्तः मध्ये स्थितमन्तरिक्षं सञ्चिकित्वान् सम्यक् जानन् प्रदिवः पुराणः । पुराणनामेदं 'प्रत्नं प्रदिवः' (नि० ३.२७.२) इति पुराणनामसु पाठात् । उराणः अल्पमपि हविः उरु बहु कुर्वाणः । 'उराण उरु कुर्वाणः' इति यास्के-नोक्तत्वात् । विदुष्टरः । विद्वत्तरो देवानां दूतः त्वं दिवः स्वर्गस्य आरोधनानि आरोहणानि । आरोहणार्हाणि स्थानानीत्यर्थः । देवानां हवींष्यर्पयितुम् ईयसे गच्छसि ।।

अन्वय— विद्वान् अध्वरस्य दूत्यानि वेः, उभे रोदसी अन्तः सञ्चिकित्वान् दूतः प्रदिवः उराणः विदुष्टरः दिवः आरोधानि ईयसे ।

पदार्थ— विद्वान् = (सब कुछ) जानने वाले । अध्वरस्य = यज्ञ के । दौत्यानि = दौत्यकार्य को । वे: = जानते हो । उभे = दोनों । रोदसी = आकाश और पृथिवी को । अन्त: = (दोनों के) मध्य को । सञ्चिकित्वान् = अच्छी प्रकार से जानते हुए । दूत: = दूत । प्रदिव: = प्राचीन । उराण: = चाहने वाले । विदुष्टर: = अत्यधिक बुद्धिमान् । दिव: = द्युलोक के । आरोधानि = आरोहणों पर । ईयसे = जाते हो ।

अनुवाद— (सब कुछ) जानने वाला (अग्नि) यज्ञ के दौत्यकार्य को जानता है, दोनों आकाश तथा पृथिवी को, (उन दोनों के) मध्य को अच्छी प्रकार से जानते हुए दूत, प्राचीन, चाहने वाले, अत्यधिक बुद्धिमान् (तुम) द्युलोक के आरोहणों पर जाते हो ।

व्याकरण—

१. वे: – √वी + विधानात्मक लट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. दूत्यानि – दूत + यत् द्वितीया, बहुवचन ।

३. विद्वान् – √विद् + शतृ (वस्) पु. प्रथमा, एकवचन ।

४. सञ्चिकित्वान् – सम् + चित् + क्वसु = सञ्चिकित्वस्, पु. प्रथमा, एकवचन ।

५. ईयसे – √ई, (गतौ) अत्मनेपद लट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भा-
श्चरिष्णव१र्चिर्वपुषामिदेकम् ।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं
सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥९॥

पदपाठ— **कृष्णम् । ते । एम । रुशतः । पुरः । भाः । चरिष्णु । अर्चिः । वपुषाम् । इत् । एकम् ॥ यत् । अप्रऽवीता । दधते । ह । गर्भम् । सद्यः । चित् । जातः । भवसि । इत् । ऊँ इति । दूतः ॥**

सा०भा०— हे अग्ने रुशत: रोचमानस्य ते तव सम्बन्धि । अत्र एमञ्शब्देन गमनमार्ग उच्यते । एम वर्त्म कृष्णं कृष्णवर्णं भवति । भा: तव सम्बन्धिनी दीप्ति: पुर: पुरस्ताद्भवति । चरिष्णु सञ्चरणशीलम् अर्चि: त्वदीयं तेज: वपुषां वपुष्मतां रूपवताम् । तेजस्विनामित्यर्थ: । एकम् इत् मुख्यमेव भवति । यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमाना: गभं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु । स त्वं सद्यश्चित् सद्य: एव जात: उत्पन्न: सन् दूत: भवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव ॥

अन्वय— रुशत: ते एम कृष्णम्, भा: पुर:, चरिष्णु: अर्चि: वपुषाम् इत् एकम्, यत् अप्रवीता ह गर्भं दधते, सद्य: चित् जात: इत् दूत: भवसि ।

पदार्थ— रुशत: = चमकने वाले । ते = तुम्हारा । एम = मार्ग । कृष्णम् = काला । भा: = दीप्ति । पुर: = सामने । चरिष्णु: = सञ्चरणशील । अर्चि: = तेज, किरण । वपुषाम् = सुन्दर रूप वालों में । इत् = निश्चय ही । एकम् = अद्वितीय । यत् = जब । अप्रवीता = उपस्थित यजमान । ह = निश्चितरूप से । गर्भम् = गर्भ को, अरणि को । दधते = धारण करता है । सद्य: = शीघ्र । चित् = ही । जात: = उत्पन्न हुए । इत् उ = निश्चित रूप से । दूत: = दूत । भवसि = तुम हो जाते हो ।

अनुवाद— (हे अग्नि), चमकने वाले तुम्हारा मार्ग काला (है), (तुम्हारी) दीप्ति सामने (है), (तुम्हारा) सञ्चरणशील तेज (किरण) सुन्दर रूप वालों में निश्चय ही अद्वितीय है । (हे अग्नि), जब उपस्थित यजमान निश्चितरूप से गर्भ (अरणि) को धारण करता है (तो) शीघ्र ही उत्पन्न हुए तुम निश्चित रूप से दूत हो जाते (बन जाते) हो ।

व्याकरण—

१. एम – √हण् (गतौ) + मनिन् ।

२. रुशतः – √रुच् (दीप्तौ) + शतृ = रुशत्, पुलिङ्ग षष्ठी, एकवचन ।

३. चरिष्णुः – √चर् + इष्णुच् ।

४. दधते – √धा + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

५. भवसि – √भू लट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।

स॒द्यो जा॒तस्य॒ ददृ॑शान॒मोजो॑
यद॑स्य॒ वातो॑ अनु॒वाति॑ शो॒चिः ।
वृ॒णक्ति॑ ति॒ग्मामत॒सेषु॑ जि॒ह्वां
स्थि॒रा चि॒दन्ना॑ दयते॒ वि जम्भैः॑ ॥१०॥

पदपाठ— **स॒द्यः । जा॒तस्य॑ । ददृ॑शानम् । ओजः॑ । यत् । अ॒स्य॒ । वातः॑ । अ॒नु॒ऽवाति॑ । शो॒चिः ॥ वृ॒णक्ति॑ । ति॒ग्माम् । अ॒त॒सेषु॑ । जि॒ह्वाम् । स्थि॒रा । चि॒त् । अन्ना॑ । द॒य॒ते॒ । वि । जम्भैः॑ ॥**

सा०भा०— सद्यो जातस्य अरणिनिर्मथनादनन्तरमेवोत्पन्नस्याग्नेः ओजः तेजः ददृशानम् । ऋत्विगादिभिर्दृश्यमानं भवतीति शेषः । वातः वायुः यत् यदा अग्नेः शोचिः दीप्तिम् अनु लक्षीकृत्य वाति गच्छति तदा सोऽयमग्निः अतसेषु वृक्षसङ्घेषु तिग्मां तीक्ष्णां जिह्वां ज्वालां वृणक्ति संयोजयति । स्थिरा चित् स्थिराण्यपि अन्ना अन्नरूपाणि काष्ठादीनि जम्भैः तेजोभिः वि दयते विखण्डयति । भक्षयतीत्यर्थः ॥

अन्वय— सद्यः जातस्य ओजः ददृशानम्, यत् अस्य, शोधिः वातः अनुवाति तिग्मां जिह्वाम् असतेषु वृणक्ति, स्थिरा चित् अन्ना जम्भैः वि दयते ।

पदार्थ— सद्यः = शीघ्र । जातस्य = उत्पन्न (अग्नि) का । ओजः = तेज, पराक्रम । ददृशानम् = देखने योग्य (होता है) । यत = जब । अस्य = (अग्नि) की । शोचिः = दीप्ति को, लपटों को । वातः = वायु । अनु वाति = लक्ष्य करके बहता है (हवा करता है) । तिग्माम् = तीक्ष्ण । जिह्वाम् = जिह्वा को । असतेषु = सूखी लकड़ियों पर । वृणक्ति = संयोजित करता है, लगाता है । स्थिरा चित् = खड़े भी । अन्ना = अन्नरूप (वृक्षों) को । जम्भैः = दाँतों से, तेजो से । विदयते = खा जाता है, जला देता है ।

अनुवाद— शीघ्र उत्पन्न (अग्नि) का तेज (पराक्रम) देखने योग्य होता है । जब इस (अग्नि) की दीप्ति (लपटों) को लक्ष्य करके वायु बहता है (हवा करता है) (तब यह अग्नि अपनी) तीक्षण जिह्वा को सूखी लकड़ियों पर संयोजित करता (लगाता है) और खड़े भी अन्नरूप वृक्षों को (अपने) तेजों से (दाँत से) खा जाता है (जला देता है) ।

व्याकरण—

१. ददृशानम् – √दृश् (दर्शने) + कानच् = ददृशान, प्रथमा, एकवचन ।

२. अनुवाति – अनु + √वा लट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

३. वृणक्ति – √वृण् + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

४. दयते – √दा (विभाजने) + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

५. स्थिरा, अन्ना– क्रमशः नपुंसकलिङ्ग स्थिर और अन्न के द्वितीया बहुवचन में स्थिराणि और अन्नानि के वैदिकरूप ।

तृ॒षु यदन्ना॑ तृ॒षुणा॑ व॒वक्ष॑
तृ॒षुं दू॒तं कृ॑णुते य॒ह्वो अ॒ग्निः ।

वातस्य मेळिं सचते निजूर्व-
न्नाशुं न वाजयते हिन्वे अर्वा ॥११॥

पदपाठ— तृषु । यत् । अन्ना । तृषुणा । ववक्ष । तृषुम् । दूतम् । कृणुते । यह्वः । अग्निः ॥ वातस्य । मेळिम् । सचते । निऽजूर्वन् । आशुम् । न । वाजयते । हिन्वे । अर्वा ॥

सा०भा०— यत् यः अग्निः तृषु क्षिप्रमेव अन्ना अन्नानि काष्ठादीनि तृषुणा क्षिप्रेण रश्मिसमूहेन ववक्ष वहति । दहतीत्यर्थः । यह्वः महान् सः अग्निः तृषुम् आत्मानं दूतं कृणुते यजमानदूतं करोति । निजूर्वन् काष्ठानि निःशेषेण दहन्नग्निः वायोः मेळिं बलं सचते सेवते । आशुं न अश्वसादी यथाश्वं तथा अर्वा गमनशीलोऽग्निः स्वरश्मिं वाजयते वाजिनं बलवन्तं करोति । हिन्वे प्रेरयति च ॥

अन्वय— यत् यह्वः अग्निः तृषुणा अन्ना तृषु ववक्ष तृषुं दूतं कृणुते । निजूर्वन् वातस्य मेळिं सचते, अर्वा आशुं न वाजयते हिन्वे (च) ।

पदार्थ— यत् = जब । यह्वः = महान् । अग्निः = अग्नि । तृषुणा = शीघ्रगामी रश्मिसमूह से । अन्ना = (कष्ठादि) भोजन को । तृषु = शीघ्र । ववक्ष = लाता है । तृषुम् = शीघ्रगामी । दूतम् = दूत । कृणुते = करता है, बनाता है । निजूर्वन् = निःशेष रूप से खाता हुआ । वातस्य = वायु के । मेळिम् = बल को । सचते = सेवित करता है, उपयोग में लाता है । अर्वा = शीघ्रगामी (अग्नि) । आशुं न = अश्व के समान । वाजयते = बलशाली (शक्तिशाली) बनाता है । हिन्वे = प्रेरित करता है ।

अनुवाद— जब महान् अग्नि शीघ्रगामी रश्मिसमूह से (काष्ठादि) भोजन को शीघ्र लाता है (तो अपने को) शीघ्रगामी दूत बनाता है । (उसको) पूर्णरूप से खाता हुआ (अग्नि) वायु के बल को सेवित करता है (उपयोग में लाता है) । शीघ्र-गामी (अग्नि) अश्व के समान (अपनी लपटों को) शक्तिशाली बनाता है (और) प्रेरित करता है ।

व्याकरण—

१. ववक्ष – √वक्ष् + लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. कृणुते – √कृ + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष, एकवचन, कुरुते का वैदिकरूप ।

३. सचते – √सच् + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

४. निजूर्वन् – नि + √जूर्व + शतृ, प्रथमा, एकवचन ।

५. वाजयते – नामधातु √वाजय आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

६. हिन्वे – √हि आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

अभ्यास— (१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) अयमिह प्रथमो धायि..................१
(ख) अग्ने कदा त आनुषक्.................२
(ग) आशु दूतं विवस्वतो....................४
(घ) तमीं होतारमानुषक् ५
(ङ) वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वान् ८

(२) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) विरुरुचः ।
(ख) भुवत् ।

(ग) जभ्रुः।

(घ) चिकित्वांसम्।

(ङ) दधते।

(च) ववक्ष।

५.३ अक्षसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद **मण्डल संख्या-१०** **सूक्त संख्या-३४**

ऋषि-ऐलूष कवष **देवता-अक्ष, कृषिः** **छन्द-७ जगती, अवशिष्ट त्रिष्टुप्**

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति
प्रवातेजा इरिणे वर्वृताना:।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो
विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥

पदपाठ—**प्रावेपाः। मा। वृहतः। मादयन्ति। प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृताना:॥ सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्॥**

सा० भा०— बृहत: महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिन: प्रवातेजा: प्रवणे देशे जाता: इरिणे आस्फारे वर्वताना: प्रवर्तमाना: प्रावेपा: प्रवेपिण: कम्पनशीला अक्षा: मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति। किंच जागृवि: जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जाग-रणस्य कर्त्ता विभीदक: विभीदकविकाराऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्त:। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मूजवति पर्वते जातो मौजवत:। तस्य। तत्र ह्युत्तम: सोमो जायते। भक्ष: पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थ:। तथा च यास्क:- 'प्रवेपणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजा: प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीकेषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीदको विभेदनाज्जागृविर्जागरणन्मह्यमचच्छदत्' (निरु० ९.८) इति।

अन्वय— प्रवातेजा: बृहत: इरिणे वर्वृताना प्रावेपा: मा मादयन्ति। मौजवतस्य सोमस्य भक्ष इव जागृवि: विभीदक: मह्यम् अच्छान्।

पदार्थ— प्रवातेजा: = तेज वायु वाले स्थानों में उत्पन्न होने वाले; ढालू प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले। बृहत: = बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त। इरिणे = अक्ष-फलक (खेलने के फर्श, चौपड़, अक्षपटल) पर। वर्वृताना: = बार-बार नाचते हुए (लुढ़कते हुए)। प्रावेपा: = कम्पनशील, काँपते हुए। मा = मुझको। मादयन्ति = आनन्दित (उन्मादित, मस्त) करते हैं। मौजवतस्य = मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले। सोमस्य = सोमरस के। भक्ष इव = भक्षण (पान) के समान। जागृवि: = जगाने वाला, जागृत रखने वाला। विभीदक: = बहेड़ा का बीज, अक्ष; जुए का पासा। मह्यम् = मुझको। अच्छान् = आनन्दित करता है, आह्लादित करता है।

अनुवाद— तेज वायु वाले स्थान में उत्पन्न होने वाले तथा बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त (जुए के पासे) अक्षफलक पर बार-बार नाचते हुए (लुढ़कते हुए) तथा काँपते हुए मुझको

आनन्दित करते हैं। (जुआरियों को) जगाने वाला जुए का पासा (बहेड़े का बीज, अक्ष) मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम के पान (भक्षण) के समान मुझको आनन्दित करता है। (अर्थात् जिस प्रकार मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम का पान व्यक्ति को मदोन्मत्त कर देता है, उसी प्रकार जुआड़ियो को रात-दिन जगाने वाला जुए का पासा मुझको अत्यधिक उन्मादित करता है। जो व्यक्ति जुए में जीतता है वह हर्ष से जागता है और जो व्यक्ति जुए में हारता है, वह दुख से जागता है। अत: जुए को जगाने वाला कहा गया है)।

व्याकरण—

१. वर्वृताना: – √वृत् (होना) + लङ्-लुक् + शानच्, प्रथमा, बहुवचन।

२. मादयन्ति – √मद् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + णिच् (मादय्) + लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

३. अच्छान् – √छन्द् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा
शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतो-
रनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥

पदपाठ— **न। मा। मिमेथ। न। जिहीळे। एषा। शिवा। सखिभ्य:। उत। मह्यम्। आसीत् ॥ अक्षस्य। अहम्। एकऽपरस्य। हेतो:। अनुऽव्रताम्। अप। जायाम्। अरोधम् ॥**

सा० भा०— एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न चुक्रोध, न जिहीळे न च लज्जितवती। सखिभ्य: अस्मदीयेभ्य: शिवा सुखकरी आसीत् अभूत्। उत अपि च मह्यं शिवासीत्। इत्थम्। अनुव्रताम् अनुकूलां जायाम् एकपरस्य एक: पर: प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतो: कारणात् अहम् अप अरोधं परित्यक्त-वानस्मीत्यर्थ:।

अन्वय— एषा मा न मिमेथ, न जिहीळे, सखिभ्य: उत मह्यम् शिवा आसीत्, अहम् एकपरस्य अक्षस्य हेतो: अनुव्रताम् जायाम् अप अरोधम्।

पदार्थ— एषा = यह (मेरी पत्नी)। मा = मुझको, मुझसे। न = नहीं। मिमेथ = कलह (झगड़ा) करती थी। न = नहीं। जिहीळे = क्रोध करती थी। सखिभ्य: = मित्रों के लिए। उत = और। मह्यम् = मेरे लिए। शिवा = कल्याण-कारिणी। आसीत् = थी। अहम् = मैनें। एकपरस्य = एक है प्रधान जिसमें ऐसे, एकमात्र। अक्षस्य = अक्ष के। हेतो: = कारण। अनुव्रताम् = अनुगमन करने वाली, आज्ञाकारिणी। जायाम् = पत्नी को। अप अरोधम् = परित्याग कर दिया, छोड़ दिया, घर से निकाल दिया।

अनुवाद— यह (मेरी पत्नी) मुझसे कलह (झगड़ा) नहीं करती थी और न मुझ पर क्रोध करती थी। मेरे मित्रों के लिए और मेरे लिए यह कल्याणकारी (अच्छा व्यवहार करने वाली) थी। एकमात्र जुए के कारण मैनें अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी का परित्याग कर दिया।

व्याकरण—

१. मिमेथ – √मिथ् (कलह करना, हिंसा करना) + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. जिहीळे – √हीड् (क्रोध करना) + लिट्, प्रथम पुरुष, एकवचन। दो स्वरों के मध्य में आने के कारण ड् का ळ् हो गया है।

३. अरोधम् – √रुध् (रोकना) + लुङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन का वैदिक रूप।

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि
न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।

अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य
नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥

पदपाठ— द्वेष्टि । श्वश्रूः । अप । जाया । रुणद्धि । न । नाथितः । विन्दते । मर्डितारम् ॥ अश्वस्यऽइव । जरतः । वस्न्यस्य । न । अहम् । विन्दामि । कितवस्य । भोगम् ॥

सा० भा०— श्वश्रूः जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः । किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि । अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते । इत्थं बुद्ध्या विमृशन् अहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य । वस्नं मूल्यं तदर्हस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे ।

अन्वय— श्वश्रूः द्वेष्टि, जाया अप रुणद्धि, नाथितः मर्डितारम् न विन्दते । अहम् वस्न्यस्य जरतः अश्वस्य इव कितवस्य भोगम् न विन्दामि ।

पदार्थ— श्वश्रूः = सास, पत्नी की माता । द्वेष्टि = द्वेष करती है । जाया = पत्नी । अप रुणद्धि = रोकती है, दूर भगा देती है, ढकेल देती है । नाथितः = याचना करता हुआ (जुआड़ी) । मर्डितारम् = सुख देने वाले को,दया करने वाले को । न = नहीं । विन्दते = प्राप्त करता है । अहम् = मैं । वस्न्यस्य = बहुमूल्य बेचे जाने वाले । जरतः = वृद्ध । अश्वस्य इव = घोड़े के समान । कितवस्य = जुआड़ी के । भोगम् = उपभोग । न विन्दामि = नहीं प्राप्त करता हूँ, नहीं पाता हूँ ।

अनुवाद— (जुआड़ी से उसकी) सास द्वेष करती है, उसकी पत्नी उसे दूर भगा देती है । (जुआ खेलने के लिए धन की) याचना करता हुआ जुआड़ी (धन देकर) सुख देने वाले (व्यक्ति) को नहीं प्राप्त करता है । मैं बहुमूल्य वृद्ध घोड़े के समान जुआड़ी को कोई उपभोग नहीं पाता हूँ (जुआड़ी जिस प्रकार बहुमूल्य अश्व भी वृद्ध होने के कारण उपयोग के अयोग्य हो जाता है, इसी प्रकार जुआड़ी व्यक्ति समाज के लिए भार बन जाता है) ।

व्याकरण—

१. द्वेष्टि – √द्विष् (द्वेष करना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।
२. रुणद्धि – √रुध् (रोकना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।
३. नाथितः – √नाथ् (याचना करना) + क्त, प्रथमा, एकवचन ।
४. मर्डितारम् – √मृड् (सुख देना) + तृच्, द्वितीया, एकवचन ।
५. विन्दते – √विद् (प्राप्त करना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन वैदिक रूप ।
६. जरतः – √जॄ (वृद्ध होना) + शतृ + षष्ठी, एकवचन ।
७. विन्दामि – विद् (प्राप्त करना) + लट् उत्तमपुरुष, एकवचन ।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य
यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहु-
र्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥

पदपाठ— अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः ॥ पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥

सा० भा०— यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परि-मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृश

किंच पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवम् आहुः वदन्ति न वयमस्मदीयमेनं जानीमः । रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयेति ।

अन्वय— यस्य वेदने अक्षः अगृधत्, अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति, पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः बद्धम् एनम् नयत ।

पदार्थ— यस्य = जिस (व्यक्ति) के । वेदने = धन पर । वाजी = बलवान् । अक्षः = जुए का पासा । अगृधत् = लाया गया, लोभ किया । अस्य = इस (जुआड़ी) की । जायाम् = पत्नी को । अन्ये = दूसरे लोग । परि मृशन्ति = छूते हैं, छेड़ते हैं, आलिंगन करते है, वस्त्र केशादि खोलकर अपमानित करते हैं । पिता- माता भ्रातरः = पिता, माता एवं भाई । एनम् आहुः = इसके विषय में कहते हैं । न जानीमः = नहीं जानते हैं । बद्धम् एनम् = बँधे हुए इसको । नयत = ले जाओ ।

अनुवाद— जिस (व्यक्ति) के धन पर बलवान् जुए का पासा ललचाया (ललचाने लगता है) (अर्थात् जो अपने धन को जुए में लगाने लगता है), उस (जुआड़ी) की पत्नी को दूसरे लोग छूते हैं (आलिङ्गन करते हैं अथवा वस्त्र केश आदि खींचकर अपमानित करते हैं) । (जुआड़ी के) पिता, माता और भाई इस (जुआड़ी) के विषय में (राजकर्मचारी या ऋणदाता से) कहते हैं कि हम इसको नहीं जानते (इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है) । इसे बाँधकर ले जाओ (अथवा बँधे हुए इसको जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ) ।

व्याकरण—

१. अगृधत् – √गृध् (लालच करना) + लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन, वैदिक रूप ।
२. मृशन्ति – √मृश् (स्पर्श करना) + लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
३. आहुः – √आह् (कहना) + लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
४. जानीमः – √ज्ञा (जानना) + लट्, उत्तमपुरुष, बहुवचन ।
५. नयत – √नी (ले जाना) + लोट्, मध्यमपुरुष, बहुवचन । छान्दसदीर्घ है ।
६. **वाज्य१ँक्षः** – वाजी + अक्षः, क्षैप्र सन्धि । क्षैप्र स्वरित के बाद उदात्त आने से कम्प ।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः
परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

पदपाठ— **यत् । आऽदीध्यै । न । दविषाणि । एभिः । परायत्ऽभ्यः । अव । हीये । सखिभ्यः ॥ निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत । एमि । इत् । एषाम् । निःऽकृतम् । जारिणीऽइव ॥**

सा० भा०— यत् यद्वदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि । यद्वा । न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः । परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि । नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति । किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति । तदा सङ्कल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी सङ्केतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव ।

अन्वय— यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि परायद्भ्यः सखिभ्य अव हीये, बभ्रवः न्युप्ताः वाचम् अक्रत, एषां निष्कृतं जारिणी इव एमि इत् ।

पदार्थ— यत् = जब । आदीध्ये = विचार करता हूँ , सोचता हूँ, सङ्कल्प (निश्चय) करता हूँ । एभिः = इन (पासों से अथवा इन जुआ खेलने वाले मित्रों) के साथ । न दविषाणि = नहीं खेलूँगा, नहीं

जाऊँगा । परायद्भ्यः = (जुए के स्थान की ओर) जाते हुए । सखिभ्यः = (जुआड़ी) मित्रों से । अव हीये = छूट जाता हूँ, पीछे रहा जाता हूँ, छिप जाता हूँ । बभ्रवः = भूरे रंग वाले । न्युप्ताः = फेके गये (पासे) । वाचम् = शब्द । अक्रत् = किया, करते हैं । एषाम् = इन (पासों) के । निष्कृतम् = खेलने के स्थान पर । जारिणी इव = व्याभिचारिणी स्त्री के समान । एमि इत् = जाता ही हूँ ।

अनुवाद— जब मैं सोचता हूँ कि इन (पासों) से नहीं खेलूँगा (अथवा-इन जुआड़ियों के साथ नहीं खेलूँगा), तब (जुए के स्थान की ओर) जाते हुए मित्रों से छूट जाता हूँ । किन्तु जब भूरे रंग वाले (पासे) फेंके जाने पर शब्द करते हैं, तब मैं एक व्याभिचारिणी स्त्री के समान इन (पासों) के स्थान पर पहुँच जाता हूँ । (अर्थात् जिस प्रकार व्याभिचारिणी स्त्री जार से मिलने के लिए सङ्केत-स्थल पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार मैं जुआघर में पहुँच जाता हूँ) ।

व्याकरण—

१. आदीध्ये – आ +√धी (विचार करना) लट् आत्मनेपद उत्तमपुरुष, एकवचन ।

२. दविषाणि – √दिव (जुआ खेलना) या दू (जाना), लेट्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

३. हीये – √हा (छोड़ना) कर्मवाच्य, लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

४. न्युप्ताः – नि + √वप् + क्त प्रथमा, बहुवचन ।

५. अक्रत – √कृ (करना) + लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप ।

६. एमि – √इ (जाना) + लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

सभामेति कितवः पृच्छमानो
जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः ।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं
प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥६॥

पदपाठ— सभाम् । एति । कितवः । पृच्छमानः । जेष्यामि । इति । तन्वा । शूशुजानः ॥ अक्षासः । अस्य । वि । तिरन्ति । कामम् । प्रतिऽदीव्ने । दधतः । आ । कृतानि ॥

सा० भा०— तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसम्बन्धिनीम् एति गच्छति । तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षाः वि तिरन्ति वर्धयन्ति ।

अन्वय— तन्वा शूशुजानः कितवः जेष्यामि इति पृच्छमानः सभाम् एति, अक्षासः प्रतिदीव्ने कृतानि दधतः अस्य कामं वि तिरन्ति ।

पदार्थ— तन्वा = शरीर से । शूशुजानः = काँपता हुआ या चमकता हुआ (अर्थात् गर्व को व्यक्त करता हुआ) । कितवः = जुआड़ी । जेष्यामि = जीतूँगा । इति = ऐसा, इस प्रकार । पृच्छमानः = पूछता हुआ, सोचता हुआ, विचार करता हुआ । सभाम् = द्यूतसभा में, जुआ खेलने के स्थान में, जुआघर में । एति = जाता है । अक्षासः = जुए के पासे । प्रतिदीव्ने = विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी) जुआड़ी के लिए । कृतानि = कृत नाम की चाल, उत्तम दाँव । दधतः = रखते हुए, लाते हुए, प्रदान करते हुए । अस्य = इस (जुआड़ी) की । कामम् = अभिलाषा को, मनोरथ को । वि तिरन्ति = विफल बना देते हैं, विनष्ट कर देते हैं, मिट्टी में मिला देते हैं या बढ़ा देते हैं, वर्धित कर देते हैं ।

अनुवाद— शरीर से काँपता हुआ (अथवा गर्व से छाती को फुलाता हुआ) जुआड़ी 'जीतूँगा' ऐसा विचार करता हुआ द्यूतसभा (जुआघर) में जाता है । जुए के पासे विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी) जुआड़ी के लिए (अर्थात् विरोधी के पक्ष में) उत्तम दाँवों (कृत नामक उत्तम चाल) को रखते (लाते) हुए इस (जुआड़ी)

के मनोरथ को विफल बना देते हैं।

व्याकरण—

१. **त॒न्वा॑ शू॒शु॑जानः** – जात्यस्वरित, कम्प।
२. शूशुजानः – √शुज् (चमकना, गर्व करना) + कानच्, प्रथमा, एकवचन।
३. पृच्छमानः – √प्रच्छ् (पूछना) + शानच्, प्रथमा, एकवचन।
४. अक्षासः – अक्षाः, का वैदिक रूप, प्रथमा, बहुवचन। लौकिक संस्कृत में अक्षाः रूप बनता है।
५. दधतः – √धा (रखना, स्थापित करना) + शतृ, प्रथमा, बहुवचन। अथवा षष्ठी, एकवचन।
६. तिरन्ति – √तृ (बढ़ाना) + लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

अ॒क्षास॒ इद॑ङ्कु॒शिनो॑ नितो॒दिनो॑
नि॒कृत्वा॑न॒स्तप॑नास्तापयि॒ष्णवः॑ ।
कु॒मा॒रदे॑ष्णा॒ जय॑तः पुन॒र्हणो॒
मध्वा॒ सम्पृ॑क्ताः कित॒वस्य॑ ब॒र्हणा॑ ॥७॥

पदपाठ— अ॒क्षासः॑ । इत् । अ॒ङ्कु॒शिनः॑ । नि॒ऽतो॒दिनः॑ । नि॒ऽकृत्वा॑नः । तप॑नाः । ता॒प॒यि॒ष्णवः॑ ॥ कु॒मा॒र॒ऽदे॑ष्णाः । जय॑तः । पु॒नः॒ऽहनः॑ । मध्वा॑ । सम्ऽपृ॑क्ताः । कि॒त॒वस्य॑ । ब॒र्हणा॑ ॥

सा० भा०— अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितो-दितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापशीलाश्च भवन्ति। किंच जयतः कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति। अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुरर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति।

अन्वय— अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः कुमारदेष्णाः पुनर्हणः कितवस्य बर्हणा मध्वा सम्पृक्ताः।

पदार्थ— अक्षासः = जुए के पासे। इत् = निश्चय ही। अङ्कुशिनः = अङ्कुश वाले। नितोदिनः = चाबुक (कोड़े) वाले। निकृत्वानः = काटने वाले। तपनाः = तपाने (जलाने) वाले। तापयिष्णवः = सन्ताप (कष्ट) दिलाने वाले। कुमारदेष्णाः = बच्चों के समान (धन) देने वाले। जयतः = विजयी का। पुनर्हणः = पुनः हनन करने वाले। कितवस्य = जुआड़ी की। बर्हणा = वृद्धि के द्वारा। मध्वा = मधु (शहद) से। सम्पृक्ताः = सने हुए।

अनुवाद— जुए के पासे निश्चित ही अङ्कुश वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार अङ्कुश हाथी पर शासन करता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी पर शासन करते हैं– उसे जुआ खेलने के लिए प्रेरित करते हैं), चाबुक (कोड़े) वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार चाबुक घोड़े, बैल आदि को चलाता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी को चलाते हैं– जुआ खेलने के लिए बाध्य करते हैं), काटने वाले (अर्थात् विनाश करने वाले) हैं, ताप देने (जलाने) वाले (अर्थात् सन्ताप देने वाले) हैं, तपवाने (जलवाने) वाले (सन्ताप दिलाने वाले अर्थात् जुआड़ी द्वारा उसके परिवार को कष्ट दिलाने वाले) हैं, बच्चों के समान धन देने वाले (और पुनः ले लेने वाले), विजयी का पुनः हनन करने वाले, (जीतने वाले जुआड़ी को फिर मारने वाले अर्थात् जीतने वाले जुआड़ी से पुनःधन छीन लेने वाले, हराकर पुनः धन का नाश करने वाले) तथा जुआड़ी की वृद्धि द्वारा (अर्थात् जुआड़ी के धन की वृद्धि करने के कारण) मधु (शहद) से युक्त (मधु से सने हुए, मीठे, आकर्षक) होते हैं।

व्याकरण—

१. अक्षासः – अक्ष का प्रथमा बहुवचन, वैदिकरूप। लौकिक संस्कृत में अक्षाः।
२. अङ्कुशिनः – अङ्कुश + इनि + (इन्) प्रथमा, बहुवचन।
३. निकृत्वानः – नि + √कृत् (काटना) + क्वनिप् प्रथमा, बहुवचन।
४. तपनाः – √तप् (तपाना) + ल्युट् (अन्) प्रथमा, बहुवचन।
४. तापयिष्णवः – √तप् + णिच् + इष्णुच् प्रथमा, बहुवचन।
५. जयतः – √जि (जीतना) + शतृ + पञ्चमी या षष्ठी, एकवचन।
६. मध्वा – तृतीया एकवचन। वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में मधुना।
७. सम्पृक्ताः – सम् + √पृच् + क्त, प्रथमा, बहुवचन।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां
देव इव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते
राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥८॥

पदपाठ— त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्। देवःऽईव। सविता। सत्यऽधर्मा। उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते। राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति॥

सा० भा०— एषाम् अक्षाणां त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकः व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। आक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा। सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीर्त्यः। किञ्च उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षाः न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः॥

अन्वय— सत्यधर्मा सविता देवः इव एषाम् त्रिपञ्चाशः व्रातः क्रीळति, उग्रस्य मन्यवे न नमन्ते। राजा चित् एभ्यः नमः कृणोति।

पदार्थ— सत्यधर्मा = सत्य नियमों वाले। सविता देवः = सवितृ देवता। इव = समान। एषाम् = इन (इन पासों) का। त्रिपञ्चाशः = तिरपन संख्या वाला। व्रातः = समूह। क्रीळति = खेलता है, उछलता है। उग्रस्य = क्रोधी के, प्रचण्ड के, शक्तिशाली के। मन्यवे = क्रोध के समक्ष। न = नहीं। नमन्ते = झुकते हैं। राजा = राजा। चित् = भी। एभ्यः = इनके लिए। नमः = नमस्कार। इत् = ही। कृणोति = करता है।

अनुवाद— सत्य नियमों वाले सवितृ देव के समान इन पासों का तिरपन संख्या वाला समूह (उछलता है)। क्रोधी (व्यक्ति) के क्रोध के समक्ष भी (ये पासे) नहीं झुकते हैं। राजा भी इन्हें नमस्कार ही करता है। (जुआड़ी प्रायः तिरपन पासों से जुआ खेलते हैं। स्वयं नियम का पालन करने वाले सविता के समान पासे भी स्वतन्त्र होते हैं और अपने ही नियम पर चलते हैं अथवा यों कहिए- जिस प्रकार सविता देवता के नियम का उल्लंघन नहीं होता है, उसी प्रकार पासों के नियम का भी उल्लंघन नहीं होता है)।

व्याकरण—

१. क्रीळति – √क्रीड् (खेलना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन। दो स्वरों के मध्य में स्थित ड् का ळ् हो गया है।
२. नमन्ते – √नम् (झुकना) + लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप।
३. कृणोति – √कृ (करना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोति।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुर-
न्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा: इरिणे न्युप्ता:
शीता: सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥

पदपाठ— **नीचा: । वर्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति । अहस्तास: । हस्तऽवन्तम् । सहन्ते ॥ दिव्या: । अङ्गारा: । इरिणे । नि:ऽउप्ता: । शीता: । सन्त: । हृदयम् । नि: । दहन्ति ॥**

सा० भा०— अपि चैतेऽक्षा: नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते । तथापि उपरि परा-जयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति । अहस्तास: हस्तरहिता अप्यक्षा: हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति । दिव्या: दिवि भवा अपकृता: अङ्गारा: अङ्गारसदृशा अक्षा: इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ता: शीता: शीत-स्पर्शा: सन्त: हृदयं कितवानामन्त:करणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

अन्वय— नीचा: वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति । अहस्तास: हस्तवन्तम् सहन्ते । इरिणे न्युप्ता: दिव्या: अङ्गारा: शीता: सन्त: हृदयम् निर्दहन्ति ।

पदार्थ— नीचा: = नीचे । वर्तन्ते = रहते हैं, पड़ते हैं, लुढ़कते हैं । उपरि = ऊपर । स्फुरन्ति = उछलते हैं, फड़कते हैं । अहस्तास: = हस्तरहित, बिना हाथों के । हस्तवन्तम् = हाथों वाले को । सहन्ते = अभिभूत करते हैं, दबा लेते हैं । इरिणे = अक्ष-पटल पर । न्युप्ता: = फेंके गये । दिव्या: = दिव्य, अलौकिक, अद्भुत । अङ्गारा = अङ्गारे । शीता: सन्त: = शीतल होते हुए भी । हृदयम् = हृदय को । निर्दहन्ति = जलाते हैं ।

अनुवाद— ये (पासे) नीचे (= अक्षपटल पर) लुढ़कते (पड़ते) हैं किन्तु ऊपर उछलते (फड़कते) हैं (जुआड़ी के हृदय-पटल के ऊपर प्रभाव डालते है-पराजय के भय से जुआड़ी को डराते रहते हैं); हाथों से रहित होते हुए भी हाथों वाले (जुआड़ी) को अभिभूत कर लेते हैं (दबा लेते हैं) । अक्षपटल पर फेंके गये ये दिव्य अङ्गारे (अथवा-दिव्य अङ्गारों के सदृश ये पासे) स्वयं शीतल (ठण्डे) होते भी (जुआड़ी के) हृदय को (पराजय के सन्ताप) से जलाते हैं ।

व्याकरण—

१. अहस्तास: – प्रथमा बहुवचन; वैदिकरूप अहस्ता: (लौकिक संस्कृत); न विद्येते हस्तौ येषां ते अहस्तास:, नञ्तत्पुरुष ।
२. सहन्ते – √सह् (अभिभूत करना) + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
२. दिव्या:– दिवि भवा: दिव्या:, √दिव् + यत्, प्रथमा, बहुवचन ।
४. न्युप्ता: – नि + वप् + क्त, प्रथमा, बहुवचन ।
५. निर्दहन्ति – निर् + √दह् + लट् प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

जाया तप्यते कितवस्य हीना
माता पुत्रस्य चरत: क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो-
ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥१०॥

पदपाठ— **जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना । माता । पुत्रस्य । चरत: । क्व । स्वित् ॥ ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमान: । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥**

सा० भा०— क्व स्वित् क्वापि चरत: निर्वेदाद्गच्छत: कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती

तप्यते वियोगजसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रौ उप एति चौर्यार्थमुपगच्छति।

अन्वय— कितवस्य हीना जाया तप्यते, क्व स्वित् चरतः पुत्रस्य माता, ऋणावा बिभ्यत् धनम् इच्छमानः नक्तम् अन्येषाम् अस्तम् उप एति।

पदार्थ— कितवस्य = जुआड़ी की। हीना = आश्रयहीना, परित्यक्ता। जाया = पत्नी। तप्यते = सन्तप्त (दुःखी) होती है। क्व स्वित् = कहीं। चरतः = विचरण करते हुए, घूमते, भटकते हुए। पुत्रस्य माता = पुत्र की माता। ऋणावा = ऋणी, ऋण से युक्त। बिभ्यत् = डरता हुआ। धनम् इच्छमानः = धन को चाहता हुआ। नक्तम् = रात्रि में। अन्येषाम् = दूसरों के। अस्तम् = घर। उप एति = जाता है, पहुँचता है।

अनुवाद— जुआरी की आश्रयहीना पत्नी सन्तप्त (दुःखी) रहती है; कहीं घूमते हुए (इधर-उधर भटकते हुए) (जुआड़ी) पुत्र की माता भी (दुःखी रहती है)। ऋणी (जुआड़ी) (ऋणदाता से) डरता हुआ तथा धन की इच्छा (कामना, अभिलाषा) करता हुआ (चोरी करने के लिए) रात्रि में दूसरों के घर जाता है।

व्याकरण—

१. हीना – √हा (छोड़ना) + क्त + टाप्, प्रथमा, एकवचन।

२. तप्यते – √तप् (जलना, सन्तप्त होना) + आत्मनेपद लट् प्रथम पुरुष, एकवचन।

३. चरतः – √चर् (विचरण करना) + शतृ, षष्ठी, एकवचन।

४. बिभ्यत् – √भी (डरना) शतृ, प्रथमा, एकवचन, वैदिक रूप।

५. इच्छमानः – √इष् (इच्छा) + शानच् प्रथमा, एकवचन।

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापा-
न्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रू-
न्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥

पदपाठ— स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। तताप। अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्॥ पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद॥

सा० भा०— कितवं कितवः। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरु-षाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठुकृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते। पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति। पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते।

अन्वय— कितवम् स्त्रियम् अन्येषां जायाम् सुकृतम् योनिम् दृष्टवाय तताप पूर्वाह्णे बभ्रून् युयुजे, वृषलः अग्नेः अन्ते पपाद।

पदार्थ— कितवम् = कितवः (विभक्तिव्यत्यय से कर्ता के स्थान पर कर्म का प्रयोग हुआ) जुआड़ी। स्त्रियम् = (अपनी) पत्नी को। अन्येषाम् = दूसरों की। जायाम् = पत्नी को; जातावेकवचनम्। सुकृतम् = सुनिर्मित, सुसज्जित। योनिम् = घर को। दृष्ट्वाय = देखकर। तताप = संतप्त (दुःखी) होता है। पूर्वाह्णे = दिन के पहले भाग में, प्रातःकाल। बभ्रून् = भूरे। अश्वान् = अश्वों को, पासों को। युयुजे = जोतता है। वृषलः = नीच। अग्नेः अन्ते = अग्नि के समीप। पपाद = गिर पड़ता है, पड़ा रहता है।

अनुवाद— जुआड़ी (अपनी कष्ट भोगती हुई) पत्नी को तथा दूसरे की (सुख भोगती) हुई पत्नी

और सुसज्जित (सुनिर्मित) घर को देखकर संतप्त (दु:खी) होता है। वह (जुआड़ी) प्रात:काल भूरे अश्वों (पासों) को जोतता है (अर्थात् पासों को दाँव पर लगाता है– (जुआ खेलता है और (जुए में हार कर सायंकाल) वह नीच (शीत से पीड़ित होकर) अग्नि के पास गिर पड़ता है (अग्नि के पास पड़ कर रात बिताता है)!

व्याकरण—

१. दृष्ट्वाय – √दृश् (देखना) + क्त्वाय (त्वाय) वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में दृष्ट्वा।
२. तताप – √तप् (संतप्त होना) + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन। लट् अर्थ में प्रयुक्त।
३. युयुजे – √युज् (जोतना) लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन लट् अर्थ में।
४. पपाद – √पद् (गति करना) + लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन लट् अर्थ में।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य
राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि
दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥

पदपाठ— **यः। वः। सेनाऽनीः। महतः। गणस्य। राजा। व्रातस्य। प्रथमः। बभूव॥ तस्मै। कृणोमि। न। धना। रुणध्मि। दश। अहम्। प्राचीः। तत्। ऋतम्। वदामि॥**

सा० भा०— हे अक्षा: व: युष्माकं महतो गणस्य संघस्य य: अक्ष: सेनानी: नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेद:। राजा ईश्वर: प्रथम: मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि। अत: परं धना धनानि अक्षार्थ-महं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थ:। एतदेव दर्शयति। अहं दशसंख्याका अङ्गुली: प्राची: प्राङ्मुखी: करोमि। तत् एतत् अहम् ऋतं सत्यमेव वदामि। नानृतं ब्रवीमीत्यर्थ:।

अन्वय— व: महत: गणस्य य: सेनानी बभूव, व्रातस्य प्रथम: राजा, तस्मै अहम् दश प्राची: कृणोमि, धना न रुणध्मि, तत् ऋतम् वदामि।

पदार्थ— व: = तुम्हारे। महत: गणस्य = महान् गण (तिरपन संख्या वाले समुदाय का)। य: = जो (अक्ष, पासा)। सेनानी: = सेनापति, नायक। बभूव = था, है। व्रातस्य = संघ का, समूह का। प्रथम: राजा = प्रमुख राजा। तस्मै = उस (अक्ष) के लिए। अहम् = मैं (जुआड़ी)। दश = दश (अंगुलियाँ)। प्राची: = पूर्व की ओर, सामने करता हूँ। धना न रुणध्मि = मैं धनों को नहीं रोकता हूँ। तत् = वह, यह। ऋतम् = सत्य। वदामि = कहता हूँ।

अनुवाद— (हे अक्षो!) जो (अक्ष) तुम्हारे महान् गण का सेनापति है, जो तुम्हारे संघ का प्रमुख राजा है, उसके सामने (उसके लिए) मैं दसों अंगुलियाँ सामने करता हूँ (अर्थात् हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ)। मैं धनों को रोकता नहीं हूँ। (मैंने धन नहीं छिपाया है– जुआ खेलने के लिए अब मेरे पास धन नहीं रह गया है); यह मै सत्य कहता हूँ।

व्याकरण—

१. बभूव – √भू + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।
२. कृणोमि – √कृ + लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन, वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोमि रूप बनता है।
३. रुणध्मि – √रुध् + लट् उत्तमपुरुष, एकवचन।
४. धना – द्वितीया बहुवचन वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में धनानि रूप होता है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

पदपाठ— अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः ॥ तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥

सा० भा०— हे कितव बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु। कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु। वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु। तत्र कृषौ गावः भवन्ति। तत्र जाया भवन्ति। तत् एव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्त्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविध-माख्यातवान् ॥

अन्वय— कितव! अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व। बहु मन्यमानः वित्ते रमस्व, तत्र गावः, तत्र जाया, तत् मे अयम् अर्यः सविता विचष्टे।

पदार्थ— कितव = हे जुआड़ी! अक्षैः = पासों से। मा दीव्य = मत खेलो। कृषिम् इत् = खेती ही। कृषस्व = जोतो; करो। वित्ते = धन में। बहुत, पर्याप्त। मन्यमानः = मानते हुए, समझते हुए। रमस्व = रमण करो, आनन्द करो,। तत्र = वहाँ। गावः = गायें। तत्र = वहाँ। जाया = पत्नी! तत् = यह। मे = मुझसे। अयम् = यह। अर्यः = श्रेष्ठ। सविता = सविता (देवता) ने। विचष्टे = समझा कर कहा है।

अनुवाद— हे जुआड़ी! पासों से मत खेलो (अर्थात् जुआ मत खेलो), खेती ही जोतो (अर्थात् खेती करो)। (खेती द्वारा प्राप्त धन को) (पर्याप्त) मानते हुए (उस) धन में रमण करो (आनन्द का अनुभव करो)। वहाँ (खेती के कर्म में) गायें हैं तथा वहाँ (खेती के कर्म में) तेरी स्त्री है। (खेती करने से जुए में हार गए तुम्हारे पशु मिल जायेंगे और जुआ खेलने के कारण अन्यत्र गयी तुम्हारी पत्नी तुम्हें मिल जायेगी)– यह मुझसे श्रेष्ठ सविता (देवता) ने समझा कर कहा है।

व्याकरण—

१. दीव्यः – √दिव् (जुआ खेलना) + लङ् (अट्–रहित), मध्यमपुरुष, एकवचन; 'मा' के कारण अट् का अभाव।
२. कृषस्व – √कृष् (खींचना) + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन, वैदिक रूप।
३. रमस्व – √रम् (रमण करना) + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।
४. चष्टे – √चक्ष् (देखना, कहना) + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो
मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामराति-
रन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥

पदपाठ— मित्रम्। कृणुध्वम्। खलु। मृळत। नः। मा। नः। घोरेण। चरत। अभि। धृष्णु। नि। वः। नु। मन्युः। विशताम्। अरातिः। अन्यः। बभ्रूणाम्। प्रऽसितौ। नु। अस्तु॥

सा० भा०— हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वं । अस्मासु मैत्रीं कुरुत । खलु इति पादपूरणः । न अस्मान् मृळत सुखयत च । नः अस्मान् धृष्णु धृष्णुना तृतीयार्थे प्रथमा । घोरेण असह्येन मा अभिचरत मा गच्छत । किञ्च वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रुः नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु । अन्यः अस्माकं शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रं अस्तु भवतु ।

अन्वय— मित्रम् कृणुध्वम्, खलु नः मृळत, धृष्णु, घोरेण मा अभिचरत । नु वः मन्युः अरातिः निं विशताम्, नु अन्यः बभ्रूणाम् प्रबन्धने प्रसितौ अस्तु ।

पदार्थ— मित्रम् = मित्र, मित्रता । कृणुध्वम् = करो, बनाओ । खलु = पादपूर्ति के लिए निपात । नः = हमारे ऊपर । मृळत = दया करो । धृष्णु = दबा लेने वाले, अभिभूत करने वाले । घोरेण = भयङ्कर प्रभाव से,भयङ्कर जादू से । मा = मत । अभिचरत = अभिचार करो, मोहित करो । नु = अब । वः = तुम्हारा । मन्युः = क्रोध । अरातिः = शत्रुता । निविशताम् = रुक जाय,शान्त हो जाय । नु = अब । अन्यः = दूसरा । बभ्रूणाम् = भूरे (पासों) के । प्रसितौ = बन्धन में, जाल में । अस्तु = होवे, पड़े ।

अनुवाद— (हे पासो! अब मुझको) मित्र बना लो, हमारे ऊपर दया (कृपा) करो । (अपने) दबा लेने वाले तथा भयङ्कर प्रभाव से हमें मोहित न करो (हमारे ऊपर अभिचार न करो) । तुम्हारा क्रोध और तुम्हारी शत्रुता अब शान्त हो जाय । अब कोई दूसरा व्यक्ति भूरे (पासों) के बन्धन (जाल) में न पड़े ।

व्याकरण—

१. कृणुध्वम् – √कृ + लोट्, आत्मनेपद मध्यमपुरुष बहुवचन,

२. मृळत– √मृड् (दया करना, सुख देना) + लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन । वेदमें दो स्वरों के मध्य में डकार का लकार हुआ है ।

३. विशताम् – √विश् + लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. प्रसितौ – प्र + √सि (बाधना) + क्तिन् (ति), सप्तमी एकवचन ।

५. अरातिः – न रातिः अरातिः (नञ् तत्पुरुष स०) न + √रा (देना) + क्तिन् (ति) प्रथमा एकवचन ।

अभ्यास– (१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीलिए—

(क) न मा मिमेथ न जिहीळ एषा................२

(ख) अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य.................४

(ग) सभामेति कितवः पृच्छमानो..................६

(घ) जाया तप्यते कितवस्य.......................१०

(ङ) अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व..................१३

(१) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) मिमेथ ।

(ख) अगृधत् ।

(ग) अक्रत ।

(घ) अक्षासः ।

(ङ) नमन्ते ।

इकाई - ६ वैदिक सूक्त

इकाई की रूपरेखा

६.० उद्देश्य

६.१ राष्ट्राभिवर्धन सूक्त

६.२ पृथिवी सूक्त

६.० उद्देश्य

इस यूनिट में अथर्ववेदीय निम्नलिखित सूक्तों के मन्त्रों की व्याख्या का बोध कराया जायेगा।

६.१ राष्ट्राभिवर्धनम्

वेद–अथर्ववेद **काण्ड संख्या–१** **सूक्त संख्या–२९**

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्रीय वर्धय ॥१॥

पदपाठ— अभिऽवर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभिऽववृधे ॥ तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥१॥

सा०भा०— येन समृद्धिसाधनत्वेन प्रसिद्धेन अभीवर्तेन । अभितो वर्तते चक्रम् अनेनेति अभिवर्तो नेमिः । वृतु वर्तने । अस्मात् 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा०सू० ३.३.१९) इति करणे घञ् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा०सू० ६.३.१२२) इति दीर्घः । 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (पा०सू० ६.२.१४४) इति उत्तेरपदान्तोदा-त्तत्वम् । अत्र कार्ये कारणशब्दः । चक्रनेमिनिर्मितो मणिः । यद्वा अभितः सर्वतः प्रवृद्धो-ऽभूत् । परमैश्वर्योपेतस्त्रिलोकीपतिर्बभूवेत्यर्थः । वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा०सू० ६.१७) इत्यभ्यासस्य दीर्घः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा०सू० ८.१.६६) इति निघातप्रतिषेधः । हे ब्रह्मणस्पते वेदराशेरधिपते । षष्ठ्या पतिपुत्र' (पा०सू० ८.५३) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' (पा०सू० २.१.२) इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य 'आमन्त्रितस्य च' (पा०सू० ८.१.१९) इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । एतत्संज्ञक देव तेन प्रागुदीरितमहिमोपेतेन मणिना अस्मान् शत्रुभिः पीडितान् राष्ट्राय । तादर्थ्ये चतुर्थी । स्वराष्ट्राभिवृद्ध्यर्थम् अभिवर्धय करितुरगधनादिभिः समृद्धान् कुरु । त्वत्प्रसा-दात् समृद्धैरस्माभी रक्षितं राष्ट्रं शत्रुभयरहितं यथा अभिवृद्धं भवति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

अन्वय— ब्रह्मणस्पते येन अभीवर्तेन मणिना इन्द्रः वावृधे, तेन अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय ।

पदार्थ— ब्रह्मणस्पते = हे ब्रह्मणस्पति । येन = जिस । अभीवर्तेन = चारो ओर (अप्रतिहत रूप से) घूमने वाली । मणिना = मणि के द्वारा । इन्द्रः = इन्द्र ने । अभिवावृधे = सभी ओर से बढ़ा, वृद्धि को प्राप्त किया । तेन = उस (मणि) से । अस्मान् = हम लोगों को । राष्ट्राय: = राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए । अभि वर्धय = बढ़ाओ ।

अनुवाद— हे ब्रह्मणस्पति, जिस चारो ओर (अप्रतिहत रूप से) घूमने वाली मणि के द्वारा इन्द्र ने सभी ओर से वृद्धि को प्राप्त किया, उस (मणि) से हम लोगों को राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए बढ़ाओ ।

व्याकरण—

१. अभीवर्तेन ' अभि + √वृ (वर्तने) + घञ्, तृतीया एकवचन 'घञ्यमनुष्ये बहुलम्' पा० ६.३.१२२) से उपसर्ग का दीर्घ ।

२. अभिवावृधे - अभि + √वृध् (वर्धने) + लिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (पा० ६.१.७) से अभ्यास का दीर्घ।

३. वर्धय - √वृध् लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥२॥

पदपाठ— **अभिऽवृत्य। सऽपत्नान्। अभि। याः। नः। अरातयः॥ अभि। पृतन्यन्तम्। तिष्ठ। अभि। यः। नः। दुरस्यति ॥२॥**

सा० भा०— हे अभिवर्त मणे त्वं सपत्नान्। सपत्नीव सपत्ना सहजशत्रवः। अस्मदीयांस्तान् शत्रून् अभिवृत्य अभिमुखं पर्यावृत्य। तिष्ठेति वक्ष्यमाणक्रिया अत्रापि सम्बध्यते त्वमेव प्रतिपक्षी भूत्वा तान् पराकुरु इत्यर्थः। तथा याः नः अस्माकम् अरातयः अदातारः अस्मदीयं राष्ट्रधनादिकम् अपहृत्य शात्रवं कुर्वाणा बाह्याः शत्रवः तानपि। अभि इत्युपसर्गश्रवणात् तिष्ठेति सम्बन्धः। अभिमुखं तिष्ठ। तथा पृतन्यन्तम् युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तम्। पृतनाशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा०सू० ३.१.८) इति क्यच्। 'कव्यध्वरपृतनस्यचि लोपः' (पा०सू० ७.४.३९) इत्याकारलोपः। युद्धोन्मुखमपि शत्रून् अभितिष्ठ। तथा यः शत्रुः नः अस्माकं दुरस्यति दुष्टम् अभिचारादिरूपं क्षुद्रं कर्म कर्तुम् इच्छति। 'दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति' (पा०सू० ७.४.३६) इति क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावो निपात्यते। तथाविधमपि शत्रुम् अभितिष्ठ। शप्तिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे क्यच्स्वरेण मध्योदात्तत्वम्। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा०सू० ८.१.६६) इति निघातप्रतिषेधः॥

अन्वय— सपत्नान् अभिवृत्य याः नः अरातयः अभि पृतन्यतम् अभितिष्ठ। यः नः दुरस्यति अभि (तिष्ठ)।

पदार्थ— सपत्नान् = शत्रुओं को, विपक्षियों को। अभिवृत्य = चारो ओर से घेरकर। याः = जो। नः = हमको। अरातयः = नहीं देने वाले। अभि = (उनको) चारो ओर से (घेरकर)। पृतन्यन्तम् = युद्ध की इच्छा करने वाले को। अभि तिष्ठ = चारो ओर से (घेरकर) बैठ जाओ (अर्थात् पराजित करो)। यः = जो। नः = हमको। दुरस्यति = दुर्व्यवहार करता है। अभि = चारो ओर से (पराजित करो)।

अनुवाद— (हे ब्रह्मणस्पति), (हमारे) शत्रुओं (विपक्षियों) को चारो ओर से घेरकर, जो हमको नहीं देने वाले (हैं, उनको) चारों ओर से (घेरकर) (और हमसे) युद्ध की इच्छा करने वाले को चारों ओर से (घेरकर) बैठ जाओ (अर्थात् उन्हें पराजित करो)। जो हमसे दुर्व्यवहार करता है (उसको) चारो ओर से (पराजित करो)।

व्याकरण—

१. अभिवृत्य - अभि + √वृ + ल्यप्।

२. पृतन्यतम् - पृतना + क्यच् (य)।

३. अभितिष्ठ - अभि + √स्था + लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।

४. दुरस्यति - नामधातु √दुरस्य, लट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥

पदपाठ— अभि। त्वा। देवः। सविता। अभि। सोमः। अवीवृधत्॥ अभि। त्वा। विश्वा। भूतानि। अभिऽवर्तः। यथा। अससि ॥३॥

सा० भा०— हे मणे त्वा त्वां देवः द्योतनात्मकः सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरकः एतत्संज्ञको देवः। अभि इत्युपसर्गश्रवणाद् अवीवृधत् इति क्रिया अत्रापि सम्बध्यते। अभ्यवीवृधत् अभितःसमृद्धम्

अकार्षात् । वृधु वृद्धौ । अस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि गुणे प्राप्ते 'नित्यं छन्दसि' (पा०सू० ७.४.८) इति उपधऋवर्णस्य ऋकारादेशः । तथा सोमो देवः अभ्यवीवृधत् । 'व्यवहिताश्च' (पा०सू० १.४.८२) इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः । तथा हे मणे त्वा त्वां विश्वा विश्वानि निखिलानि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा०सू० ६.१.७०) इति शेर्लोपः । भूतानि भवन्ति सत्ता लभन्त इति भूतानि चराचरात्मकानि । 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति प्रत्यवसानार्थेभ्यः' (पा०सू० ३.४.७४) इति भवतेः कर्तरि क्त प्रत्ययः । उपसर्गश्रवणाद् अत्रापि प्रकृतक्रियासम्बन्ध । अभ्यवीवृधत् । अभिवर्धना विधिम् आह यथा येन प्रकारेण हे मणे त्वम् अभिवर्तः त्वद्धारयितुः पुरुषस्य अभितः स्वराष्ट्रपरराष्ट्रादौ वर्तनसाधनभूतः अससि भवसि तथा त्वाम् अवीवृधत् इति पूर्वेण सम्बन्धः । असभुवि । 'बहुलं छन्दसि' (पा०सू० २.४.७३) इति शपो लुगभावः । 'यावद्याथाभ्याम्' (पा०सू० ८.१.३६) इति निघातप्रतिषेधः ॥

अन्वय— त्वा सविता देवः अभि अवीवृधत्, सोमः अभि (अवीवृधत्); विश्वा भूतानि त्वा अभि (अवीवृधत्) यथा अभिवर्तः अससि ।

पदार्थ— त्वा = तुमको । सविता देवः = सविता देवता ने । अभि = चारों ओर से) । अवीवृधत् = समृद्ध किया है । सोमः = सोम ने । अभि = चारों ओर से (समृद्ध किया है) । विश्वा = सम्पूर्ण । भूतानि = प्राणियों ने । त्वा = तुमको । अभि = चारों ओर से (समृद्ध किया है) । यथा = जिससे । अभिवर्तः = चारो ओर घूमने वाले । अससि = तुम होओ ।

अनुवाद— तुमको सविता देवता ने चारों ओर से समृद्ध किया है, सोम ने चारों ओर से (समृद्ध किया) है (और) सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारो ओर से (समृद्ध किया है) जिससे तुम चारों ओर घूमने वाले होवो ।

व्याकरण—

१. अवीवृधत् - √वृध् (वर्धने) लुङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. असस‍ि - √अस् लट्मूलक लेट्, मध्यमपुरुष, एकवचन ।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥४॥

पदपाठ— **अभिऽवर्तः । अभिऽभवः । सपत्नऽक्षयणः । मणिः ॥ राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । सऽपत्नेभ्यः । पराऽभुवे ॥४॥**

सा० भा०— अभीवर्तः अभिवर्तनसाधनभूतः । तत्र हेतुम् आह— अभिभवः शत्रूणाम् अभिभविता । अभिभवनं विशिनष्टि— सपत्नक्षयणः सपत्नानां भ्रातृव्याणां क्षयकरः । यत एवम् अतः अभीवर्त इत्यर्थः तादृशो मणिः मह्यम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । 'ङयि च' (पा०सू० ६.१.२१२) इत्याद्युदात्तत्वम् । मम बध्यताम् । बन्ध बन्धने । कर्मणि लोट् । मणिबन्धनप्रयोजनम् आह— राष्ट्राय राष्ट्राभिवृद्धये । तथा सम्पनेभ्यः । पूर्ववत् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । भ्रातृव्याणां पराभुवे पराभवनाय । परापूर्वाद् भवतेः संपादादिलक्षणो भावे क्विप् । बध्यमानोऽयं मणिः पूर्वं शत्रुभिः पीडितस्य स्वराष्ट्रस्य अभि-वृद्धिं बाधकानां शत्रूणां नाशनं च करोतु इत्यर्थः ॥

अन्वय— अभीवर्तः अभिभवः सपत्नक्षयणः मणिः राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे मह्यं बध्यताम् ।

पदार्थ— अभीवर्तः = चारों ओर घूम ने वाली । अभिभवः = पराजित करने वाली । सपत्नक्षयणः = शत्रुओं का संहार करने वाली । मणिः = मणि । राष्ट्राय = राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए । सपत्नेभ्यः = शत्रुओं को । पराभुवे = पराजित करने के लिए । मह्यम् = मेरे लिए, मेरे साथ । बध्यताम् = बँध जाय ।

अनुवाद— चारों ओर घूमने वाली, पराजित करने वाली (तथा) शत्रुओं का संहार करने वाली मणि राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए और शत्रुओं को पराजित करने के लिए मेरे लिए (मेरे साथ) बँध जाय ।

व्याकरण—

१. बध्यताम् - √बन्ध् + लोट् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. पराभुवे - परा + √भू + तुमर्थक वैदिक ए प्रत्यय।

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

पदपाठ— **उत्। असौ। सूर्यः। अगात्। उत्। इदम्। मामकम्। वचः॥ यथा। अहम्। शत्रुऽहः। असानि। असपत्नः। सपत्नऽहा ॥५॥**

सा० भा०— असौ नभो मण्डले परिदृश्यमानः सूर्यः सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः। 'राजसूयसूर्य' (पा०सू० ३.१.११४) इत्यादिना क्यपि निपात्यते। उदागात् उदितवान्। 'इणो गा लुङि' (पा०सू० २.४.४५) इति गादेशः। 'गातिस्था०' (पा०सू० २.४.७७) इति सिचो लुक्। किञ्च मामकम् मदीयम् इदम् अधुनोच्चार्यमाणं वचः आत्मनो जयाशंसात्मकं शत्रूणाम् अभिभवप्रतिपादकं च वाक्यम्। यद्वा जयोद्देशेन प्रयुज्यमानं मन्त्रात्मकं वाक्यम्। उत् इति उपसर्गश्रवणात् प्रकृतिक्रियासम्बन्धः। उद-गात्। मामकम् इति। अस्मच्छब्दात् 'तस्येदम्' (पा०सू० ४.३.१२०) इत्यण्। 'तवक-ममकावेकवचने' (पा०सू० ४.३.३) इत्यस्मदो ममकादेशः। सूर्योदयस्य वाग्व्यव-हारस्य च प्रतिदिनं सत्त्वेऽपि विशेषतस्तत्कथनस्य प्रयोजनम् आह— अहम् अभीवर्त-मणिधारकः यथा येन प्रकारेण शत्रुहः शत्रूणां हन्ता असानि भवानि। हन हिंसागत्योः। 'आशिषि हनः' (पा०सू० ३.२.४९) इति डप्रत्ययः। अस्तेर्लोटि 'आडुत्तमस्य पिच्च' (पा०सू० ३.४.९२) इति आडागमः। 'यावद्यथाभ्याम्' (पा०सू० ८.१.३६) इति निघातप्रतिषेधः। मिपि पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे 'आगमा अनुदात्ताः' (पा०म० ३.१.३) इति आटोऽपि अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। यथाहम् एवं भवानि तथा उद-गाद् इति पूर्वेण सम्बन्धः। मणिप्रभावात् अद्यतनसूर्योदयः अधुनाप्रयुज्यमानवचश्च शत्रुहननानुकूलम् अभूद् इत्यर्थः। यत एवम् अतः अहम् असपत्नः शत्रुरहित एव। यदि च सपत्ना भवेयुस्तर्हि सपत्नहा सपत्नानां शत्रूणां हन्ता अस्मि। हन्तेः 'क्विप् च' (पा०सू० ३.२.७६) इति क्विप्॥

अन्वय— असौ सूर्यः उत् अगात् मामकं इदं वचः उत् (अगात्) यथा अहं शत्रुहः असपत्नः सपत्नहा असानि।

पदार्थ— असौ = यह। सूर्यः = सूर्य। उत् अगात् = ऊपर चला गया। मामकम् = मेरा। इदम् = यह। वचः = वाणी, स्तोत्र। उत् = ऊपर (चला गया)। यथा = जिससे। अहम् = मैं। शत्रुहः = शत्रुघ्न, शत्रु को मारने वाला। असपत्नः = शत्रुरहित। सपत्नहा = प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला। असानि = होऊँ।

अनुवाद— यह सूर्य ऊपर चला गया मेरा यह स्तोत्र ऊपर (चला गया), जिससे मैं शत्रु को मारने वाला, शत्रुरहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ।

व्याकरण—

१. अगात् - √गा (गमने), लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. असानि - √अस् लडर्थक लेट्, उत्तमपुरुष, एकवचन।

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

पदपाठ— **सपत्नऽक्षयणः। वृषा। अभिऽराष्ट्रः। विऽससहिः॥ यथा। अहम्। एषाम्। वीराणाम्। विऽराजानि। जनस्य। च ॥६॥**

सा० भा०— उत्तरवाक्ये यथेति श्रवणात् पूर्ववाक्येऽपि अर्थात् तथेत्यध्याह्रियते। सपत्नक्षयणः सपत्नानां शत्रूणां नाशकः। 'क्षि क्षये'। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' (पा०सू० ३.१.१३४) इति कर्तरि ल्युप्रत्ययः।

अतः वृषा प्रजानाम् इष्टफलस्य वर्षकः। वृष सेचने 'कनिन्युवृषि' (पा०उ० १.१५४) इत्यादिना कनिन्प्रत्ययः। अत एव अभिराष्ट्रः स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं च अभिगतः अधिपतित्वेन प्राप्तः। 'अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (पा० १.४.७२.२) इति प्रादिसमासः। अतो विषासहिः विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा अभिभविता। वह अभिभवे। अस्माद् यङन्तात् 'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' (पाव० ३.२.१७१.२) इति किप्रत्ययः। अतोलोपयलोपौ। मणि-प्रभावाद् एवंगुणविशिष्टः तथा भूयासम्। कथम् इत्यत आह— अहम् मणिधारकः यथा येन प्रकारेण एषाम् शत्रुसम्बन्धिनां पूर्वम् आत्मनो बाधकानां वीराणाम् शत्रुभटानां जनस्य स्वकीयस्य परकीयस्य प्राणिजातस्य च विराजानि। राजतिरैश्वर्यकर्मा। नियन्ता भवानि। तथेति पूर्वेण सम्बन्धः उदीरितगुणोपेतः सन् मणिप्रभावात् शत्रुप्रभृतीनां सर्वेषां शासिता भवामीति भावः। यद्वा उक्तगुणोपेतः सन् अहं वीराणां जनस्य च यथा विराजानि हे मणे त्वत्प्रभावात् तथा भूयासम् इति शेषः॥

अन्वय— सपत्नक्षयणः वृषा अभिराष्ट्रः विषसहिः (असानि) यथा अहम् एषां वीराणां जनस्य च विराजानि।

पदार्थ— सपत्नक्षयणः = प्रतिद्वन्द्वी को विनष्ट करने वाला, वृषा = कामनाओं को पूर्ण करने वाला। अभिराष्ट्रः = (सामर्थ्य से) राष्ट्र को प्राप्त करने वाला। विष-सहि = पराजित करने वाला। यथा = जिससे। अहम् = मैं। एषां = इन। वीराणाम् = वीरों को। जनस्य च = और लोगों का प्रजाओं का। विराजानि = शासक बनूँ।

अनुवाद— मैं प्रतिद्वन्द्वी को विनष्ट करने वाला, (प्रजा की) कामनाओं को पूर्ण करने वाला, (अपने सामर्थ्य से) राष्ट्र को प्राप्त करने वाला (तथा) शत्रुओं को परा- जित करने वाला (होऊँ); जिससे मैं (शत्रुपक्ष वाले) इन वीरों का और प्रजाओं का शासक बनूँ।

व्याकरण—

१. विराजानि - वि + √राज्, लेट् उत्तमपुरुष एकवचन।

२. विषासहि – वि + √ससह + इ।

अभ्यास— (१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए।

(क) अभीवर्तेन मणिना......................१

(ख) अभिवृत्य सपत्नानभि..................२

(ग) अभि त्वा देवः ......:.................३

(घ) अभीवर्तो अभिभर्तो.....................४

(ङ) सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो................६

(१) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) वर्तय

(ख) असंसि

(ग) पराभुवे

(घ) असानि

(ङ) विराजानि

६.२. पृथिवीसूक्तम्

वेद–अथर्ववेद **अध्याय संख्या–१२** **सूक्त संख्या–१**

स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒
ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति ।
सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य॒ पत्न्यु॒-
रुं लो॒कं पृ॑थि॒वी नः॑ कृणोतु ॥१॥

पदपाठ— **स॒त्यम् । बृ॒हत् । ऋ॒तम् । उ॒ग्रम् । दी॒क्षा । तपः॑ । ब्रह्म॑ । य॒ज्ञः । पृ॒थि॒वीम् । धा॒र॒य॒न्ति॒ ॥ सा । नः॒ । भू॒तस्य॑ । भव्य॑स्य । पत्नी॑ । उ॒रुम् । लो॒कम् । पृ॒थि॒वी । नः॒ । कृ॒णो॒तु॒ ॥**

अन्वय— सत्यं बृहत् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपः यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । भूतस्य भव्यस्य पत्नी सा नः पृथिवी नः लोकम् उरुं करोतु ।

पदार्थ— सत्यम् = सत्य । बृहत् = महिमा । ऋतम् = शाश्वत् नियम । उग्रं = उग्रता, शक्ति । दीक्षा = दीक्षा, यज्ञ का व्रत । तपः = तप, तपस्या । ब्रह्म = ब्रह्म । यज्ञः = यज्ञ । पृथिवीम् = पृथिवी को । धारयन्ति = धारण करते हैं । भूतस्य = भूत की, भूतकाल की । भव्यस्य = भविष्य की । पत्नी = पत्नी, रक्षिका । सा = वह । नः = हमारी । पृथिवी = पृथिवी । नः = हमारे । लोकम् = लोक को । उरुम् = विस्तृत, विशाल । करोतु = करे, बना दे ।

अनुवाद— सत्य, महिमा (महत्ता), ऋत (शाश्वतनियम), उग्रता (शक्ति), दीक्षा (यज्ञ का व्रत), तपस्या, ब्रह्म (वेद) और यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं । भूतकाल और भविष्यत्काल की रक्षिका वह हमारी पृथिवी हमारे लोक को विस्तृत बना दें ।

व्याकरण—

१. ऋतम् – √ऋ + क्त ।
२. धारयन्ति – √धृ + णिच् + लट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
३. कृणोतु – √कृ + लोट् + प्रथमपुरुष, एकवचन; 'करोतु' का वैदिक रूप ।

अ॒सं॒बा॒धं मध्य॒तो मा॑न॒वाना॒ं
यस्या॑ उ॒द्वत॑ प्र॒वतः॑ स॒मं ब॒हु ।
नाना॑वीर्या॒ ओष॑धी॒र्या बिभ॑र्ति
पृथि॒वी नः॑ प्रथ॒तां राध्य॑तां नः ॥२॥

पदपाठ— **अ॒स॒म्ऽबा॒धम् । म॒ध्य॒तः । मा॒न॒वाना॑म् । यस्याः॑ । उ॒त्ऽवतः॑ । प्र॒ऽवतः॑ । स॒मम् । ब॒हु ॥ नाना॑ऽवीर्याः । ओष॑धीः । या । बिभ॑र्ति । पृ॒थि॒वी । नः॒ । प्र॒थ॒ता॒म् । राध्य॑ताम् । नः॒ ॥**

अन्वय— यस्याः बहु उद्वतः प्रवतः समं मानवानां मध्यतः असम्बाधं याः नानावीर्याः ओषधीः बिभर्ति, पृथिवी नः प्रथताम्, नः राध्यताम् ।

पदार्थ— यस्याः = जिसके (अर्थात् जिस पर) । बहु = बहुत से । उद्वतः = ऊँचे । प्रवतः = नीचे । समम् = समतल । मानवानाम् = मनुष्यों के । मध्यतः = बीच में । असम्बाधम् = निर्बाध । याः = जो । नानावीर्याः = अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त । ओषधीः = ओषधियों को । बिभर्ति = धारण करती है । पृथिवी = पृथिवी । नः = हमारे लिए । प्रथताम् = विस्तृत हो । नः = हमारे लिए । राध्यताम् = समृद्ध बने, समृद्धि से युक्त हो जाय ।

अनुवाद— जिसके (अर्थात् जिस पृथ्वी पर) बहुत से ऊँचे, नीचे और समतल (क्षेत्र) मनुष्यों के बीच बाधारहित (अर्थात् बिना किसी बाधा के) स्थित हैं, जो अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त औषधियों को धारण करती हैं, (वह) पृथिवी हमारे लिए विस्तृत हो और हमारे लिए समृद्ध बने।

व्याकरण—

१. प्रथताम् – √प्रथ् (विस्तृत होना) + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. राध्यताम् – √राध् (समृद्ध होना) + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

३. नानावीर्याः – नाना वीर्याणि यासां ताः (बहुव्रीहि)।

४. बिभर्ति – √भृ + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

यस्यां समुद्र उत सिन्धु रापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

पदपाठ— यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः। आपः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः॥ यस्याम्। इदम्। जिन्वति। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। पूर्वऽपेये। दधातु॥

अन्वय— यस्याम् समुद्रः सिन्धुः उत आपः, यस्यां अन्नम् कृष्टयः सम्बभूवुः, यस्याम् इदम् प्राणत् एजत् जिन्वति, सा भूमिः नः पूर्वपेये दधातु।

पदार्थ— यस्याम् = जिस (पृथिवी) पर। समुद्रः = समुद्र। सिन्धुः = नदियाँ। उत = और। आपः = जल। यस्याम् = जिस पर। अन्नम् = अन्न। कृष्टयः = खेतियाँ, फसलें। सम्बभूवुः = उत्पन्न होती हैं। यस्याम् = जिस पर। इदम् = यह। प्राणात् = साँस लेने वाला। एजत् = गतिशील। जिन्वति = जीवित रहता है, प्रसन्न होता है। सा = वह। भूमिः = पृथ्वी। नः = हमें। पूर्वपेये = प्रथम पेय में। दधातु = धारण करे, स्थापित करे।

अनुवाद— जिस (पृथिवी) पर समुद्र, नदियाँ और जल (हैं), जिस पर अन्न और खेतियाँ (फसलें) उत्पन्न होती है; जिस पर यह साँस लेने वाला और गतिशील जगत् जीवित रहता है (अथवा प्रसन्न होता है), वह पृथ्वी हमें प्रथम पेय में (उत्तम पेय वाले प्रदेश में) धारण करे (स्थापित करे)।

व्याकरण—

१. सम्बभूवुः – सम् + √भू + लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

२. प्राणत् – प्र + √अन् + शतृ।

३. एजत् – √एज् + शतृ।

४. जिन्वति – √जिन्द + लट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

५. दधातु – √धा + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्याः
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

पदपाठ— यस्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवः॥ या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि।

अन्नें । दुधातु ॥

अन्वय— यस्याः पृथिव्याः चतस्त्रः प्रदिशः, यस्याम् अन्नम् कृष्टयः सम्बभूवुः, या प्राणत् एजत् बहुधा बिभर्ति, मा भूमिः नः गोषु अपि अन्नेषु दधातु ।

पदार्थ— यस्याः = जिस पृथिवी की । चतस्त्रः प्रदिशः = चार प्रमुख दिशाएँ । यस्याम् = जिस पर । अन्नम् = अन्न । कृष्टयः = खेतियाँ, फसलें । संबभूवुः = उत्पन्न होती हैं । या = जो । प्राणत् = प्राण धारण करने वाले, साँस लेने वाले । एजत् = गतिशील । बहुधा = अनेक प्रकार से । बिभर्ति = धारण करती है । सा = वह । भूमिः = पृथ्वी । नः = हमें । गोषु = गायों में । अपि = भी । अन्ने = अन्न में । दधातु = धारण करे, स्थापित करे, प्रदान करे ।

अनुवाद— जिस पृथिवी की चार प्रमुख दिशाएँ हैं, जिस पर अन्न और खेतियां (फसलें) उत्पन्न होती हैं, जो प्राण धारण करने वाले और गतिशील (जगत्) को अनेक प्रकार से धारण करती है, वह पृथिवी हमें गायों और अन्न में स्थापित करे (अर्थात् हमें गाएँ और अन्न प्रदान करें) ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

पदपाठ— यस्याम् । पूर्वे । पूर्वऽजनाः । विचक्रिरे । यस्याम् । देवाः । असुरान । अभिऽअवर्तयन् । गवाम् । अश्वानाम् । वयसः । च । विऽस्था । भगम् । वर्चः । पृथिवी । नः । दधातु ॥

अन्वय— यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः विचक्रिरेः यस्यां देवाः असुरान् अभ्यवर्तयन् । पृथिवी गवाम् अश्वानां वयसः च विष्ठा, नः भगं वर्चः दधातु ।

पदार्थ— यस्याम् = जिस पर । पूर्वे = प्राचीन । पूर्वजनाः = पूर्वजों ने । विचक्रिरे = विचरण किया था, विशिष्ट कर्म किये थे । यस्याम् = जिस पर । देवाः = देवताओं ने । असुरान् = असुरों को । अभ्यवर्तयन् = आक्रमणपूर्वक भगा दिया । पृथिवी = पृथिवी । गवाम् = गायों का । अश्वानां = अश्वों का । वयसः च = और पक्षियों का । विष्ठा = निवास-स्थान (है) । नः = हमें । भगम् = ऐश्वर्य । वर्चः = तेज । दधातु = धारण करे, प्रदान करे ।

अनुवाद— जिस (पृथिवी) पर (हमारे) प्राचीन पूर्वजों ने विशिष्ट कर्म किये, जिस पर देवताओं ने असुरों को आक्रमणपूर्वक भगा दिया, (जो) पृथ्वी गायों, अश्वों और पक्षियों का निवास-स्थान है, (वह पृथिवी) हमें ऐश्वर्य (और) तेज प्रदान करे ।

व्याकरण—

१. विचक्रिरे – वि + √कृ (करना) + आत्मनेपद लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
२. अभ्यवर्तयन् – अभि + √वृ + णिच् + लङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
३. विष्ठा – वि + √स्था + क ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्नि-
मिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

पदपाठ— विश्वम्ऽभरा । वसुऽधानी । प्रतिऽस्था । हिरण्यऽवक्षा । जगतः । निवेशनी ॥ वैश्वानरम् । विभ्रती । भूमिः । अग्निम् । इन्द्रऽऋषभा । द्रविणे । नः । दधातु ॥

अन्वय— विश्वंभरा, वसुधानी, प्रतिष्ठा, हिरण्यवक्षा, जगतः निवेशनी, इन्द्रऋषभा भूमिः वैश्वानरम् अग्नि बिभ्रती नः द्रविणे दधातु ।

पदार्थ— विश्वम्भरा = सभी (संसार) का भरण-पोषण करने वाली । वसु-धानी = धन को धारण करने वाली । प्रतिष्ठा = (सभी को) स्थित (खड़े) होने के स्थान वाली । हिरण्यवक्षा = स्वर्ण की वक्षस्थल वाली, (अपने) हृदय में स्वर्ण को धारण करने वाली, स्वर्ण है हृदय में जिसके ऐसी । जगतः = उत्पन्न होने वाले (प्राणियों) को । निवेशनी = आराम (विश्राम) देने वाली । इन्द्रऋषभा = इन्द्र द्वारा रक्षित । भूमिः = पृथिवी । वैश्वानरं = वैश्वानर नामक । अग्निं = अग्नि को । विभ्रती = धारण करती हुई । नः = हम लोगों को । द्रविणे = धन में । दधातु = प्रतिष्ठित (स्थापित करे) ।

अनुवाद— सभी (संसार) का भरण-पोषण करने वाली, धन को धारण करने वाली, (सभी के) स्थित (खड़े) होने के स्थान वाली, (अपने) हृदय में सुवर्ण को धारण करने वाली, उत्पन्न होने वाले (प्राणियों) को आराम (विश्राम) देने वाली तथा इन्द्र द्वारा रक्षित पृथिवी वैश्वानर (नामक) अग्नि को धारण करती हुई हम लोगों को धन में प्रतिष्ठित (स्थापित) करे (अर्थात् हम लोगों को धन प्रदान करें) ।

व्याकरण—

१. विश्वम्भरा – विश्वं भरतीति या सा विश्वम्भरा ।
२. वसुधानी – वसु + √धा + ल्युट् + ङीप् ।
३. हिरण्यवक्षा – हिरण्यं वक्षे यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।
४. निवेशनी – नि + √विश् + ल्युट् + ङीप् ।
५. विभ्रती – वि + भृ + शतृ + ङीप् ।
६. इन्द्रऋषभा – इन्द्रः ऋषभः यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहा-
मथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

पदपाठ— याम् । रक्षन्ति । अस्वप्नाः । विश्वऽदानीम् । देवाः । भूमिम् । पृथिवीम् । अप्रऽमादम् ॥ सा । नः । मधु । प्रियम् । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ॥

अन्वय— यां पृथिवी भूमिम् अस्वप्नाः देवाः विश्वदानीम् अप्रमादं रक्षन्ति सा (पृथिवी) नः प्रियं मधु दुहाम् अथो वर्चसा उक्षतु ।

पदार्थ— यां = जिस । पृथिवीं = फैली हुई, विस्तृत । भूमिं = भूमि को । अस्वप्नाः = (कभी भी) न सोने वाले । देवाः = देवगण । विश्वदानीं = सर्वदा । अप्रमादं = प्रमाद रहित होकर । रक्षन्ति = रक्षा करते हैं । सा = वह (पृथिवी) । नः = हम लोगों के लिए । प्रियं = प्रिय । मधु = मधु को । दुहाम् = चुवाये । अथो = और । वर्चसा = तेज से । उक्षतु = सिञ्चित करें ।

अनुवाद— जिस विस्तृत भूमि की (कभी भी) न सोने वाले देवगण सर्वदा प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं वह (पृथिवी) हम लोगों के लिए प्रिय मधु को चुवाये और तेज से सिञ्चित करें (अर्थात् हमें प्रिय मधु और तेज प्रदान करें)।

व्याकरण—

१. रक्षन्ति – √रक्ष् + लट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

२. विश्वदानीम् – विश्व + √धा + ल्युट् + ङीप् । सायण ने इसे क्रियाविशेषण माना है ।
३. दुहाम् – √दुह् लोट्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचन ।
४. उक्षतु – √उक्ष् लोट, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्
यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योऽमन्
सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं
राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

पदपाठ— **या । अर्णवे । अधि । सलिलम् । अग्रे । आसीत् । याम् । मायाभिः । अनुऽअचरन् । मनीषिणः ॥ यस्याः । हृदयम् । परमे । विऽओमन् । सत्येन । आऽवृतम् । अमृतम् । पृथिव्याः ॥ सा । नः । भूमिः । त्विषिम् । बलम् । राष्ट्रे । दधातु । उत्ऽतमे ॥**

अन्वय— या अग्रे अर्णवे सलिलम् अधि आसीत् याम् मनीषिणः मायाभिः अन्वचरन्, यस्याः पृथिव्याः सत्येन आवृतम्, अमृतं हृदयं परमे व्योमन् सा भूमिः न बलं त्विषि उत्तमे राष्ट्रे दधातु ।

पदार्थ— या = जो । अग्रे = पहले । अर्णवे = समुद्र में । सलिलम् अधि = जल के अन्दर । आसीत् = थी । याम् = जिसे । मनीषिणः = मनीषियों ने । मायाभिः = बुद्धि द्वारा । अन्वचरन् = अन्वेषण किया, प्राप्त किया । यस्याः पृथिव्याः = जिस पृथिवी का । सत्येन आवृतम् = सत्य द्वारा अच्छादित । अमृतम् = अमर । हृदयं = हदय । परमे व्योमन् = सर्वोच्च आकाश में । सा = वह । भूमिः = पृथिवी । नः = हमें । बलम् = बल । त्विषिम् = तेज । उत्तमे राष्ट्रे = उत्तम राष्ट्र में । दधातु = प्रतिष्ठित (स्थापित) करे ।

अनुवाद— जो पृथिवी पहले (प्रारम्भ में) समुद्र में जल के अन्दर थी, जिसे मनीषियों (विद्वानों) ने (अपनी) बुद्धि द्वारा प्राप्त किया, जिस पृथिवी का सत्य द्वारा आच्छादित अमर हृदय सर्वोच्च आकाश में (स्थित है) वह पृथ्वी हमें बल और तेज (प्रदान करे) तथा हमें उत्तम राष्ट्र में प्रतिष्ठित (स्थापित) करे ।

व्याकरण—

१. अन्वचरन् – अनु + √चर् + लङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन ।
२. व्योमन् – 'व्योम्नि' का वैदिक रूप, सप्तमी, एकवचन ।

यस्यामापः परिचराः समानी-
रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो-
दुहा मथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

पदपाठ— **यस्याम् । आपः । परिऽचराः । समानीः । अहोरात्रे इति । अप्रमा-दम् । क्षरन्ति । सा । नः । भूमिः । भूरिऽधारा । पयः । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ॥**

अन्वय— यस्यां परिचरा आपः समानी अहोरात्रे अप्रमादम् क्षरन्ति । भूरिधारा सा भूमिः नः पयः दुहाम् अथो वर्चसा उक्षतु ।

पदार्थ— यस्याम् = जिस (पृथिवी) पर । परिचराः = चारों ओर विचरण करने वाले । आपः = जल । समानीः = समान रूप से । अहोरात्रे = दिन-रात । अप्रमादम् = प्रमादरहित, निर्बाधरूप से । क्षरन्ति

= बहते हैं, प्रवाहित होते हैं। भूरिधारा = अनेक धाराओं वाली। सा भूमिः = वह पृथिवी। नः = हमें। पयः = दुग्ध, जल। दुहाम् = प्रदान करे। अथो = और। वर्चसा = तेज से। उक्षतु = सम्पृक्त करे, अभिषिञ्चित करे, सींच दे।

अनुवाद— जिस पृथिवी पर चारों ओर विचरण करने वाला जल समान रूप से रात-दिन निर्बाधरूप से प्रवाहित होते हैं, अनेक धाराओं वाली वह पृथिवी हमें दुग्ध (जल) प्रदान करे तथा हमें तेज से सम्पृक्त करे (सींच दे)।

व्याकरण—

१. दुहाम् – √दुह् + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. उक्षतु – √उक्ष् (सींचना) + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

यामश्विनावभिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमि विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

पदपाठ— **याम्। अश्विनौ। अभिमाताम्। विष्णुः। यस्याम्। विऽचक्रमे ॥ इन्द्रः। याम्। चक्रे। आत्मने। अनमित्राम्। शचीऽपतिः ॥ सा। नः। भूमिः। वि। सृजताम्। माता। पुत्राय। मे। पयः ॥**

अन्वय— याम् अश्विनौ अभिमाताम्, यस्यां विष्णुः विचक्रमे, यां शचीपतिः इन्द्र आत्मने अनमित्राम् चक्रे, नः सा पृथिवी माता मे पुत्राय पयः विसृजताम्।

पदार्थ— याम् = जिस (पृथिवी) को। अश्विनौ = अश्विनीकुमारों ने। अभि-माताम् = नापा। यस्याम् = जिस पर। विष्णुः = विष्णु ने। विचक्रमे = डग भरा। याम् = जिसे। शचीपतिः = इन्द्राणी के स्वामी। इन्द्रः = इन्द्र ने। आत्मने = अपने (हित के) लिए। अनमित्राम् = शत्रुरहित। चक्रे = कर दिया। नः = हमारी। सा = वह। माता = माता। भूमिः = पृथिवी। मे पुत्राय = मुझ पुत्र के लिए। पयः = दूध। विसृजताम् = छोड़े, प्रदान करे।

अनुवाद— जिस (पृथिवी) को अश्विनीकुमारों ने नापा, जिस पर विष्णु ने (अपना) डग भरा (पादन्यास किया), जिसे इन्द्राणी (अथवा शक्ति) के स्वामी इन्द्र ने अपने (हित के) लिए शत्रुरहित कर दिया; वह हमारी पृथिवी माता मुझ पुत्र के लिए दूध प्रदान करे (जैसे माता पुत्र को दूध देती है हमें उसी प्रकार दूध दे।)

व्याकरण—

१. अभिमाताम् – अभि + √मा + लङ्, प्रथमपुरुष, द्विवचन।

२. विचक्रमे – वि + √क्रम् + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

३. चक्रे – √कृ + लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

४. वि सृजताम् – वि + √सृज् + लोट्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

अभ्यास—(१) निम्नलिखित मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए—

(क) सत्यं बृहदृतमुग्रं................................१

(ख) यस्या पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे.....................५

(ग) विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा.......................६

(घ) यामश्विनावभिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे.........१०

(१) निम्नलिखित पर व्याकरणात्मक टिप्पणी लिखिए—

(क) कृणोतु। (ख) राध्यताम्। (ग) एजत्।

(घ) विचक्रिरे। (ङ) व्योमन्।

MAST -101
वैदिक वाङ्मय

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

खण्ड
2
निरूक्त एवं उपनिषद

इकाई- 7

निरूक्त केनोपनिषद एवं वैदिक वाङ्मय का सामान्य अध्ययन 165

इकाई- 8

निरूक्त प्रथम अध्याय 1-5 पाद व्याख्या 172

इकाई- 9

केनोपनिषद् - व्याख्या एवं बोध प्रश्न 206

इकाई- 10

वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों का सामान्य परिचय एवं बोध प्रश्न 214

इकाई- 11

केनोपनिषद् - आरण्यकों एवं उपनिषदों तथा वेदाङ्गों का सामान्य परिचय एवं बोध प्रश्न 227

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

पाठ्य-सामग्री निर्धारण समिति

प्रो. पी0डी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. जी0 आर0 पाण्डे	आचार्य, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. सोमनाथ नेने	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. यू0 पी0 सिंह	आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो. आर0 सी0 पाण्डा	आचार्य, विद्याधर्म विज्ञान संकाय (बी0एच0यू0)
डॉ0 राममूर्ति चतुर्वेदी	रीडर, काशी विद्यापीठ
डॉ0 अच्छे लाल	प्रवक्ता, संस्कृत, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सम्पादक

प्रो0 मुरली मनोहर पाठक	आचार्य, संस्कृत विभाग, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ0 राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लेखक

प्रो0 राममूर्ति चतुर्वेदी	उपाचार्य (संस्कृत विभाग), महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नही है।

प्रकाशक- उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार , कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष - 2023.

मुद्रक - के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी , मथुरा - 281003.

खण्ड-दो : निरूक्त एवं उपनिषद

इस पाठ्यक्रम में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड को दो भागों में विभक्त किया गया है। द्वितीय खण्ड में पाँच इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में निरूक्त, केनोपनिषद् एवं वैदिक वाङ्मय का सामान्य अध्ययन का परिचय है। दूसरी इकाई में निरूक्त के प्रथम से पाँच पाद तक की व्याख्या की गई है। तीसरी इकाई में केनोपनिषद् की व्याख्या एवं बोध प्रश्न दिये गए हैं। चौथी इकाई में वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों का सामान्य परिचय दिया गया है। पाँचवी इकाई में केनोपनिषद् आरण्यकों एवं उपनिषद् तथा वेदाङ्गों का सामान्य परिचय दिया गया है।

इकाई -07 निरूक्त केनोपनिषद् एवं वैदिक वाङ्मय का सामान्य अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. पाठ्यक्रम साहित्य का सामान्य अध्ययन
5. बोध प्रश्नोत्तर

7.1 उद्देश्य

इस इकाई में आप एम० ए० प्रथम वर्ष (संस्कृत) के खण्ड दो में निर्धारित पाठ्यक्रमों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

इस इकाई में मुख्यत: तीन ग्रन्थों का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा, जिनके नाम हैं, निरूक्त, केनोपनिषद, एवं वैदिक वाङ्मय।

7.3 इकाई की परिधि

इस इकाई में निरुक्त के प्रथम अध्याय के पांच पाद तक, तथा केनोपनिषद् सम्पूर्ण, एवं वैदिक वाङ्मय में प्रमुख मन्त्रसंहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक एवं उपनिषद् तथा वेदाङ्गों का सामान्य परिचय रखा गया है।

7.4 पाठ्यक्रम साहित्य का सामान्य अध्ययन

वेदों का अध्ययन की परिपूर्णता उनके सम्यक् उच्चारण एवं अर्थवबोध के द्वारा मानी जाती है, और इन्हीं उद्देश्यों के पूरक एवं सहायक ग्रन्थों को वेद का अंग अर्थात् वेदाङ्ग माना जाता है। वेदाङ्गों की संख्या संस्कृत साहित्य में छ: बतलायी गयी है, उसमें निरुक्त ग्रन्थ भी एक वेदाङ्ग है, वेद के अंगों की कल्पना में यह श्रोत स्थानीय अंग माना जाता है 'निरुक्त श्रोत्रमुच्यते' इसके द्वारा वेद के अर्थ का अच्छी तरह अवबोध सम्पन्न किया जाता है। वेदार्थवबोध के लिए निरुक्त अत्यन्त उपकारक एवं सहायक वेदाङ्ग कहा जाता है।

7.5 निरूक्त का सामान्य परिचय

निरुक्त वस्तुत: निघण्टु-ग्रन्थ का व्याख्यान ग्रन्थ है, अत: निरुक्त को जानने के पहले निघण्टु ग्रन्थ को जानना आवश्यक होता है। प्राचीन काल में वेद के मन्त्रों में कुछ पदों का अर्थावबोध कठिन प्रतीत होता था, जिससे वेदार्थ करने में अत्यन्त कठिनाई होती थी, अत: कश्यपादि अतिप्राक्तन महर्षियों द्वारा वेदों से कठिन पदों का संग्रह किया गया, तथा बाद में संग्रहीत पदों की वेदानुकूल व्याख्या की गयी, जिससे वेदार्थवबोध

करने में उत्तरवर्ती अध्येताओं को सरलता होने लगी।

वेदों से निकाल-निकाल एकत्र संग्रहीत किये गये वैदिक कठिन पदों के संग्रह का नाम ही निघण्टु रखा गया, तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा निघण्टु पदों की जो व्याख्या की गयी, उसी व्याख्यान-ग्रन्थ को ''निरूक्त'' के नाम से अभिहित किया गया, समय प्रवाह से अनेक आचार्यों ने निघण्टु ग्रन्थ पर अपनी-अपनी व्याख्यायों को, परन्तु सम्प्रति जो निरूक्त प्राप्त होता है, वह यास्क कृत निरुक्त माना जाता है, जो निरूक्तकारों की शृंखला में चौदहवें निरूक्तकार माने जाते हैं।

यास्क कृत निरूक्त में कुल 12 अध्याय प्राप्त होते हैं, बाद में परिशिष्ट के रूप में 13, 14वें अध्याय को भी जोड़ दिया गया; जिसमें मन्त्रों के आधेयज्ञ, अधिदैव, एवं आध्यात्म तीन प्रकार-के अर्थों का विनिश्चय किया गया है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में निरूक्त का प्रथम अध्याय रखा गया है। प्रथम अध्याय में कुल छः पाद पाये जाते हैं। पाठ्यक्रम की सरलता एवं सुगमता की दृष्टि से पञ्चम पाद तक ही पाठ्य विषय रखा गया है। प्रत्येक पाद का पाठ्यविषय यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है, फिरभी सभी पादों का आन्तरिक सम्बन्ध है, जिसे जानकर हम निरूक्तकार के आशय से परिचित हो सकते हैं, यहाँ पादों के क्रम से उनका वर्ण्य विषय प्रस्तुत किया जाता है।

7.5.1 प्रथम पाद

प्रथम पाद में सबसे पहले निघण्टु शब्द पर विचार किया गया है, वैदिक कठिन पदों का शब्द कोश कहे जाने पर नाम-आख्यात-उपसर्ग और निपात चार प्रकार के पदों का विभाजन दिखलाकर उनके लक्षण एवं उदाहरण बतलाये गये हैं। भाव को क्रिया का दूसरा अभिधान बतलाते हुए उनके जायते-अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, इन छः प्रकार के विकारों का विचार किया गया है, इसी पाद में उपसर्गों के वाचकत्व एवं द्योतकत्वपक्ष का निरूपण दर्शाते हुए आचार्य गार्ग्य एवं शाकटायन के मतों का उल्लेख किया गया है।

7.5.2 द्वितीय पाद

द्वितीय पाद में निपातों का लक्षण और स्वरूप बतलाया गया है, तथा सम्पूर्ण निपातों को निम्नलिखित तीन संवर्गों में विभाजित का वैदिक मन्त्रों में उनके लक्षण दिखलाये गये हैं, पहला उपमार्थक निपात, दूसरा कर्मोपसंग्रहात्मकनिपात तथा तीसरा पद पूरणार्थक निपात।

7.5.3 तृतीय पाद

तृतीय पाद में यद्यपि निपातों के तीनों संवर्गों के लक्षण और उदाहरण द्वितीय पाद से प्रारम्भ किये गये हैं, परन्तु पदपूरणार्थ निपातों के विवेचन हेतु कुछ अव्यय पदों की चर्चा तथा उनके निपात-स्वरूप का विवेचन तृतीय पाद में किया गया है, मन्त्रों में आने वाले कुछ निपात पदों को अव्यय कोटि में नहीं माना गया है, क्योंकि उनका विभिन्न विभक्तियों में व्यय दिखलाया गया है।

7.5.4 चतुर्थ पाद

चतुर्थ पाद में नाम पदों के आख्यातज होने में अथवा न होने में दो आचार्यों तथा नैरूक्त एवं वैयाकरणों के मतों का विवेचन किया गया है। सभी नाम पद आख्यात से उत्पन्न होते हैं इस

के पोषक आचार्य-शाकटायन तथा प्राचीन निरुक्तकार हैं, जबकि कुछ वैयाकरण तथा आचार्य गार्ग्य के अनुसार सभी नाम पद आख्यात से उत्पन्न नहीं हो सकते हैं इस मत का विस्तार से विवेचन किया गया है।

7.5.5 पञ्चम पाद

पञ्चम पाद में वेदाध्ययन के लिए प्रथमतः निरुक्त के अध्ययन को आवश्यकता बतलायी गयी है, बिना निरूक्त के ज्ञान के मन्त्रों में अर्थज्ञान नहीं हो सकता है। मन्त्रों में आने वाले वैदिक पदों का भी सम्यक् अवबोध नहीं हो सकता, कठिन वैदिक शब्दों का निर्वचन जो अनवगत संस्कार होने के कारण व्याकरणादि ग्रन्थों से नहीं जाने जा सकते हैं, उनके भी अर्थ का ज्ञान कराने वाला निरुक्त ही होता है, अतः निरुक्त शास्त्र अपने उद्देश्य का साधक तथा व्याकरण शास्त्र का भी पूरक बतलाया गया है।

उपर्युक्त पांचों पदों का वर्ण्य विषय ही मुख्यतः पाठ्यांश के रूप में निर्धारित किया गया है, जिन्हें आगे के इकाईयों में विस्तार से निरूपित किया जायगा।

7.6 केनोपनिषद का सामान्य परिचय

मन्त्र और ब्राह्मण भाग दोनों को वेद पद से अभिहित किया जाता है, ईशावास्योपनिषद् को छोड़कर सभी उपनिषद् ब्राह्मण भाग के अंग हैं। केवल ईशावास्योपनिषद मन्त्रभाग का अंग है, प्रस्तुत केनोपनिषद् सामवेदीय शाखा के तवल्कार ब्राह्मण भाग का अंग माना जाता है, केनोपनिषद् के प्रथम मन्त्र के प्रथम पद को (केनेषितं प्रेरितं मनः) प्रतीक मानकर इसका नामकरण किया गया है। इसमें कुल चार खण्ड हैं, प्रारम्भ के दो खण्डों में सर्वाधिष्ठान विशुद्ध ब्रह्म के तात्विक स्वरूप का निर्देश विभिन्न लक्षण द्वारा बतलाया गया है, तत्पश्चात् अन्तिम दो खण्डों में ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये यक्षोपाख्यान द्वारा परमेश्वर का सर्वप्रेरकत्व एवं सर्वकर्तृत्व सिद्ध किया गया है, इसकी वर्णनशैली अत्यन्त उदात्त एवं गम्भीर है इसके मन्त्रों में प्रसाद गुण है जिसके पाठमात्र से हृदय में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है।

अन्य उपनिषदों की अपेक्षा केनोपनिषद की विशेष महत्ता है, क्योंकि भगवान आद्य शङ्कराचार्य ने एक ही सिद्धान्त की स्थापना के लिए इस दो प्रकार के भाष्य लिखे हैं, पहला केनोपनिषद् पदभाष्य, दूसरा केनोपनिषद् वाक्य भाष्य। उत्तरवर्ती कुछ टीकाकारों का मानना है कि सामवेदीय तवल्कार ब्राह्मण के इस केनोपनिषद् का पदभाष्य करके भी जब आद्य शङ्कराचार्य सन्तुष्ट नहीं हुये, तब पुनः उन्होंने युक्ति प्रधान श्रुतिवाक्यों के द्वारा श्रुति के तात्पर्य को बतलाने के लिए वाक्य भाष्य लिखा। इस प्रकार केनोपनिषद् के ऊपर पद भाष्य के पृथक् वाक्य भाष्य होने के कारण उपनिषदों में इसकी विशेष महत्ता बतलायी गयी है, पदभाष्य में मुख्यरूप से मूल मन्त्रों की पदशः व्याख्या की गयी है जबकि वाक्य भाष्य में पदशः व्याख्यान पर विशेष ध्यान न देकर श्रुति के तात्पर्य अर्थ को अनेकानेक युक्तियों से दर्शाया गया है, आगे की इकाई में केनोपनिषद् के दोनों भाष्यों को आधार मानकर उसका व्याख्यान किया जाएगा, जिससे परीक्षार्थी को अपने पाठ्यांश का भलीभांति परिज्ञान हो सके।

7.7 वैदिक वाङ्मय का सामान्य परिचय

वेद परमेश्वर की वाणी है, यह किसी पुरुष के द्वारा निर्मित ग्रन्थ नहीं है। प्राचीन काल के ऋषियों महर्षियों ने अपनी तपस्या से समाधिस्थ अवस्था में इनका साक्षात्कार किया था। उन्होंने पुनः अपने शिष्यों, प्रशिष्यों, पुत्रों एवं पौत्रों को उस अनुभूत ज्ञान राशि को प्रदान किया, प्रथमतः इस ज्ञान को श्रवणपरम्परा से सुरक्षित रखा गया, उत्तर-काल में ग्रहण एवं धारणा की क्षमता कम होने लगी, जिससे अध्ययन की सरलता हेतु उसे लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिन वेद शाखाओं को किसी कारण से लिपिबद्ध नहीं किया जा सका, वहीं शाखायें आज अनुपलब्ध दिखाई पड़ती है।

वेद का मौलिक अर्थ होता है ज्ञान, उस ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले आपौरुषेय शब्द राशि को भी वेद नाम से कहा जाता है। वस्तुतः वेद पहले त्रयी के रूप में एक ही था, त्रयी कहने का तात्पर्य है, कि उसमें गद्य, पद्य तथा गीत के अभिव्यञ्जक शब्द थे, परन्तु बाद में यज्ञ सौकर्म की दृष्टि से उसके चार भाग कर दिये गये जिनके नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद रखा गया।

वेद में प्रथमतः दो विभाग माने जाते हैं मन्त्र तथा ब्राह्मण, पुनः ब्राह्मण में तीन विभाग स्वीकार किये जाते हैं, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् वस्तुतः वेद की मूल शव्दराशि मन्त्र है, और ब्राह्मणादि उसी के व्याख्यान हैं, इस प्रकार प्रत्येक वेद में चार प्रकार का शाब्दिक विभाजन प्राप्त होता है, जिसे, मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद कहा जाता है, इन्हीं चारों विभागों में वैदिक वाङ्मय के नाम से कहा जाता है। आगे की इकाइयों में वेद के इन्हीं चारों भागों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी तथा इनके सहयोगी ग्रन्थ, जिसे वेदाङ्ग कहा जाता है, उन पर भी विस्तृत विवेचन किया जाएगा। सामान्यतः प्रत्येक वेद की अपनी मन्त्र संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् प्राप्त होते हैं, परिगणना की दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित रीति से जाना जा सकता है।

7.7.1 मन्त्र संहिता (शाखा)

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार वेदों कीकुल शाखायें कभी (1131) एक हजार एक सौ एकतिस के रूप में प्रचलित थीं, जिनमें ऋग्वेद की 21 शाखायें, यजुर्वेद की 101 शाखायें, सामवेद की 1000 शाखायें, तथा अथर्ववेद की 9 शाखायें मानी जाती थीं, परन्तु आज वे सभी शाखायें उपलब्ध नहीं होती हैं। ऐसा माना जाता है कि भारत पर बार-बार विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण करने तथा बहुत कालतक भारत के परतन्त्र रहने के कारण बहुत सी वेदशाखायें या तो पठन-पाठन के अभाव में लुप्त हो गयी, या तो उसकी गुणवत्ता एवं वैज्ञानिकता की जानकारी होने पर किसी विदेशी द्वारा चुरा ली गयी या तो बर्बर आक्रान्ताओं द्वारा नष्ट कर दी गयी।

सम्प्रति वेद की जो शाखायें उपलब्ध होती हैं उनकी कुल संख्या 13 हैं, जो निम्नलिखित नामों से जानी जाती हैं ऋग्वेद की दो शाखायें - (1) शाकल शाखा, (2) वास्कलशाखा। यजुर्वेद का कालान्तर में कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद के रूप में दो विभाजन हो गया, सम्प्रति कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें प्राप्त होती है। (1) तैत्तिरीयशाखा, (2) मैत्रायणी शाखा (3) कठशाखा (4) कपिष्ठल कठ शाखा, इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें प्राप्त होती हैं, (1)

काण्वशाखा, (2) माध्यन्दिन शाखा। सामवेद की अद्यतन तीन शाखा में प्राप्त होती हैं, (1) कौथुमी शाखा (2) जैमिनीय शाखा, (3) राणायणीय शाखा,अथर्ववेद की सम्प्रति दो शाखायें मिलती है (1) शौनक शाखा (2) पैप्लाद शाखा।

7.7.2 ब्राह्मण ग्रन्थ

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के अनुसार प्रत्येक वेद की सम्बद्धानुसार सम्प्रति ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या निम्नलिखित रूप में प्राप्त होती हैं।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ (1) ऐतरेय ब्राह्मण (2) शांखायन ब्राह्मण प्राप्त होते हैं। कृष्ण यजुर्वेद में केवल एक ब्राह्मण ग्रन्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण, तथा शुक्ल यजुर्वेद में भी केवल एक ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होता है। सामवेद में कुल आठ ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनके नाम हैं (1) ताण्डयब्रांह्मण (2) षड्विंश ब्राह्मण, (3) सामविधान ब्राह्मण (4) आर्षेयब्राह्मण (5) दैवत ब्राह्मण (6) उपनिषद् ब्राह्मण (7) संहितोपनिषद् ब्राह्मण, (8) वंश ब्राह्मण, अथर्ववेद में भी केवल एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ (1) गोपथ ब्राह्मण प्राप्त होता है।

7.7.3 आरण्यक ग्रन्थ

इसी प्रकार प्रत्येक वेद से सम्बन्धित आरण्यक भी प्राप्त होते थे जिसमें विविध प्रकार के उपासनाओं का गूढ़ रहस्य प्राप्त होता था, सम्प्रति ऋग्वेद के दो आरण्यक (1) ऐतरेयारणयक तथा (2) शांखायन आरण्यक प्राप्त होते हैं, कृष्ण यजुर्वेद का केवल एक तैत्तिरीय आरण्यक प्राप्त होता है, शुक्ल यजुर्वेद की उपलब्ध दोनों शाखाओं के ब्राह्मण ग्रन्थ में वृहदारण्यक नाम का आरण्यक प्राप्त होता है सामवेद तथा अथर्ववेद में कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता है, कुछ आचार्य तवत्कार आरण्यक को सामवेद से सम्बद्ध मानते हैं, परन्तु कुछ आचार्य इसे सामवेदीय जैमिनि शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण मानते हैं, तथा उसका अभिधान ''जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण'' के रूप में करते हैं।

7.7.4 उपनिषद् ग्रन्थ

वैदिक् वाङ्मय का चतुर्थ भाग उपनिषद् कहा जाता है, उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्म विद्या, उसी ब्रह्मविद्या के उपदेशक ग्रन्थ भी उपनिषद् नाम से जाने जाते हैं, वेद का अन्तिम भाग होने के कारण, तथा उसी में वेद का परम प्रतिपाद्य (ब्रह्म) का विस्तृत विवेचन प्राप्त होने के कारण उपनिषद् ग्रन्थों को वेदान्त के नाम से भी अभिहित किया जाता है। भारतीय दार्शनिक तत्वचिन्तन का मूल स्त्रोत इन्हीं उपनिषदों में हमें प्राप्त होता है। इसके अध्ययन से भारतीय संस्कृति के धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का पूर्ण परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सम्प्रति उपनिषदों की उपलब्धता एवं उनकी निश्चित संख्या के विषय में पर्याप्त मत भेद है, फिर भी मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गयी है, जिसमें प्रतिवेद से सम्बन्धित उपनिषद् निम्नलिखित संख्या में पाये जाते हैं।

ऋग्वेदीय उपनिषद् 10
शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् 19
कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् 12
सामवेदीय उपनिषद् 16
अथर्ववेदीय उपनिषद् 31

7.7.5 वेदाङ्ग

वेद के शाब्दिक एवं आर्थिक कलेवर की रक्षा में अत्यन्त उपयोगी एवं सहायक ग्रन्थों को वेदाङ्ग के नाम से जाना जाता है। इनकी संख्या मुख्यतः छः हैं, जिनके नाम है, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, एवं ज्योतिष प्रत्येक वेद शाखाओं की अपनी विशिष्ट उच्चारण परम्परा होने के कारण इनके शिक्षा ग्रन्थों में भी भिन्नता पायी जाती है इसी प्रकार यज्ञानुष्ठानों एवं संस्कार विधायक विधियों की विविधता के कारण उनके कल्प ग्रन्थों में भी अनेकता प्राप्त होती है। परन्तु शेष चार अङ्ग व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष सामान्यतः सभी वेदों के लिये समान रूप से परमावश्यक होने के कारण इनमें वेदानुसार विभिन्नता नहीं पायी जाती है, केवल शिक्षा तथा कल्प के ग्रन्थ प्रतिवेद के अनुसार भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। कल्पवेदाङ्ग के चार भाग बतलाये जाते हैं (1) श्रौतकल्प, (2) गृह्यकल्प, (3) शुल्बकला तथा (4) धर्मकल्प, इनके भी ग्रन्थ प्रतिवेद के अनुसार भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, जिनकी चर्चा नियत इकाईयों में की जाएगी।

7.7.6 बोध प्रश्नोत्तर

प्रश्न-1 निरूक्त में कुल कितने काण्ड प्राप्त होते हैं?

उत्तर- निरूक्त में कुल तीन काण्ड किये गये हैं। जिनके नाम हैं, नैघण्टुक काण्ड नैगम काण्ड तथा दैवत काण्ड।

प्रश्न-2 निरुक्त में अध्याय एवं पादों का विभाजन किस प्रकार किया गया है?

उत्तर- निरुक्त के तीनों काण्डों को बारह अध्यायों में विभाजित किया गया है, तथा उनमें पादों की संख्या निम्नलिखित रूप में पायी जाती है।

प्रथम अध्याय - में	छ : पाद	सप्तम अध्याय में	सात पाद
द्वितीय अध्याय में	सात पाद	अष्टम अध्याय में	तीन पाद
तृतीय अध्याय में	चार पाद	नवम अध्याय में	चार पाद
चतुर्थ अध्याय में	चार पाद	दशम अध्याय में	चार पाद
पञ्चम अध्याय में	चार पाद	एकादश अध्याय में	चार पाद
षष्ठ अध्याय में	छः पाद	द्वादश अध्याय में	चार पाद

प्रश्न-3 केनोपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है?

उत्तर- केनोपनिषद् सामवेदीय तवल्कार शाखा से सम्बन्धित है।

प्रश्न-4 केनोपनिषद् में कुल कितने खण्ड हैं ?

उत्तर- केनोपनिषद् में कुल चार खण्ड हैं।

प्रश्न-5 आर्षेय ब्राह्मण किस वेद से सम्बन्धित है?

उत्तर- आर्षेय ब्राह्मण सामवेद से सम्बन्धित है।

प्रश्न-6 शतपथ ब्राह्मण किस वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है?

उत्तर- शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ माना जाता है।

प्रश्न-7 अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ का क्या नाम है?

उत्तर- अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम ''गोपथ- ब्राह्मण'' है।

प्रश्न-8 ऐतरेय ब्राह्मण किस वेद से सम्बद्ध है?

उत्तर- ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बद्ध है।

प्रश्न-9 सामवेद में कुल कितने ब्राह्मण ग्रन्थ पाये जाते हैं?

उत्तर- सामवेद में कुल आठ ब्राह्मण ग्रन्थ पाये जाते हैं।

प्रश्न-10 बृहदारण्यक किस पेड़ का आरण्यक ग्रन्थ माना जाता है?

उत्तर- बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक ग्रन्थ माना जाता है।

प्रश्न-11 'तैत्तिरीयोपनिषद्' किस वेद का उपनिषद् ग्रन्थ है?

उत्तर- तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद का उपनिषद् ग्रन्थ है।

प्रश्न-12 वेदाङ्गों की कुल कितनी संख्या है?

उत्तर- वेदाङ्गों की कुल संख्या छः बतलायी गयी है।

प्रश्न-13 शुल्बसूत्र किस वेदाङ्ग के अन्तर्गत आता है?

उत्तर- शुल्बसूत्र कल्प नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत माना जाता है।

इकाई -8 निरूक्त प्रथम अध्याय 1-5 पाद तक व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. नियत पाद व्याख्या
5. बोध प्रश्नोत्तर

8.1 उद्देश्य

इस इकाई में आप एम० ए० प्रथम वर्ष (संस्कृत) के खण्ड दो में निर्धारित पाठ्यक्रमों से परिचित हो जाने के बाद क्रमशः अपने पाठ्य ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर सकते हैं।

8.2 प्रस्तावना

नियत पाठ्यक्रमों में सबसे पहले निरुक्त शास्त्र का परिचय कराया जा चुका है, प्रस्तुत इकाई में निरुक्त शास्त्र के नियत भाग की व्याख्या प्रस्तुत की जाएगी।

8.3 इकाई की परिधि

इस इकाई में निरुक्त शास्त्र के प्रथम अध्याय के एक से पांच पादों तक की व्याख्या की जाएगी, जिसमें सबसे पहले मूल संस्कृत के वाक्यों को दर्शाया जाएगा। तदन्तर उनके तात्पर्य अर्थ को व्याख्या के रूप में हिन्दी भाषा के माध्यम से उपस्थित किया जाएगा। अतिरिक्त प्रासंगित तथ्यों ५० विशेष सन्दर्भ में दिखलाया जाएगा।

8.4 नियत पाद व्याख्या

प्रथमोऽध्याय :

8.4.1 अथ प्रथमः पादः

मूल - **समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्य :।**

हिन्दी- समाम्नायः - गो शब्द से लेकर देव पत्नी शब्द तक निघण्टु में पठित वैदिक शब्दों का समूह **समाम्नातः -** पुरातन ऋषियों महर्षियों के द्वारा पहले से ही एकात्रित किया गया है। **स व्याख्यातव्यः** उस एकत्रित किये गये वैदिक शब्द समूह की व्याख्या की जानी चाहिए।

विशेष- निघण्टु ग्रन्थ वैदिक शब्दों का संग्रहात्मक शब्दकोष है, आचार्य यास्क ने निघण्टु ग्रन्थ पर अपनी व्याख्या की है, निघण्टु पर की गयी व्याख्या का नाम निरुक्त है, निरूक्तकार यास्क अपने ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में पूर्व ऋषियों द्वारा संग्रहीत वैदिक शब्द कोष निघण्टु पर व्याख्या करने की प्रतिज्ञा उपर्युक्त वाक्य द्वारा करते हैं।

मूल - तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।

हिन्दी- गो शब्द से लेकर देवपत्नी शब्द पर्यन्त वैदिक शब्द संग्रह को समाम्नाय शब्द से कहा गया है, और उसी समाम्नाय को आचार्यगण निघण्टु नाम से अभिहित करते हैं।

मूल - निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति।

हिन्दी- प्राक्तन ऋषियों के द्वारा संग्रहीत वैदिक शब्द संग्रह को निघण्टु शब्द से अभिहित क्यों किया जाता है? क्योंकि **इमे -** ये वैदिक शब्द **निगमा भवन्ति -** निगम अर्थात् वेद ही होते हैं, वेद के मन्त्रों का निश्चयात्मक बोध कराने के कारण निगम कहे जाते हैं, वे निगम ही संग्रहीत हो जाने पर निघण्टु नाम से कहे जाते हैं।

मूल- छन्दोभ्य : समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः।

हिन्दी- क्योंकि ये गवादि देवपत्न्यत्त वैदिक शब्द **छन्दोभ्यः-** वेदों के मन्त्रों से **समाहृत्य समाहृत्य -** निकाल, निकाल कर **समाम्नाताः** एकत्रित किये गये हैं। वहीं एकत्रित वैदिक शब्द संग्रह ही निघण्टु ग्रन्थ है।

मूल- तेनिगन्तव एव सन्तो निगमनाभिघण्ट व उच्यन्त इत्यौपमन्य वः।

हिन्दी- विभिन्न वैदिक मन्त्रों से एकत्रित किये गये वे गो आदि शब्द निश्चय पूर्वक मन्त्रार्थ का बोध कराने के कारण निगन्तु कहे जाते हैं, तथा निगन्तु शब्द ही वर्णागम वर्णविपर्यम आदि लक्षणों द्वारा अतिपरोक्ष वृत्ति में निघण्टु कहा जाता है ऐसा महर्षि उपमन्यु के शिष्य आचार्य औपमन्यव का अभिमत है।

विशेष- निरूक्तशास्त्र के विवृत्तिकार आचार्य दुर्ग के अनुसार वैदिक शब्दों में तीन प्रकार की वृत्तियां पायी जाती हैं, जिन्हें प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति अतिपरोक्षवृत्ति के नाम से कहा जाता है। प्रत्यक्ष वृत्तिवाले शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट दिखाई पड़ता है, परोक्षवृत्तिवाले शब्दों में प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता है परन्तु अनुमेय होता है, जिससे शब्दार्थ सार्थक हो जाता है, परन्तु अतिपरोक्षवृत्ति वाले शब्दों में प्रकृति प्रत्यय, अन्तर्लीन होता है, जिससे क्रियार्थ अथवा शब्दार्थ अविज्ञात रहता है, वैदिक शब्द प्रायः अतिपरोक्षवृत्ति में पाये जाते हैं, उन्हें अतिपरोक्ष वृत्ति से परोक्षवृत्ति में तथा परोक्षवृत्ति से प्रत्यक्षवृत्ति में लाकर शब्दार्थ का बोध कराया जाता है। यहाँ निघण्टु शब्द भी अति परोक्षवृत्ति में पाया जाता है, वहीं परोक्ष वृत्ति में निगन्तु तथा प्रत्यक्षवृत्ति में निगमयिता शब्द से व्ययहृत होता है, इसी प्रत्यक्ष वृत्ति से निघण्टु पद का अर्थ किया जाता है = मन्त्रों का निश्चयपूर्वक अर्थ बोध कराने वाला वैदिक शब्द। पुनः परोक्षवृत्ति का निगन्तु शब्द ही अतिपरोक्षवृत्ति में निघण्टु कहा जाता है।

मूल- अपि वाऽहननादेवस्युः समाहृताः भवन्ति।

हिन्दी- अथवा दूसरे प्रकार से भी निघण्टु शब्द का निर्वचन किया जा सकता है, वह आहनन क्रिया अर्थात् पठनक्रिया के योग से ही निघण्टु के पञ्चाध्यायों में एकमिति किये गये शब्द समाहत कहे जाते हैं, अर्थात् समाहता भवति को पठिता भवति भी कहा जा सकता है।

विशेष- 'समाहन्तु' पद में दो उपसर्ग सम् तथा आ है क्रियावाची धातु हन् घातु गति अर्थात् अथवा पाठ के अर्थ में प्रयुक्त है, दोनों उपसर्ग सम् एवं आ के स्थान पर 'नि' उपसर्ग लाया गया है तथा ह के स्थान पर घ तथा 'त' के स्थान पर 'ट' वर्ण लाकर निघण्टु शब्द निष्पन्न किया जा सकता है। हन् धातु पाठ के अर्थ में बहुत्र देखा जाता है,जैसे सूत्रे इदमाहतम ब्राह्मणे प्याहतम् इत्यादि वाक्यों का अर्थ सूत्र में ऐसा पढ़ा गया है, ब्राह्मणग्रन्थ में भी ऐसा पढ़ा गया

है, किया जाता है। अतः 'निघण्टु' यह नामकरण केवल निगमन के कारण ही नहीं, अपितु पञ्चाध्यायी में पठन के कारण भी माना जा सकता है।

मूल- **यद्वा समाहृता भवन्ति।**

हिन्दी- अथवा सम् आङ् पूर्वक 'हृ' हरणे घातु से भी 'निघण्टु' शब्द का निष्पादन किया जा सकता है, क्योंकि गो ग्याक्ष्मा आदि शब्द वेदों से समाहृत किये गये होते हैं इसी समाहरण क्रिया के योग से 'समाहर्तु' शब्द कालक्रम से समाहन्तु तथा उपसर्ग और वर्ण का व्यपत्य हो जाने पर निघण्टु कहा जाने लगा।

विशेष- 'निघण्टु' शब्द वैदिक शब्दकोष के लिये प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु वैदिक शब्द कोष का भी संकलन कभी ऋषियों द्वारा किया गया था, इसी का संकेत निघण्टु शब्द के निर्वचन में तीन हेतु बतलाकर किया गया है, निगमन समाहनन, तथा समाहरण के कारण क्रमशः निगन्तु, समाहन्तु और समाहर्तु का नाम निघण्टु पड़ गया, यहाँ गम् धातु से एक तथा हन् एवं हृ धातु से दो-दो उपसर्ग लगाकर निघण्टु के मूल प्रकृति को निष्पन्न किया गया है।

मूल- **तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।**

हिन्दी- लोक और वेद में प्रसिद्ध नाम-आख्यात, उपसर्ग और निपात इन्हीं चार पदों का संग्रह निघण्टु ग्रन्थ में भी किया गया है।

विशेष- यास्काचार्य ने पदों को गिनाने के लिए चत्वारिपदानि नहीं कहा, अपितु चत्वारि पदजातानि कहा है वहाँ पद जातानि का तात्पर्य है कि नाम आदि पदों में अनेक प्रविभाग होने के कारण उनकी अपनी अलग जाति हो जाती है, जैसे सुबन्त पदों में पुलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग की विभिन्नता होने पर भी वे नाम पद ही कहे जाते हैं। इसी प्रकार आख्यात पद में भी कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाव वाच्य की विभिन्नता देखी जाती है, तथापि वे आख्यात पद ही कहे जाते हैं, इसी प्रकार प्र, परा, अप, सम् आदि उपसर्गों में तथा च, इव, नू, किल आदि निपातों में शब्दतः एवं अर्थतः विभिन्नता पायी जाती है, तथापि वे सभी उपसर्ग एवं निपाद पद से कहे जाते हैं, इसीलिए पदानि न कहकर पदजातानि कहकर उन सभी प्राविभागों एवं विभिन्न जाति को भी ग्रहण किया गया है।

पुनः ग्रन्थकार ने 'चत्वारि पद जातानि' को बतलाने के लिए दो-दो पदों के अलग-अलग समुदायों का उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि नाम और आख्यात् पद उपसर्ग तथा निपात की अपेक्षा किये बिना अर्थाभिधान में समर्थ होते हैं, अतः उनकी प्रधानता होने के कारण उन्हें प्रथमतया उपात्र किया गया, उपसर्ग और निपात नामाख्यात की अपेक्षा रखते हैं, अतः सापेक्ष होने के कारण नामाख्यात पदों के गिनाने के बाद उन्हें उपात्त किया गया है। पुनः 'नामाख्याते' पद में द्वन्द्व समास द्वारा द्विवचनान्त अभिधान किये जाने का तात्पर्य यह है कि नाम और आख्यात इतरेतराकांक्षी हैं, उनमें भी अल्पाच् होने के कारण प्रथम अभिहित है, तथा कर्तृ वाक्यार्थ का आश्रय लेने के कारण आख्यात का अभिधान बाद में किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय समुदाय ''उपसर्ग निपाताश्च'' पद में भी द्वन्द्व समास द्वारा बहुवचनान्त अभिधान किया गया है जिसका तात्पर्य वह है कि उपसर्ग और निपात् नाम और आख्यात पदों के विशेष अर्थो का द्योतन समान रूप से करते हैं, अतः दोनों में अर्थविशेष द्योतकत्व रूप समान कार्य कारित्व धर्म होने के कारण अलग समुदाय किया गया। उपसर्ग यतः आख्यात् के सहयोगी होते हैं अतः आख्यात के अनन्तर उनका अभिधान किया गया,

तथा सर्वान्त में चतुर्थ पद निपात का अभिधान किया गया।

मूल- **तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति ।**

हिन्दी- निघण्टु ग्रन्थ में नाम और आख्यात का लक्षण आचार्यगण इस प्रकार बतलाते हैं।

मूल- **भाव प्रधानमाख्यातं सत्व प्रधानानि नामानि।**

हिन्दी- भाव = क्रिया है प्रधान जिसमें वह पद आख्यात कहा जाता है, तथा सत्व = द्रव्य है प्रधान जिसमें वह पद नाम कहा जाता है।

विशेष- ग्रन्थकार के कथन का आशय वह है कि जिस पद में क्रिया की प्रधानता हो तथा कारकादि गौण हों उसे आख्यात समझना चाहिए, किन्तु जिस पद में लिङ्ग संख्या वचनादि से युक्त द्रव्य की प्रधानता हो, तथा क्रिया गौण हो उसे नाम समझना चाहिए। आख्यात जैसे पचति पठति भुक्ते, शेते आदि, नाम जैसे, पुरुषः रमा, धनम् आदि।

मूल- **तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः।**

हिन्दी- जहाँ पर दोनों (नाम और आख्यात) होते हैं वहाँ आख्यात = क्रिया की प्रधानता होती हैं, जैसे रामः पठति इस वाक्य में नाम-राम तथा आख्यात पठति है, यहाँ पठति क्रिया की प्रधानता है, नाम तो उस क्रिया के सम्पादनार्थ अङ्गभूत है।

मूल- **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।**

हिन्दी- किसी क्रिया के आरम्भ से लेकर उसकी समाप्ति तक पौर्वापर्यरूप से अवस्थित यावन्मात्र क्रिया को व्रजति, पचति आदि आख्यात पद से कहा जाता है।

विशेष- उपक्रम का अर्थ है प्रारम्भ तथा अपवर्ग का अर्थ है समाप्ति। यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि कोई क्रिया जब प्रारम्भ की जाती है, वहाँ से लेकर जब तक वह समाप्त नहीं हो जाती है तब तक एक ही आख्यात पद से वह कही जाती है, यद्यपि उसके मध्य में अवान्तर छोटी-छोटी क्रियायें भी होती रहती हैं परन्तु वे गौण होने के कारण प्रधान आख्यात् पद की वाच्य नहीं होती हैं। जैसे राम विद्यालय जाता है इस वाक्य में आख्यात् पद 'गच्छति' है। अर्थात् राम निष्ठ गमन क्रिया,वह घर से प्रारम्भ होकर विद्यालय तक समाप्त होती है, इसके मध्य राम द्वारा अनेकांनेक अन्य क्रियायें भी की जाती हैं जैसे-किसी को प्रणाम करना, किसी से कुछ पूँछना, रास्ते में गाना, हंसना, पुकारना, विवाद करना, दौड़ना आदि, परन्तु ये सब गौण क्रियायें मानी जाती गमन क्रिया ही प्रधान मानी जाती है।

मूल- **मूर्त सत्त्वभूतं सत्त्वनामनिर्वज्या पक्तिरिति।**

हिन्दी- कभी कभी आख्यात भी सिद्धावस्था में मूर्त रूप में परिणत होकर सत्व के रूप में दिखाई पड़ता है, अर्थात् द्रव्य के लिंग संख्या वचनादि गुणों से युक्त होकर व्यवहृत होने लगता है, जैसे व्रज्या और प्रक्तिः।

विशेष- व्रजन अर्थात् गमन जहाँ सिद्ध हो गया है उसे व्रज्या पद से कहा जाता है, इसी प्रकार पाक अर्थात् पकाना जहाँ पूर्ण हो गया है, उसे पक्ति पद से कहा जाता है, व्रज्या का तात्पर्य अर्थ है यात्रा तथा पक्ति का निहितार्थ है रसोई। व्रज्या और पक्ति पदों के मूल में भाव ही निहित है, परन्तु ''कृदनिहितो भावों द्रव्यवत् प्रकाशते'' कृदन्त प्रत्यय से अभिहित भाव द्रव्य की तरह प्रकाशित होता है, इस नियम से व्रज्या और पक्ति पाद नाम पद के रूप में माने जाते हैं।

मूल- **'अद' इति सत्त्वानामुपदेशः गौरश्वः पुरूषो हस्तीति।**

हिन्दी- सामान्यतः सभी नाम पदों का कथन अदः = यह इस सामान्य वचन से हो जाता है, परन्तु पदार्थ विशेष का उपदेश तो विशेष शब्द से ही हो पाता है, जैसे किसी सत्त्व भूत द्रव्य के लिये सामान्यत यह प्रश्न किया जा सकता है कि "किमदः" = यह क्या है? इसके उत्तर के समय सत्त्वभूत द्रव्य में लिङ्गादि का विचार अवश्य किया जाता है तब कहना पड़ता है, अयं गौः, अयं अश्वः, अयं पुरुष = अयं हस्ती, परन्तु, नाम के स्त्री होने पर इयं गौ, इयं अश्वा इयं नारी, इयं हस्तिनी, तथा नाम के नपुंसकलिंग होने पर इयं पुष्पं, इदं पुस्तकं आदि विशेष शब्द का प्रयोग करना पड़ता है।

मूल- **भवतीति भावस्य, आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति।**

हिन्दी- भवति = होता है, यह सामान्य भाव अर्थात् आख्यात् का उपदेश समझना चाहिये, कहीं कोई भी क्रिया होती है, उसकी जानकारी के लिए सर्वतः प्रथम यही प्रश्न किया जाता है किं भवति? क्या हो रहा है इसके उत्तर में आख्यात पद प्रयुक्त होता है, उसके प्रसंगानुसार - जैसे आस्ते = यह बैठा है, शेते = वह सो रहा है। ब्रजति = वह जा रहा है, तिष्ठति = वह खड़ा है। इस प्रकार भवति = होता है यह क्रिया का सामान्य उपदेश है, तथा बैठा है सोया है आदि विशेष क्रिया का उपदेश समझना चाहिए।

मूल- **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते।**

हिन्दी- आचार्य उदम्बर के तरुण पुत्र औदम्बरायण ऐसा मानते हैं कि जब तक नाम आदि पद वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित होते हैं, तावत्काल पर्यन्त ही ये नित्य रहते हैं, तदुपरान्त वे विनष्ट हो जाते हैं, अतः किसी वाक्य में 'नाम-आख्यात - उपसर्ग - निपात' इन चारों की अवस्थिति नहीं हो सकती है, तथा उच्चरित पद विनष्ट हो जाते हैं और अनुच्चरित पद अविनष्ट रहते हैं, अतः दोनों विनष्ट तथा अविनष्ट पदों का संयोग सम्भव न होने के कारण नामादि पद चतुष्टय की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

मूल- **अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेश :।**

हिन्दी- पूर्व वाक्य से 'नोपपद्यते' इतना वाक्यांश आगामी वाक्यों में अनुवर्तित समझना चाहिए। अतः क्रमशः उत्पन्न होने वाले नामादि पदों में जो एक दूसरे के प्रति परस्पर गुण - प्रधान भाव की कल्पना की जाती है, वह भी उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द के आभ विनाश शाली होने कारण परस्पर गुण - प्रधानभाव असम्भव है।

मूल- **शास्त्रकृतो योगश्च।**

हिन्दी- व्याकरणादि शास्त्रों द्वारा विहित एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध भी उपपन्न नही हो सकता है क्योंकि शब्द के अनित्य होने से दो शब्दों का सहअस्तित्व सम्भव नहीं है।

विशेष- शब्द को अनित्य मानने वाले आचार्यों के पक्ष से औदुम्बरायण का यह कथन किया गया है कि शब्द मुख से उच्चारित होते ही विनष्ट हो जाते हैं अतः आगामी उच्चारणीय शब्दों के साथ उनका सम्बन्ध नहीं किया जा सकता, गुण और प्रधानभाव की कल्पना, तथा व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रकृति और प्रत्यय का सम्बन्ध भी नहीं किया जा सकता है। नाम और आख्यात के सहायस्थान में आख्यात की प्रधानता तथा नाम पदों की गौणता स्वीकार की गयी है, प्रकृति कहीं पर धातु तथा कहीं पर प्रातिपदिक माना जाता है, उससे पर में प्रत्यय का सम्बन्ध शाब्दिकों को स्वीकार्य है, उपर्युक्त समस्याओं का समाधान शब्द नित्यत्ववादियों के पक्ष से ग्रन्थकार द्वारा दिया जा रहा है।

मूल- व्याप्तिमत्वान्तु शब्दस्य।

हिन्दी- शब्द के व्याप्तिमान् अर्थात् नित्य होने से पूर्वपक्ष में उपस्थापित समस्त समस्याओं का समाधान हो जाता है। सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निरसन करता है, शब्द का व्याप्तिमत्त्व ही उसका नित्यत्व है।

विशेष- 'शब्द गुणकमाकांश' इस न्याय से आकाश गुणवाला माना जाता है, अर्थात् जैसे आकाश नित्य तथा सर्वव्याप्त है वैसे ही शब्द भी नित्य एवं व्यापक है, शब्द के व्याप्तिमान् होने से ही 'नामाख्यातोपसर्ग निपात' शब्दों में इतरेतरोपदेशरूप प्रधानोपसर्जनभाव तथा शास्त्र द्वारा किया गया प्रकृति प्रत्यय का सम्बन्ध भी सम्पन्न हो जाता है, और शब्दानित्यत्ववादी पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाता है।

शब्द के व्याप्तिमान होने में एक गूढ़ अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ दोनों नित्य माने जाते हैं क्योंकि इन दोनों के बीच वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नित्य माना जाता है, अतः शब्द, अपने अर्थ के साथ आकाश में नित्य विद्यमान रहता है, वही शब्द हमारे हृदयान्तर्गताकाश में भी नित्य विद्यमान रहता है, अन्तःकरण में प्रतिष्ठित वृद्धि विवक्षानुसार प्रथमतः अर्थ को ग्रहण करती है, तथा वह अर्थ जिस शब्द में नित्य समवेत रहता है, शब्द को उच्चारित करने के लिये मन को प्रेरित करती है, मन उस अर्थ समेत शब्द को उच्चारित करने के लिये वायु को प्रेरित करता है, वह वायु अर्थयुक्त शब्द को उच्चारित करने के लिये वक्ता के मुख के कण्ठ ताल्वादि स्थानों से संघषित होता हुआ वर्ण के रूप में उच्चरित होता है, उसीक्षण श्रोता अपने श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से इन्हीं शब्दों में ग्रहण करता हुआ अपने हृदयाकाश में ले जाता है, वहाँ अन्तः करण में प्रतिष्ठित बुद्धि, शब्द समवेत अर्थ को ग्रहण कर मन द्वारा श्रोता के चैतन्य को अर्थ का बोध करा देती है, यह कार्य इतना शीघ्र हो जाता है कि इसमें काल की मात्रा का आकलन नहीं हो पाता, आशय यह है कि शब्द नित्य होने के कारण अमिधान-अभिधेय उभयस्वरूप वाला होता हुआ पुरुषभेद से शब्दात्मना-उच्चरित तथा अर्थात्मना गृहीत होता हैं, यही शब्द का व्याप्तिमत्त्व माना जाता है।

मूल- अणीयस्त्वाच्य शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

हिन्दी- व्याप्तिमान शब्द अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, उनकी सूक्ष्मता तथा व्याप्तिमत्ता के कारण ही उनके द्वारा लोक में - नामकरण तथा व्यवहारादि किय जाता है।

विशेष- यद्यपि लोक का व्यवहार हाथ हिलाने तथा नेत्र के निभीलनोन्मीलनादि के द्वारा भी किया जा सकता है फिरभी गुरुमुख से उच्चरित शब्द को पुनः उसी रूप में शिष्य द्वारा उच्चारित किये जाने का व्यवहार उक्त हस्त कम्पनादि अभिनयों से नहीं हो सकता, यतः हस्त-नेत्रादि के संकेतों की अपेक्षा शब्द अत्यन्त सूक्ष्म तथा व्याप्तिमान होते हैं अतः उन्हीं के द्वारा लोक व्यवहार किया जा सकता है।

मूल- तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

हिन्दी- उन नाम-आख्यातोपसर्ग निपात पदों की शक्ति मनुष्यों की तरह देवताओं का भी अभिधान करने में समर्थ है।

विशेष- नामाख्यातादि पद जैसे मनुष्यों को अर्थबोध कराते हैं वैसे ही देवताओं के लिये भी बोधकराने में समर्थ होते हैं, अतः यज्ञानुष्ठानादि व्यवहारों में शब्द द्वारा ही हविप्रदान तथा शब्द द्वारा आशीर्वादकामना की जाती है।

मूल- पुरुष विद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

हिन्दी- पौरुषेय ज्ञान के अनित्य तथा अनिश्चित होने के कारण कर्मफल प्रतिपादक ऋग्वेदादि मन्त्र नित्य शब्दराशि के रूप में वेद में समाम्नात हैं।

विशेष- मनुष्य की तरह देवता में भी शब्दव्यवहार की समानता स्वीकार किये जाने पर भी वेदमन्त्रों के शब्दों की नित्यता स्थिर एवं निश्चित है, क्योंकि अनभ्यास और तपोदौर्वल्य के कारण पुरुष अपने वाक्य रचना को भी भूल जाता है, परन्तु वेद के मन्त्रों में कर्मस्मारकत्व एवं देवतास्मारकत्व गुण होने के कारण वे यज्ञानुष्ठानादि क्रर्मों को भूलने नहीं देते हैं यही उन मन्त्रगत शब्दों की नित्यता एवं निश्चयता मानी जाती है।

'भाव विकार निरुपणम्'

मूल- षड्भाव विकारा भवन्तीति वार्स्यायणिः। जायते आस्ति, विपरिणमते, बर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति॥

हिन्दी- 'भवतीतिभावस्य' के द्वारा बतलाया जा चुका है कि जो कुछ होता है उसे भाव कहते हैं, उसी भाव के छः प्रकार के विकार होते हैं, ऐसा आचार्य वार्ष्यायणि मानते हैं, पहला जायते - अर्थात् उत्पन्न होना, दूसरा अस्ति अर्थात् आस्तित्व में आना (नाम रूप ग्रहण करना) तीसरा-विपरिणमते अर्थात् परिणमित होना (अपने मूल स्वरूप से परिवर्तित होना) चौथा वर्द्धते अर्थात् बढ़ना, पांचवां अपक्षीयते अर्थात् अपक्षीण होना, छठा-विनश्यति अर्थात् विनष्ट हो जाना।

मूल- जायति इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमा चष्टे, न प्रतिषेधति।

हिन्दी- जायते नामक प्रथम भावविकार, पूर्व के अनेक भावों में आदिभूत प्रधानभाव को ही मात्र कहता है, दूसरे आस्ति नामक भावविकार को न तो कहता है, न उसका प्रतिषेध ही करता है क्योंकि उत्पत्ति की दशा में उत्पद्यमान वस्तु की स्थिति परिपूर्ण न होने से अस्तित्व न तो बतलाया जा सकता है न तो उसका निषेध ही किया जा सकता है।

मूल- अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्।

हिन्दी- आस्ति नामक द्वितीय भाव विकार उत्पन्न वस्तु के आस्तित्व मात्र को बतलाता है, वह न तो अपरभाव विपरिणाम को कहता है और न तो उसका प्रतिषेध ही करता है।

मूल- विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्।

हिन्दी- 'विपरिणमते' यह तृतीय भाव विकार अपने मूल स्वरूप से विगलित न होते हुए भी किञ्चित् विकार अर्थात् परिवर्तन को बतलाता है, अगले भाव विकार 'वर्द्धते' के अर्थ को न तो बतलाता न निषेध ही करता है।

मूल- वद्धते इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानाम्, वर्द्धते विजयेनेति वर्द्धते शरीरेणेति वा।

हिन्दी- वर्द्धते (बढ़ता है) यह चौथा भाव विकार, अपने शारीरिक अङ्ग- शिर-कण्ठ, बाहू, उदर, आदि के विकास को बतलाता है, तथा दैनिक उपयोगी वस्तुओं एवं हिरण्यादि धनों के सम्वर्धन को कहता है। इसके लिये उदाहरण दिया गया है कि वह विजय से आगे बढ़ता है, अथवा शरीर के अवयवों के पुष्ट होने से बढ़ता है। इस प्रकार यह भाव विकार भी आगामी अपक्षीयते वाले भाव विचार को न तो कहता है न उसका निषेध ही करता है।

मूल- **'अपक्षीतये' इत्यनेनैव व्याख्यातः प्रतिलोभम्।**

हिन्दी- अपक्षीयते नामक पांचवा भाव विकार, अपने पूर्वभाव विकार-वर्द्धते के विपरीत वस्तु के ह्रास को बतलाता है, जिस प्रकार शारीरिक अङ्गों के द्वारा शरीर का विकास, अथवा सांयोगिक द्रव्यों से सम्वर्धन से किसी का विजय दिखाई पड़ता है उसी प्रकार अपक्षीयते भाव विकार से उसका क्रमिक क्षरण ह्रास भी होता है यह भाव विकार भी आगामी भाव विकार को न तो करता है न उसका निषेध ही करता है।

मूल- **विनश्यतीत्यपरभावमाचष्टे न पूर्वभावमाचस्टे न प्रतिषेधति।**

हिन्दी- विनश्यति (नष्ट होना) यह छठा भाव विकार अन्तिम अनेक भावों में आदिभाव को कहता है, अपने से पूर्व ह्रास रूप भाव-विकार को न तो कहता है न ही उसका निषेध करता है।

मूल- **अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह।**

हिन्दी- अन्य आचार्यों के मत में वार्ण्यायणि के इन छः भावविकारों के अतिरिक्त भी कतिपय भाव विकार माने जाते हैं, यास्क ने बतलाया कि इन छः के अतिरिक्त भाव विकारों को इन्हीं छः में ही यथायोग्य अन्तर्भूत समझ लेना चाहिए। जैसे - जायते के अन्तर्गत - निष्पद्यते, अभिव्यज्यते, आविर्भूयते प्रकाशते, अस्ति के अन्तर्गत - विद्यते, वर्तते, भवति आदि विपरिणामते के अन्तर्गत - जीर्य्यते, विकसते आदि वर्द्धते के अन्तर्गत -पुष्पयति, उपचीयते, सम्बर्द्धने आदि अपक्षीयते के अन्तर्गत - ध्वंस्यते, भ्रंस्यते, ग्लायते, ह्रस्यते आदि विनश्यति के अन्तर्गत - निलीयते, विलीयते, म्रियते आदि।

मूल- **ते यथा वचनमभ्यूहितव्याः।**

हिन्दी- जायते आदि षड्भावविकारों को ही सर्वत्र प्रकरणानुसार तर्क एवं युक्ति के बल से निश्चय कर लेना चाहिए।

उपसर्ग निरुपणम्

मूल- न निर्वद्धा उपसर्ग अर्थान्निराहुरिति शाकंटायनः।

हिन्दी- नाम अथवा आख्यात के समीप में रहकर उन्हीं के अर्थ को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाले शब्द उपसर्ग कहे जाते हैं। ये उपसर्ग, नाम अथवा आख्यात के साथ आवद्ध न होने पर किसी भी अर्थ को नहीं कर सकते हैं ऐसा आचार्य शाकटायन का मानना है।

मूल- **नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।**

हिन्दी- नाम अथवा आख्यात के साथ संयुक्त होकर ही उपसर्ग, उनके अर्थ विशेष को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं, स्वतन्त्रयता इनका कोई अर्थ नहीं होता है, अतः ये नामाख्यात के अर्थों के द्योतक माने जाते हैं। उपसर्गों के सम्बन्ध में आचार्य शाकटापन का यही द्योतकत्व पक्ष माना जाता है।

मूल- **उच्चवचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः।**

हिन्दी- आचार्य गर्ग के मतानुयायी निरुक्तकार आचार्य गार्ग्य के अनुसार उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ भी होता है वह केवल नाम और आख्यात पदों से साथ संयुक्त होकर उनके अर्थ का द्योतन ही नहीं करते हैं, अपितु अपने-स्वतन्त्र्य वाच्पार्थ के द्वारा उनमें अर्थवैशिष्ट्य उत्पन्न कर देते हैं, उपसर्गों के सम्बन्ध में आचार्य गार्ग्य का यही वाचकत्व पक्ष माना जाता है।

मूल- **तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्याततयोरर्थ विकरणम्।**

हिन्दी- उपसर्गों का अपना जो स्वतन्त्रय अर्थ है वही अर्थ, नाम और आख्यात् के साथ संयुक्त होने

पर भी रहता है, परन्तु समवेत होने पर अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देता है। अतः दोनों स्थितियों में (संयुक्त, असंयुक्त) उपसर्गों को अर्थ विशेष का वाचक माना जाता है, जिसे निरुक्तकार ने निम्नलिखित रूप में दर्शाया है।

मूल- **आ इत्यवागर्थे।**

हिन्दी- 'आ' उपसर्ग का अर्वाक् = (पहले) के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, आगमनम्, आगच्छति, आपर्वतात्, अहिमालयात् इत्यादि इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मूल- **प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।**

हिन्दी- 'प्र' तथा 'परा' ये दोनों उपसर्ग पूर्वोक्त 'आ' उपसर्ग के प्रतिलोम (विपरीत) अर्थ को प्रकट करते हैं, जैसे प्रगतः परागतः इत्यादि।

मूल- **अमीत्याभिमुख्यम्।**

हिन्दी- 'अभि' इस उपसर्ग का आमिमुख्य-सम्मुख अर्थ होता है, जैसे अभ्यागतः, अभिमतः आदि।

मूल- **प्रतीत्येतस्य प्रातिलान्यम्।**

हिन्दी- 'प्रति' नामक यह उपसर्ग 'अभि' उपसर्ग के प्रतिलोम-विपरीत अर्थ को प्रकट करता है। जैसे- प्रतिकूलः, प्रतिलिपिः, प्रतिगत इत्यादि।

मूल- **अति सु इत्यभिपूजितार्थे।**

हिन्दी- 'अति' और 'सु' ये दोनों उपसर्ग सम्मान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे अतिधनः सुब्राह्मण अतिमेधावी, अतिशेते, अतिक्रमति, स्वागतम् इति।

मूल- **निर्दुरित्येतयोः प्रतिलोम्यम्।**

हिन्दी- 'निर' और 'दुर' ये दोनों उपसर्ग सम्मानार्थ के प्रतिलोम-विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं, जैसे निर्धनः, दुर्ब्राह्मण, निर्याति, आदि।

मूल- **न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ।**

हिन्दी- 'नि' और 'अव' ये दोनो उपसर्ग विनिग्रह-नियन्त्रण अर्थ को प्रकट करते हैं जैसे निगृह्णाति अवगृह्णाति आदि।

विशेष- दो अथवा दो से अधिक पदों का वाक्यात्मना उच्चारण करना विग्रह कहलाता है, पुनः अर्थ विशेष को बतलाने के लिए दोनों पदों का अलग-अलग उच्चारण करना अवग्रह कहलाता है, निग्रह और अवग्रह से शब्द तथा अर्थ पर नियन्त्रण किया जाता है, अतः विनिग्रह-नियन्त्रण के अर्थ को प्रकट करने वाले दोनों उपसर्ग बतलाये गये हैं।

मूल- **उदित्येतयोः प्रतिलोम्यम्।**

हिन्दी- 'उत' यह उपसर्ग पूर्व में कहे गये 'नि' और 'अव' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को बतलाया है, जैसे- उद्गृह्णाति, उत्तिष्ठति, उत्थापयति, उत्क्षेपणम् उल्लेखः इत्यादि।

मूल- **समित्येकीभावम्।**

हिन्दी- अनेक पदार्थों को एक जगह या एक समान बनाना ही एकीभाव कहलाता है, 'सम्' यह उपसर्ग उसी एकीभाव के अर्थ को प्रकट करता है, जैसे संगृह्णाति, संस्कारोति, सम्मानः, सन्देशः इत्यादि।

मूल- **व्यपेत्येतस्य प्रतिलोम्यम्।**

हिन्दी- 'वि' और 'अप' ये दोनों उपसर्ग पूर्व में कहे गये 'सम्' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को प्रगट करते हैं, जैसे-विगृह्णाति,अपगृह्णाति, विरोधः,अपवादः, विवाद; विवदति, अपवदति इत्यादि।

मूल- अन्विति सादृश्यापरभावम्।

हिन्दी- 'अनु' यह उपसर्ग सादृश्य के अपरभाव को अथवा सादृश्य तथा अपरभाव दोनों के अर्थ को यथा प्रसंग प्रकट करता है, जैसे अनुगच्छति, अनुकरोति, अनुरज्जति, अनुगमनं अनुवादः, अनुरागः, अनुकूलः, अनुरूपम् इत्यादि।

मूल- अपीति संसर्गम्।

हिन्दी- 'अपि' यह उपसर्ग दो पदों के परस्पर सम्बन्ध को बतलाता है, संसर्ग सम्बन्ध को कहते हैं, वह सम्बन्ध, जो सम्बन्धी से भिन्न हो, जैसे सर्पिषोऽपि स्यात्, मधुनोऽपि स्यात् इन वाक्यों में अपि उपसर्ग के बल से सम्बन्धी आज्य अथवा मधु के विन्दु का बोध होता है।

मूल- उपेत्युपजनम्।

हिन्दी- 'उप' यह उपसर्ग सामीप्य अथवा आधिक्य अर्थ को प्रकाशित करता है, जैसे उपगंगम्, उपजायते इत्यादि।

मूल- परीति सर्वतो भावम्।

हिन्दी- 'परि' यह उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ को प्रकट करता है, जैसे परिधावति, परिपालयति विष्णुर्जगत् इत्यादि।

मूल- अधीत्युपरिभाव मैश्वर्य वा।

हिन्दी- 'अधि' यह उपसर्ग उच्च भाव तथा ऐश्वर्यभाव को प्रकाशित करता है, जैसे अधितिष्ठति लोकं, अधिभुविरामः, इसी प्रकार अधिपतिः, अध्यक्षः इत्यादि।

मूल- एवमुच्चावचानंर्थान्प्राहुस्त उपेक्षितव्याः।

हिन्दी- इस प्रकार उपर्युक्तरूप से उपसर्गों के विभिन्न अर्थों को आचार्यों ने बतलाया है, उन अर्थों को अच्छी तरह, जानना चाहिए, अर्थात् कौन उपसर्ग किस अर्थ में प्रयोक्तव्य होता है, इसकी अच्छी तरह परीक्षा करके ही उसका प्रयोग करना चाहिए।

इति प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

8.4.2 अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

मूल- अथ निपाताः उच्चावचेष्वर्थेषु नियतन्ति।

हिन्दी- उपसर्ग के विवेचन के अनन्तर निपात के विषय में बतलाया जाता है, अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है।

मूल- अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः।

हिन्दी- सामान्यतः तीन अर्थों में निपातों का वर्गीकरण किया जाता है, पहला-उपमार्थक निपात, दूसरा-अर्थविशेष संग्रहात्मक निपात, तीसरा-पदपूरणार्थक निपात।

विशेष- उपमार्थक निपात प्रायः लोक-वेद में समान रूप से प्राप्त होता है,निरुक्तशास्त्र में कर्म शब्द अर्थ का समान वचन (पर्याय) माना जाता है, अतः कर्मोपसंग्रह का तात्पर्य है, अर्थोपसंग्रह। तीसरे प्रकार के निपात केवल पद एवं पाद पूर्ति में अक्षर गणना की- दृष्टि से सहायक होते

हैं, उसका स्वयं का कोई अर्थ नहीं होता है।

मूल- **तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति।**

हिन्दी- निपातों में इव, न, चित्, नू ये चार प्रकार के निपात प्रायः उपमार्थक माने जाते हैं, अर्थात् मन्त्रों में इनका प्रयोग उपमा के लिये किया गया प्राप्त होता है।

मूल- **इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। अग्निरिवेन्द्र इवेति।**

हिन्दी- उपमार्थक चार निपातों में 'इव' निपात लौकिक संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत दोनों में उपमा के लिए ही प्रयुक्त होता है, लोक में जैसे-अग्निरिव तीक्ष्णः - आग्नि के समान तेज, इन्द्ररिव विक्रान्तः - इन्द्र के समान पराक्रमी आदि। वेद में- अग्निरिव मन्यो लिषितः सहस्व-अर्थात् हे मन्यो! अग्नि के समान तेजयुक्त होकर हमारे शत्रुओं को पराभूत करो।

मूल- **नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्।**

हिन्दी- निषेध का ही दूसरा अभिधान प्रतिषेध है, अतः लौकिक संस्कृत भाषा में 'न' यह निपात निषेधार्थक प्रयुक्त होता है। जैसे-घटोनास्ति, पटो नास्ति इत्यादि।

मूल- **उभयमन्वध्यायम्।**

हिन्दी- अन्वाध्याय वेद को कहते हैं, वेद में 'न' यह निपात दोनों अर्थों (प्रतिषेध तथा उपमा) में प्रयुक्त होता है। जिसका उदाहरण क्रमशः यहाँ दिया जाता है।

मूल- **'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति।**

हिन्दी- 'नेन्द्रं देवममंसत' इति ऋचा में 'न' यह निपात प्रतिषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका प्रतिषेध किया जाता है। उसके पहले 'न' के प्रयोग का नियम है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि निषेधार्थक 'न' निपात का प्रयोग मन्त्रों के पादादि में प्रयुक्त होता है।

मूल- **'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीयः, उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपनिमीते।**

हिन्दी- दुर्मदासो न सुरायाम्- सुरापान करने के उपरान्त मदान्वित पुरुषो की तरह सभी सोमपायी भी अहमहनिका से अपने को विशिष्ट कहने लगे। प्रस्तुत मन्त्र में 'न' निपात् का प्रयोग उपमा के अर्थ में किया जाता है, जिस शब्द के साथ उपमा दी जाती है, उस शब्द के बाद में उपमार्थक 'न' का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् उपमार्थक 'न' का प्रयोग मन्त्र के मध्य में प्रयुक्त होता है।

मूल- **चिदित्येषोऽनेककर्मा।**

हिन्दी- निरुक्तशास्त्र में सर्वत्र कर्म शब्द से अर्थ समझना चाहिए, अनेककर्मा का तात्पर्य है, अनेकार्थक,। चित् यह निपात निपात यद्यपि अनेकार्थक, तथापि यहाँ उपमार्थक होने के कारण उपमा वाले निपात के साथ पढ़ा गया है। चित् के अनेकार्थता को आगामी पंक्तियों में दर्शाया जाता है।

मूल- **आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्।**

हिन्दी- आचार्य ही ऐसा कह सकते हैं, दूसरा नहीं इस अर्थ को कहने वाले ''आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्'' वाक्य में 'चित्' निपात सम्मान (पूजा) के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका तात्पर्य है कि आचार्य के अतिरिक्त दूसरा कोई इस दुरुह विषय का प्रतिपादन नहीं कर सकता है, अतः 'चित्' निपात द्वारा आचार्य की महत्ता एवं पूजनीयता प्रकट होती है।

उदाहरणीय वाक्य में आचार्य शब्द के आ जाने से ग्रन्थकार यास्क आचार्य पद का निर्व न करते हैं।

मूल- **आचार्यःकस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति, अचिनोत्यर्थान् अचिनो ति बुद्धि मिति वा।**

हिन्दी- आचार्य पद कैसे निष्पन्न होता है? इसका समाधान बतलाते हुए निरुक्तकार आचार्य पद का निर्वचन करते हैं, आचार्य वह कहा जाता है जो अपने शिष्यों को आचार-सदाचार ग्रहण कराता है, अर्थात् सिखाता है जो शब्दों के अनेक प्रकार के अर्थों का चयन करता है, जो शिष्यों के विभिन्न स्तरीय बुद्धि का चयन करता है तथा तदनुसार उन्हें बुद्धि प्रदान करता है।

विशेष- गुरू ज्ञान प्रदान करने वाले को कहते हैं ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता भी गुरू के द्वारा शिष्य में प्रथमतः लाई जाती है, प्राचीन काल में गुरुकुल में प्रविष्ट ब्रह्मचारी का यज्ञोपवीत-वेदारम्भ-समावर्तन आदि संस्कार जिस गुरू के द्वारा प्रदान किया जाता था, उसे ही आचार्य कहा जाता था, स्मृतिकार मनु द्वारा बतलाये गये आचार्य लक्षण में उक्त सभी भावों का समावेश देखा जा सकता है।

उपनीय तु यः शिष्य वेदमध्यापयेद् गुरुः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।

मूल- **दधिचिदित्युपमार्थे।**

हिन्दी- "दधिचित्' इस वैदिक पद में 'चित्' निपात-उपमा के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ दधि की तरह।

मूल- **कुल्माषाँश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति।**

हिन्दी- अवकुत्सित का अर्थ है अतिनिन्दित। 'चित्' निपात का प्रयोग अतिनिन्दित अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जिसका उदाहरण है-"कुल्माषान् चित् आहार" इसका भाव यह है कि कोई अतिथि किसी निर्धन आतिधेय से कहता है कि यदि तुम्हारे घर में आतिथ्य के लिए शुद्ध पवित्र अन्न नहीं है तो अतिनिन्दित-उपेक्षित अन्न कणों को हां ले आवो। कुल्माष उन अन्नकणों को कहते हैं जो घर में उपेक्षित पड़े रहते हैं। सबल अन्नों के समूह से निष्प्राण अन्नों को पृथक कर दिया जाता है, जो घर के कोने में पड़े पड़े दुःखी होते हैं।

मूल- **'नु' इत्येषोऽनेक कर्मा।**

हिन्दी- 'नु' नाम का निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जिसका उदाहरण ग्रन्थकार मूल-पंक्तियों में देते हैं।

मूल- **इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे।।**

हिन्दी- अपदेश का अर्थ है कथन, हेतु के कथन में 'नु' निपात का प्रयोग किया जाता है, प्रस्तुत उदाहरण का तात्पर्य अर्थ है कि वह इस कारण से यह प्रसक्त कार्य करेगा।

मूल- **कथन्तु करिष्यतीत्यनुपृष्टे, नन्वेतदकार्षीदिति च।**

हिन्दी- 'नु' यह निपात किसी प्रश्न के वाद किये जाने वाले प्रतिप्रश्न के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे - ''कथन्नु करिष्यति' इस वाक्य के पहले का प्रश्न है क्या कोई इस कार्य को कर सकता है, (काश्चित् कार्यमिदं कुर्यात्) तदुपरान्त कैसे कोई कर सकता है? यह अनुप्रश्न है, इसी अनुप्रश्न में 'नु' का प्रयोग किया गया है। पुनः इसी प्रकार 'ननु' निपात का भी प्रयोग अनुप्रश्न अर्थ में किया जाता है, जैसे कोई प्रश्न करे किं वह इस कार्य को कैसे कर लेगा, इस पर दूसरा कोई उत्तर देवे कि क्योंकि नहीं कर लेगा। इसके पहले भी ऐसा कार्य वह किया'' यही अनुप्रश्न है।

मूल- **अथाप्युपमार्थे भवति।**

हिन्दी- और भी यह 'नु' निपात उपमा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जिसका उदाहरण अग्रिम वाक्य में दिया जा रहा है।

मूल- **'वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवयाः' वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। वयाः शाखाः। वेतेर्वातायना भवन्ति। शाखा खशयाः, शक्नोति वी॥**

हिन्दी- 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया'' (ऋ0 4/6/17/3) मन्त्र में "नु' निपात उपमार्थक है, मन्त्र का अर्थ है कि हे-पुरुहूत-बहुतों के द्वारा बुलाये जाने वाले इन्द्र। तुम्हारी रक्षात्मक क्रियायें वृक्ष की शाखा के समान चारों तर फैल रही हैं, क्या-शाखा को कहते हैं, क्योंकि वह निरन्तर हिलती डुलती रहती है, तथा वह वायु के प्रभाव से चारों तरफ घूमती है, अतः इसे वातायना भी कहते हैं, शाखा शब्द खशया शब्द के विपर्यास से बनता है, आकाश में शयन करने के कारण शाखा-खशया कही जाती है, अथवा शक्ल् शक्तौ धातु से क को ख होने पर शाखा शब्द निष्पन्न हो जाता है, क्योंकि आकाश में रहती हुयी ये शाखायें वृक्ष से मूल से अपनी जीवनी शक्ति प्राप्त करने का सामर्थ्य रखती है।

मूल- **अथापि समुच्चयार्थे भवाति।**

हिन्दी- यहाँ 'वा' निपात का अनुवर्तन किया गया है, वह 'वा' निपात समुच्चय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जिसका उदाहरण आगे मूल में दिया जा रहा है।

मूल- **''वायुर्वात्वा मनुर्वात्वा'' इति**

हिन्दी- वायुवात्वा मनुर्वात्वा (य0वेद 9/7) मन्त्र में 'वा' चकार के अर्थ में प्रयुक्त है 'च' निपात प्रायः समुच्च अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः 'वा' निपात भी समुच्चमार्थक है, मन्त्र का आशय है कि अश्व! तुम्हें वायु अथवा मनु तथा सभी गन्धर्वगण इस रथ में युक्त करते हैं।

मूल- **अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्येति।**

हिन्दी- अहं तथा 'ह' ये दोनों निपात विनिग्रह अर्थात् वृथग्भाव के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, एकही देवदत्त के दो भिन्न - भिन्न कार्यों में व्यापृत होने पर भी नियमतः एक ही देवदत्त का दो बार गृहीत किया जाता है। विनिग्रह का अर्थ ही विनिग्रहार्थ कहा जाता है, और वही अपने आप में विनीग्रहार्थीय कहलाता है।

विशेष- विनिग्रह शब्द से स्वार्थ में 'छ' प्रत्यय तथा उसे ईय आदेश होने पर विनिग्रहार्थीय शब्द निष्पन्न होता है उक्त ये दोनों निपात अपने पूर्ववाक्यार्थ के साथ संगत होकर ही प्रयुक्त होते

हैं, जैसा कि आगे के उदाहरण में दर्शाया गया है।

मूल- अयमहेदं करोत्वयानिमदम्। इदं ह करिष्यति इदं च करिष्यतीति।

हिन्दी- प्रस्तुत वाक्य में ग्रन्थकार ने 'अह' एवं 'ह' दोनों निपातों का क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसका स्वरूप टीकाकारों ने निम्नरूप से प्रस्तुत किया है, राम गायों को पानी पिलाने, तथा श्याम अभ्यागतों को भोजन करावें, इसका आशय यह है कि जो कार्य राम करेगा, श्याम वही कार्य न करके उससे भिन्न कार्य करेगा, इस वाक्यार्थ भेद को उपर्युक्त मूल वाक्य में 'अह' एवं 'ह' निपात के द्वारा दिखलाया गया है। अतः दोनों निपात भेद द्योतक माने जाते हैं।

मूल- अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण। मृषेमे वदन्ति सत्यमूते वदन्ति इति।

हिन्दी- 'उकार' यह निपात भी इसी विनिग्रह-पृथक्तत्व अर्थ में प्रयुक्त होता है। तथा दो वाक्यों में उत्तर वाक्य के साथ संगत रहता है, जैसे-''मृषेमे वदन्ति सत्यमुते वदन्ति इन दोनों वाक्यों में 'उ' निपात के द्वारा पृथक्त्व दिखाई पड़ता है, वाक्यों का आशय है कि वृषल झूठ बोलते हैं जबकि ब्राह्मण सत्य बोलते हैं।

मूल- अथापि पदपूरणः इदमु तदु।

हिन्दी- 'उ' यह निपात पादपूर्ति के लिए मन्त्र में प्रयुक्त होता है, ''इदमु पुरस्ताज्जोतिः'' तथा तदु प्रत्यक्षतममस्य मन्त्रों में इदमु तथा तदु का वही अर्थ है, जो इदं तथा तद् का है, उकार लगा देने से कोई अर्थ प्रकर्ष नहीं हुआ है, अतः यहाँ पर उकार पद पूरणार्थक है।

मूल- हीत्येषोऽनेक कर्मा। इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे। कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्।।

हिन्दी- 'हि' यह निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे हेत्वपदेशे - कारण बतलाने में, राम - इस कारण यह कार्य करेगा = रामो हि कार्यमिदं करिष्यति। अनुप्रश्न में भी 'हि' का प्रयोग मिलता है। जैसे-कथं हि देवदत्तः इदं कार्य करिष्यति, देवदत्त इस कार्य को कैसे करेगा। इसी प्रकार-असूया - निन्दा के अर्थ में भी 'हि' निपात का प्रयोग देखा जाता है। जैसे कथं हि व्याकरिष्यति - वह कैसे व्याख्या करेगा, जब कुछ जानता ही नहीं।

मूल- किलेति विद्या प्रकर्षे, एवं किलेति।

हिन्दी- 'किल' यह निपात विद्या प्रकर्ष अधिक जानकारी के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे कोई आचार्य अपने पूर्व आचार्य से ज्ञान प्राप्त कर उसे अच्छी तरह हृदय में अवधारण कर पुनः अपने शिष्यों से अत्यन्त विश्वास के साथ कहता है, एवं किल युद्ध आसीत् महाभारतस्य-इस प्रकार का महाभारत का युद्ध था।

मूल- अथापि 'न' ननु 'इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न किलैवं ननु किलैयम्।

हिन्दी- अनु प्रश्न अर्थ में वही 'किल' निपात 'न' अथवा 'ननु' के साथ प्रयुक्त होता है, न किलैवं - क्या ऐसा नहीं है, 'ननु' ''किलैवम् = क्या ऐसा है?

मूल- मेति प्रतिषेधे। मा कार्षीः, महार्षीः इति च।

हिन्दी- 'मा' यह निपात प्रतिषेध = निषेध अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे मा कार्षीः आकार्यम् - अकरणीय कार्य मत करो, मा हार्षीः पर धनम् = किसी दूसरे का धन मत चुरावों।

मूल- खल्विति च। खलु कृत्वा खलुकृतम्।।

हिन्दी- वेद के छन्दों में 'खलु' यह निपात प्रतिषेधार्थीय माना जाता है, जैसे खलुकृत्वा अर्थात् अकृत्वा

न करके, कलुकृत - न कृतम् अर्थात् नहीं किया।

मूल- **अथापि पदपूरणः। एवं खलु तद्भूव इति।**

हिन्दी- वैदिक मन्त्रों के पादपूरण में भी 'खलु नामक निपात प्रयुक्त हुआ दिखाई पड़ता है, जैसे 'एव' खलु तद्भूव'' = उस समय ऐसा हुआ। उदाहृत वाक्य में ''खलु'' का कोई अर्थ विहित नहीं है, यह केवल पादपूर्ति के प्रयुक्त हुआ है।

मूल- **शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्, शश्वदेवमित्यनुपृष्टे। एवं शश्वदित्य स्वयं पृष्टे।।**

हिन्दी- 'शाश्वत' यह निपात लौकिक भाषा में-विचिकित्सा सन्देह के अर्थ में प्रयुक्त होता है, विचिकित्सा-विवेकपूर्वक जिज्ञासात्मक प्रश्न अथवा सन्देह को कहते हैं, मेदिनी कोशकार ने 'शश्वत्' निपात को लौकिक भाषा में ही अनेक अर्थों में प्रयुक्त होना स्वीकार किया है, तद्यथा-

शश्वत्स्यादात्मप्रश्ने सन्देहे चापि मङ्गले।

पुराकल्पे सदार्थे च पुनरर्थे च दृश्यते।।

परन्तु वेद में अनुपृष्टार्थ में, अर्थात् किसी के दुबारा पूछने पर 'शश्वत्' निपात का प्रयोग वाक्यारम्भ में प्राप्त होता है, जैसे-'शश्वत् एवम्' = क्या ऐसा ही है। पुनः अस्वयं पृष्टार्थ-में दूसरे के पूछने पर 'शश्वत्' का प्रयोग वाक्य के अन्त में भी देखा जाता है, जैसे- ''एवं शश्वत्' = हाँ ऐसा ही है।

मूल- **नूनमिति विचिकित्सार्थीयों भाषायाम्।**

हिन्दी- 'नून' यह निपात लौकिक भाषा में विचित्सा के अर्थ में अर्थात् जिज्ञासात्मक प्रश्न के लिए प्रयुक्त होता है।

मूल- **उभयमन्वाध्यायम्। विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्चेति।**

हिन्दी- वेद में यहीं 'नूनं' निपात दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, वे दोनों अर्थ है, विचिकित्सा और पदपूरण निरुक्तकार ने दोनों अर्थों के लिए भिन्न भिन्न मन्त्रों का उदाहरण प्रस्तुत किया है, पहले मन्त्र में विचिकित्सा अर्थ वाले 'नूनं' निपात का वैदिक ऐतिह्य के साथ प्रस्तुत किया है तथा दूसरे मन्त्र में 'नूनं' निपात का पदपूरणार्थ स्वरूप तृतीय पाद के प्रारम्भ में दिखलाया है।

मूल- **अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरूद्भ्यः सप्रदित्सांचकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रेः।।**

हिन्दी- वैदिक आख्यान के अनुसार मैत्रावरुण द्वारा कुम्भ से अगस्त्य मुनि का जन्म माना जाता है। इन्होंने कभी इन्द्र के लिये सोमादि हविः पदार्थ तैयार किया, परन्तु उसे मरुद्गणों को प्रदान कर दिया। इसके वाद इन्द्र स्वयं अगस्त्य ऋषि के पास आकर विलाप करने लगे। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा दृष्ट मन्त्र में 'नून' निपात का प्रयोग विचिकित्सा के अर्थ में यहाँ उदाहरणीय है।

मूल- **न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदयुतम्।**

अन्यस्य चित्तमभिसंरचनेण्य मुताधीतं विनश्यति।। (ऋ.सं. 2/4/10/1)

न नूनमस्त्यद्यतनम् । नो एव श्वस्तनम् । अद्यअस्मिन् द्यवि। द्युरिति अहो नाम धेयं

द्योतते इति सतः। श्वः उपाशंसनीयः कालः। ह्यो हीनः कालः। कस्तद्वेद अदभुतम् -कस्तद् वेद यदभूतम्। इदमपीतरद् अद्भूतमिव। अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यम्। अभिसञ्चारि। अन्यो नानेयः चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यति इति अप्याध्यातं विनश्यति। आध्यातममिप्रेतम्।

हिन्दी- 'न नूनमस्ति नोश्वः' इस मन्त्र के प्रथम पाद में नूनं' निपात विचिकित्सा - सन्देह के अर्थ में प्रयुक्त है, 'न' पद से मन्त्र किसका निषेध किया गया है यह सुस्पष्ट नहीं होता है, अतः आचार्य यास्क ने मन्त्र में प्रतिषेध के प्राप्त होने पर प्रतिषेध्य की अवश्यं भाविता जानकर तथा तदुत्तर में 'श्व' पद के निषेध्य किये जाने से प्रथमतः अद्यतन का अध्याहार कर मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है - न नूनमस्ति अद्यतनम् = जो हवि आज मुझे नहीं मिली नो एवं श्वस्तनम् = वह कल भी नहीं मिल सकती है, कस्तद्वेद = कौन उसे जान सकता है यद् अद्भूतम् = जो अभी तक हुआ ही नहीं है, अन्यस्य = सज्जनों की श्रेणी में न आने योग्य अधम या अस्थिर बुद्धि वाले का चित्तम् = मन, अभिसञ्चरेण्यं = चञ्चल होता है, क्योंकि इसी कारण मेरे लिये तैय्यार की गयी हवि मुझे न मिलकर मरुद्गणों को मिल गयी।

अद्य का अर्थ है अस्मिन हवि = आज के दिन, द्यु = यह दिन का नाम है, द्योतते इति सतः - क्योंकि यह प्रकाशित होता है, श्वः उपासंसनीयः कालः = 'श्व' यह आने वाले दिन का वाचक शब्द है, हयो हीनः कालः = 'ह्यः' यह अतीत दिवस का वाचक निपात है, कस्तद्वेद - यदभूतम् = उसे कौन जानता है जो अभी हुआ नहीं है, अर्थात् भविष्य के गर्त में है, इदमपीतरद् अद्भुतमभूतामिव = ये जो लोक में अद्भुत - विलक्षण वाचक शब्द है वह भी अभूत में समान ही है, अन्यस्य चित्तमनि सञ्चरेण्यं = अन्य का मन अभिसञ्चारी अर्थात् चञ्चल होता है, अन्यो नानेयः = अन्य का अर्थ है नानेयः = नाना विचार रखने वाला अस्थिर बुद्धिः, अथवा न आनेयः समासु इति अन्यः = अथवा अन्य वह है जो सभाओं में बुलाने योग्य नहीं होता है, चित्तं = चेततेः चिति-सञ्ज्ञाने धातु से चित्त शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जिससे पदार्थों का परिज्ञान किया जाता है, वह चित्त कहा जाता है, उत = और, अधीतं = आध्यातंमाभिप्रेतं = अधिगत हुआ प्राप्त किया गया अर्थ जिसका अभिप्रेत है- वह अधीतं पद से कहा गया है, विनश्यति, वह भी नाम नष्ट हो गया।

इति प्रथमाध्याये द्वितीय पादः।

8.4.3 अथ तृतीयः पादः

मूल- अथापि पदपूरणः।

हिन्दी- पद पूरण के लिये भी 'नूनं' निपात का प्रयोग मन्त्रों में देखा जा सकता है, एतदर्थ अग्रिम मन्त्र उदाहृत किया जाता है।

मूल- नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र - दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग् भगो नो बृहद्-वदेम विदथे सुवीराः॥

हिन्दी- प्रस्तुत मन्त्र में 'नूनं' निपात को पदपूरणार्थ बतलाया गया है, जिसका मन्त्रार्थ में कोई योगदान नहीं है, मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है-

हे इन्द ! जो तुम्हारी यज्ञकर्म में ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा है, वह

यजमान के लिए अभीष्ट अर्थ प्रदान करे तथा ऋत्विजों की कामनाओं को पूरा करें। हे इन्द्र! हमें छोड़कर अन्यों को धनमत दो, पहले हमें देकर ही पश्चात् अन्य किसी को दो, हमारे पास महदैश्वर्य होवे, जिससे हम अपने यज्ञगृहों में पुत्र पौत्रादिकों के साथ'' लाओ खिलावों, पिलावों इन्हें दो उन्हें दो'' इत्यादि शब्द निरन्तर बोलते रहें।

मूल- **सा ते प्रतिदुग्धां वर जरित्रे। वरो वरितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा। मघोनी मधवती। मधमित धननाय धेयम्। मंहतेदनि कर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः, समर्द्धयति कर्मणो व्यृद्धं समर्द्धयति इति। अपि वा प्रदक्षिणा गमनात् दिशमभिप्रत्य। दिग्धस्त प्रकृतिः। दक्षिणो हस्तो दक्षते रुत्साह कर्मणः दाशतेर्वा दानकर्मणः। हस्तो हन्तेः प्राशुहंनने देहि स्तोतृभ्यः कामान्। मास्मानतिदंहीः। मास्मानतिहाय दाः भगो नो अस्तु। वृहद्धदेय स्वे वेदने। भगो भजतेः। वृहदिति महतोनामधेयम् परिवृठं भवति। वीरवन्तः कल्याण वीरा वा। वीरावीरयत्यमित्राम्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः वीर-यतेर्वा।**

हिन्दी- तुम्हारी वह धनवाली दक्षिणा, स्तुति करने वाले यजमान के अभीष्ट को पूरा करे। वर का अर्थ है वरयितव्य = वरण करने योग्य अभिलषगीय पदार्थ। जरिता गरिता का पर्यायवचन है, जरिता का अर्थ है स्तुतिकर्ता, गरिता का अर्थ है अर्थयिता, अर्चा भी स्तुति रूप ही होती है, मधोनी का अर्थ मधवती अर्थात् धनवाली, मध शब्द धन क़ा वाचक है, यह दानार्थक मंह धातु से निष्पन्न होता है, दक्षिणा शब्द समृद्धि अर्थवाले 'दक्ष' धातु से निष्पन्न होता है। क्योंकि दक्षिणा निर्धनता को समाप्त का समृद्ध कर देती है, अथवा दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा की जाती है। इस अभिप्राय से दक्षिणा शब्द की निष्पत्ति की जा सकती है। दक्षिण दिशा का सम्बन्ध दक्षिण हाथ से है, श्रुति का आख्यान है कि पूर्वाभिमुख प्रजापति के दक्षिण हाथ की दिशा का नाम दक्षिणा दिक् हो गया। उत्साहवर्धक दक्ष धातु से दक्षिण शब्द बनता है, चूंकि प्रत्येक कार्य में वही हाथ प्रथमतः उत्साहित होता है, अतः इसे दक्षिण हस्त कहते हैं, अथवा दानार्थक 'दाश्' धातु से दक्षिण शब्द निष्पन्न हो जाएगा, क्योंकि दानादि कार्य दक्षिण हस्त से किया जाता है, अ. 'हन्' हिंसागत्यो-धातु से हस्त शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि यह मारने तथा क्रियाशीलता में अतिशीघ्रता से चलता है, स्तुति करने वालों की कामनाओं को पूरा करो हमें छोड़कर अन्यों को पहले दक्षिणा मत दो, हमारे पास भोग्य वस्तुयें होवें, अपने घरों में लावों खिलावो, पिलावो दो, आदि शब्द बहुत बोले। भग का अर्थ धन एवं ऐश्वर्य है, जो भज् सेवायां धातु से निष्पन्न होता है, वृहत् यह महान् का दूसरा नाम है, क्योंकि यह चारो तरफ से दृढ़ = परिपुष्ट होता है। वीरवन्त का अर्थ है कल्याणवीरा अर्थात् उत्तम तथा वीर सन्तान वाले। वीर इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह शत्रुओं को अनेक प्रकार से कपाता है। गत्यर्थक 'वी' धातु से औणादिक् रक् प्रत्यय करके वीर शब्द निष्पन्न कर सकते हैं अथवा विक्रान्त अर्थवाला वीर धातु (चु0आ0) से पचाग्रच् तथा णि लोप करके विक्रमवान् = प्रकृष्टपराक्रमवान् असौ वीरः ऐसा शब्द निस्पन्न किया जा सकता है।

मूल- **सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।**

हिन्दी- 'सीम' नामक निपात परिग्रहार्थीय तथा पद पूरणार्थ दोनों होता है, 'सर्वतः' शब्द के अर्थ

को ग्रहण करने वाला निपात परिग्रहार्थीय कहा जाता है, दोनों प्रकार के अर्थ को बतलाने वाले 'सीम' निपात का उदाहरण दिया गया है।

मूल- प्रसीमादित्योऽसृजत् (ऋ0 सं0 2/7/9/4)

प्रासृजदितिवा प्रासृजत् सर्वत इति वा।

हिन्दी- 'प्रसीमादित्योऽसृजत्'' इसी ऋचा में 'सीम' निपात के दोनों अर्थों को आचार्य यास्क ने प्रदर्शित किया है प्रथमं अर्थ में 'सीम' शब्द पद पूरणार्थक है, वाक्यार्थ है सूर्य ने रश्मियों को छोड़ा, दूसरे अर्थ में सीम-परिग्रहार्थीय है जिसका वाक्यार्थ है सूर्य ने चारो तरफ से रश्मियों को छोड़ा। 'सीम' निपात के परिग्रहहार्थीय होने का एक अन्य उदाहरण भी देते हैं।

मूल- विसीमतः सुरुचो वेन आवः (शु.प. 13/3)

इति च। व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्य रश्मयः सुरोचनात्।

हिन्दी- मन्त्र में 'सीम' निपात का परिग्रहार्थीय अर्थ ग्रहण किया गया है, आचार्य यास्क ने मन्त्र खण्ड का यह अर्थ किया है कि सूर्य ने चारों तरफ अपनी रश्मियों को फैलाया सुरुचः आदित्य रश्मियों को कहते हैं, क्योंकि 'सु' उपसर्ग पूर्वक, रूच' दीप्तौ धातु से सुरूचः शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है अच्छी तरह चमकनेवाली किरणें।

मूल- अपि वा सीमेत्येतद्नर्थ कमुपवन्धमाददीत् पञ्चमी कर्माणं-सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति।

हिन्दी- मन्त्र में विसीमतः शब्द आता है। सीम् निपात सर्व के अर्थ में समझना चाहिए, तथा अकार को अनर्थक उपबन्ध मानना चाहिए, तथा 'पञ्चम्याहस्तसित्व सूत्र का विधान 'सीमतः' पद में जानना चाहिए। जिसका अर्थ सर्वतः किया जा सकता है, अथवा नान्त सीमन् शब्द से मर्यादा के अर्थ में तसिलान्त सीमतः शब्द निष्पन्न किया जा सकता है, सीमा मर्यादा को कहते हैं, दो देशों अथवा स्थानों को सिलने-मिलाने वाले स्थान विशेष को सीमा अथवा मर्यादा कहा जाता है।

मूल- त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् अर्धमानेत्येके।

हिन्दी- निपात प्रकरण में 'त्व' परिगणित होने से सहसा निपात होने का सन्देह न हो जाय, इसलिये आचार्य यास्क ने 'त्व' को विनिग्रहार्थीय-पृथक्करणार्थक सर्वानुदात्त सर्वनाम बतलाया। क्योंकि ''निपाता आद्युदात्ताः'' इस सूत्र से निपात सदैव आद्युदात्त कहे गये हैं, यहाँ पर 'त्व' सर्वाभुदात्त सर्वनाम बतलाया गया है, अतः निपात नहीं हो सकता है। कुछ आचार्य 'त्व' का अर्थ अर्ध भी करते हैं, इसे प्रकरणानुसार समझ लेना चाहिए, जहाँ पर 'त्व' सर्वनाम के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसे सम्बन्धित मन्त्र का उदाहरण ग्रन्थकार स्वयं प्रस्तुत करते हैं।

मूल- ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुस्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा तो वदति जात विद्याम्
यज्ञस्य मात्रां विममीत उत्वः।।

हिन्दी- होता नाम का एक ऋत्विक् कर्म में ऋग्वेदीय मन्त्रों का पाठ करता है, **उद्गाता नाम का** एक ऋत्विक् शक्वरी छन्दवाली ऋचाओं पर गायत्र नामक साम का गान करता **है ब्रह्मा नाम** का एक ऋत्विक यज्ञकर्म में कोई दोष उत्पन्न होने पर तदर्थ प्रायश्चित्तादि करने की अनुज्ञा देता है। अध्वर्यु नामका एक ऋत्विक यत्र के स्वरूप को निश्चित एवं सम्पादित करता है।

प्रस्तुत मन्त्र में 'त्व' यह सर्वनाम पद चारों पादों में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ संख्यावाचक 'एक' किया गया है वैदिक यज्ञ कर्म में मुख्यतः चार प्रधान-ऋत्विजों (ब्रह्म-अध्वर्यु-उद्गाता, होता) की आवश्यकता होती है, जिनके पृथक्-पृथक कर्त्तव्यों का निर्देश इस मन्त्र में दर्शाया गया है।

मूल- **ऋत्विक् कर्मणां विनियोग माचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुस्वान् होता, ऋगर्चनी।**

हिन्दी- ऋत्विजों के कर्त्तव्यों का निर्देश किया जाता है, होता नाम का एक ऋत्विक् ऋचाओं को पुष्ट करता हुआ यज्ञ कर्म को भी पुष्ट करता है, ऋक् शब्द 'अर्च' पूजायां धातु से निष्पन्न होता है।

मूल- **गायत्र मेको गायति शक्बरीषूदगाता। गायत्रं गायतेः स्तुति कर्मणः। शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेछः। तद् यद् आभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते।**

हिन्दी- उद्गाता नाम का एक ऋत्विक् शक्वरी ऋचाओं पर गायत्रनामक साम का गान करता है, स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से गायत्री शब्द निष्पन्न होता है, शक्वरी ऋचाओं का नाम है, 'शक्लृ' सामर्थ्ये धातु से शक्वरी शब्द निष्पन्न हो सकता है। ब्राह्मणभाग के एक आख्यान से यह ज्ञात होता है कि जिन ऋचाओं के द्वारा इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हो सका, उन्हीं ऋचाओं को शक्वरी नाम से कहा गया है।

मूल- **ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्व वेदितुमर्हति। ब्रह्मपरिवृढः, श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः।**

हिन्दी- ब्रह्मा नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ कर्म में प्रायश्चित्तादि कर्त्तव्यों का निर्देश करता है, क्योंकि ब्रह्मा सभी विधाओं का ज्ञाता होता है। अतः वह सबकुछ ज्ञान सकता है, चारों वेदों का जानकार होने के कारण ऋत्विजों की त्रुटियों को बहुत सरलता से वह जान लेता है तथा समय-समय पर त्रुटि सम्मार्जनार्थ प्रायश्चित्तादि विधियों का निर्देश करता है, ब्रह्मा श्रुति से सर्वविध परिज्ञान से परिपूर्ण होता है।

मूल- **यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्यनेता अध्वरं कामयते इति वा। अपि वाऽधीयाने युरुपबन्धः।**

अध्वरः इति यज्ञ नाम। ध्वरतिर हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः।

हिन्दी- अध्वर्यु नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा = इयंत्ता तथा इतिकर्त्तव्यता विनिश्य करता है, अध्वर यज्ञ का नाम है, उसको जोड़ने के कारण 'अध्वरयु' ही अध्वर्यु कहा जाता है, वह यज्ञ को आगे ले जाने वाला नेता कहा जाता है, वह सदैव यज्ञ की पूर्णता की कामना करता है। अथवा अधीयमान अर्थ में 'यु' यह उपबन्ध प्रत्यय हो सकता है, तब अध्वरान्तं वेदमधीयते यः सोऽध्वर्युः इस प्रकार विग्रह वाक्य हो जायगा, जिसका आशय यह होगा कि जो यज्ञ करने एवं कराने तक वेद का अध्ययन करता है वह अध्वर्यु कहलाता है। अध्वर

यज्ञ का नाम इसलिए है कि उसमें किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती है, ध्वर धातु हिंसार्थक है, उसका प्रतिषेध जहाँ होता हो वही अध्वर है।

मूल- **निपात इत्येके, तत्कथमनुदात्त प्रकृतिर्नाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति, उतात्वं संख्ये स्थिरपीतमाहुरिति द्वितीयायाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे इति चतुर्थ्याम्।**

हिन्दी- कुछ आचार्य निपात प्रकरण में पठित होने के कारण 'त्व' इस शब्द की गणना निपात में ही करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, फिर प्रश्न यह होता है कि 'त्व' यह शब्द अनुदात्त प्रकृति वाला सर्वनाम भी कैसे हो सकता है, क्योंकि सर्वनाम तो प्रातिपदिक होते हैं, और प्रातिपदिक ''फिषोऽन्त उदात्त'' नियम से अत्तोदात्त होते हैं यह 'त्व' तो अनुदात्त है, इस सन्दर्भ में समाधान दिया गया है कि 'त्व' प्रातिपादिक होते हुए भी अपवाद स्वरूप अनुदात्त है, और प्रातिपादिक इसलिये माना जाता है क्योंकि यह दृष्टव्यय है, जबकि निपात अव्यय तथा आद्युदात्त होते हैं। अतः दृष्टव्यय तथा अनुदात्त प्रकृति होने से 'त्व' सर्वनाम ही है निपात नहीं। इसकी द्रष्टव्ययता 'उतत्वं' संख्ये तथा 'उतो त्वस्मै'' मन्त्रों में क्रमशः द्वितीय एकवचन तथा चतुर्थी एक वचन के रूप में स्पष्ट है।

मूल- **अथापि प्रथमा बहुवचने।**
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेस्वसमा
बभूवुः। आदाध्नास, अपकक्षास उत्वे हदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे।।
(ऋ. 8/2/24)

हिन्दी- 'त्व' सर्वनाम की दृष्टव्ययता प्रथमा बहुवचन में भी देखी जा सकती है, प्रस्तुत मन्त्र में 'त्वे' के रूप में उसका प्रयोग किया गया है, मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है। त्वे = एके - कुछ लोग समान नेत्र वाले, समान श्रवणेन्द्रिय वाले तथा समानोदरपृष्ठ पाणिपाद वाले मित्रगण बाह्येन्द्रियों में समान होने पर भी मानसिक बोध की गति में असमान देखे जाते हैं, उनमें से कुछ एक आदध्नासः- मुख तक जल वाले सरोवर के समान अर्थात् अत्यधिक प्रज्ञावान, तथा कुछ एक उपकक्षासः = कांख तक जल वाले सरोवर के समानं अल्पप्रज्ञ तथा कुछ एक स्नान योग्य अगाध जल वाले हद के समान प्रभूत प्रज्ञा सम्पन्न दिखाई पड़ते हैं।

मूल- **अक्षिमन्तः कर्णवन्तछ सखायः** = स्वस्थ आँख वाले तथा स्वस्थ कान वाले एक डी शास्त्र में समानरूप से परिश्रम करने वाले मित्रगण। **अक्षिचष्टेः** दर्शनार्थक चक्षिङ् धातु से अक्षि' शब्द निष्पन्न हो सकता है, क्योंकि इन आँखों से देखा जाता है। **अन्क्तेरित्याग्रायगः, तस्मादेते व्यक्ततरे दूव भवत इतिह विज्ञायते-** आचार्य आग्रायग के मत में 'अज्जू' व्यक्ति म्रक्षण कान्तिगतिषु' धातु से भी 'अक्षि' शब्द विष्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि ये आँखे अन्य अंगो की अपेक्षा अधिक व्यक्ततर - प्रकाशयुक्त होती है ऐसा ब्राह्मण वाक्य से ज्ञात होता है।

मूल- **कर्णः कृन्तेतःर्निकृत्त द्वारो भवति, ऋच्छतेरित्याग्रायणः ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामितिह विज्ञायते।**

हिन्दी- कृतीच्छेदन धातु से 'कर्ण' शब्द निष्पत्र हो सकता है क्योंकि 'कर्ण' सदैव, छिन्नद्वार होता है, अर्थात् उसका द्वार कटा हुआ होता है, आचार्य आग्रायण 'ऋच्छ' गतौ धातु से औणादिक नन प्रत्यय तथा धातु को नूडागम **करके** कर्ण शब्द की निष्पत्ति मानते हैं, क्योंकि उनका

कहना है कि इसमें ब्राह्मण वचन भी प्रमाण है जिसका आशय यह है कि आकाश में अभिव्यक्त शब्द इन कर्णकुहरों को प्राप्त होते हैं, और ये कर्ण भी उन शब्दों को मानों पकड़ने के लिये अपने को ऊपर उठाये हुये होते हैं।

मूल- **मनसां प्रजवेष्वसमा बभुवुः, आस्यदध्नाः अपरे, उपकक्षदध्ना अपरे, आस्यमस्यतेः स्यन्दत एतदन्नमिति वा।**

हिन्दी- मानसिक गतिशीलता में असमान होते हैं, कोई कोई मुखतक पानी वाले सरोवर की तरह होते हैं, तथा कोई-कोई कांख तक पानी वाले जलाशय की तरह होते हैं आस्य का अर्थ है मुख, यह 'आस्य' शब्द 'असु' क्षेपणे धातु से बनता है, मुख को आस्य इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें अन्न फेंका जाता है, अथवा आङ्पूर्वक स्यन्दू प्रश्रवणे धातु से भी आस्य शब्द बन जायेगा, क्योंकि यह मुख अपने अन्दर डाले गये शुष्क अन्न को भी अपने आन्तरिक रस प्रश्रवण से आर्द बना लेता है।

मूल- **दहनं दध्यतेः श्रवतिकर्मणः दस्यते र्वा स्यात् विदस्तरं भवति।**

हिन्दी- दहन शब्द स्रवरत्यर्थक 'दध' धातु से बनता है क्योंकि उत्तर परिणाम की अपेक्षा यह न्यून सा होता है, अथवा उपक्षयार्थक 'दसु' धातु से भी 'दहन' बनाया जा सकता है, क्योंकि यह पूर्व परिमाण की अपेक्षा उपक्षीणतर होता है।

मूल- **प्रस्नेया ह्रदा इब एके प्रस्नेया ददृशिरे स्नाना र्हाः ह्रदो ह्रदाते शब्दकर्मणः ह्लादनर् वस्पिपात् शीतीभाव कर्मणः।**

हिन्दी- कोई मित्र सहाध्यायी स्नान करने योग्य ह्रद के समान अगाध पाण्डित्य वाले होते हैं, शब्दार्थ 'ह्रद' धातु से 'हद' शब्द निष्पन्न होता है, अथवा शीत्यार्थक हाद धातु से 'ह्रदं' शब्द निष्पन्न किया जा सकता है क्योंकि यह ह्रद = सरोवर, ग्रीष्म काल में भी शीतल रहता है, तथा स्नान करने वालों को आह्लाद = सुख प्रदान करता है।

मूल- **अथापि समुच्चयार्थे भवति-''पर्याया इव त्वादश्विनम्'' आश्विनश्च पर्यायाश्चेति।**

हिन्दी- 'त्वत्' नाम का यह दूसरा निपात भी समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे पर्याया इव-त्वदाश्विनन्'' इस मन्त्रोदाहरण में 'त्वत्' निपात चकार के अर्थ में समुच्चयार्थक बतलाया गया है।

मूल- **अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्य पूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिदु इति।**

हिन्दी- इसके बाद अब पद पूरणार्थ निपातों को बतलाया जाता है, सबसे पहले उसका सामान्य लक्षण बताते हैं कि जो निपात, वाक्यगत अन्य पदों के द्वारा अर्थ की पूर्ति हो जाने पर भी गद्यात्मक ग्रन्थों में केवल वाक्य सौष्ठव के लिए प्रयुक्त होते हैं, वे पद पूरणार्थक निपात कहलाते हैं, पुनः वही निपात मिताक्षर = पद्यात्मक ग्रन्थों में पाद के अक्षर संख्या की पूर्ति हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं, अतः वहाँ भी ये पदपूरक माने जाते हैं, इस प्रकार के निपात पदपूर्ति के अतिरिक्त किसी अर्थान्तर को प्रकाशित नहीं करते हैं, वे हैं कम्, ईम, इद, उ इति इनका क्रमशः उदाहरण मिरुक्ताकार ने प्रस्तुत किया है।

मूल- **निष्टूक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव।**
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्।।

शिशिरं जीवनाय, शिशिरं श्रृणातेः शम्नातेरवां।

हिन्दी- प्रस्तुत मन्त्र में 'कम्' यह निपात केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई अर्थ मन्त्र में प्रकाशित नहीं होता है, मन्त्र का अर्थ है कि कुछ मनुष्य बहुत सन्तान होने के कारण निर्धन हो जाते हैं, तब वे तथा उनके बच्चे वस्त्र की कमी के कारण हेमन्त ऋतु में ठण्डी के भय से भेड़िये से डरे हुए के समान गिड़गिड़ाते हैं, तथा सुखमय जीवन के लिए अल्पशीत वाले शिशिर ऋतु की प्रतीक्षा करते हैं। यहाँ मन्त्र में 'कम्' निपात का कोई अर्थ नहीं बताया गया है। शिशिर शब्द हिंसार्थक 'श्रृञ' धातु अथवा 'शमु'उपदेशमें धातु से औणादिक प्रत्यय करने से निष्पन्न किया जा सकता है।

मूल- **''एमेनं सृजता सुते''। आसृजतैनं सुते।**

हिन्दी- प्रस्तुत मन्त्र खण्ड में 'ईम्' यह पादपूरक निपात है मन्त्र का अर्थ है कि हे अध्वर्यु चमस में पूर्वतः रखे गये सोमरस में से इन्द्र का अंश उसे दे दो। यहाँ ईम् का कोई अर्थ नहीं किया गया है।

मूल- **तमिद्वर्धन्तु नो गिरः (ऋ. 7/1/20/4) तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः।**

हिन्दी- हमारी स्तुतियाँ देव तृप्ति के लिये उस सोम को बढ़ायें। यहाँ 'इत' शब्द पदपूरणार्थक निपात है, अतः मन्मार्थ में उसका कोई अर्थ नहीं किया गया है।

मूल- **अयमुते समतसि (ऋ. 1/2/28/4) अयं ते समतासि।**

हिन्दी- प्रस्तुत मन्त्र खण्ड में 'उ' निपात पादपूर्ति हेतु प्रयुक्त है, मन्त्र में इसका कोई अर्थ नहीं बतलाया गया है, मन्त्र का अर्थ है, हे इन्द्र जिस सोम के लिये तुम यज्ञों में जाया करते हो वही तुम्हारा प्रिय सोम यहाँ लाया गया है।

मूल- **इवोऽपि दृश्यते-सुविदुरिव सुविज्ञायेते इव।**

हिन्दी- कहीं - कहीं उपमार्थक इव निपात भी मन्त्र में पदपूरर्णाक के रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे सुविदुरिव, सुविज्ञायेते इव' इन दोनों मन्त्र वाक्यों में इव का उपमा अर्थ नहीं है, अपितु 'इव' का प्रयोग पादपूरणार्थ का किया गया है।

मूल- **अथापि नेत्येष इतइत्यनेन सम्प्रयुज्यते परिभये।**

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम॥

हिन्दी- अब यहाँ से निपात समाहार = दो निपातों के सहोचारण से अर्थविशेष का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है, जैसे न और इत् का सहोच्चारण परिभय के अर्थ में किया गया है, पूर्वोक्त 'इत्' निपात अकेले प्रयुक्त होने पर पादपूरणार्थक होता है, परन्तु वही जब के साथ प्रयुक्त होता है तब परिभय - सवतोभय (डर) अर्थ को प्रकाशित करने लगता है, जैसा कि मन्त्र के चतुर्थ चरण में दिखाई पड़ता है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है, अपने-अपने पतियों से उपेक्षित असुर पत्नियां देवर्षि नारद् से कहती

हैं, कि हे प्रभो! कुछ लोग तो, पुरोडाशादि हविर्द्रव्य देवताओं को प्रदान कर स्वर्ग लोक प्राप्त कर लेते हैं, कुछ लोग सोम याग करके तथा कुछ लोग अपनी प्रार्थनाओं से देवताओं को प्रसन्न करके तथा कुछ लोग ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा प्रदान कर स्वर्ग सुख को प्राप्त ही कर लेते हैं परन्तु बड़े दुःख की बात है कि हम असुर पत्पियाँ अपने पतियों से कपट का आचरण करती हुयी नरक में गिर रही हैं। यहाँ 'नेत्' पद में 'न' तथा इत् का संप्रयोग है जो असुर पत्नियों के आन्तरिक भय (डर) को प्रकट कर रहा है।

मूल- **नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् । नास्मिन् रमणं स्थान मल्पमप्यस्तीति वा।**

हिन्दी- जिसमें निरन्तर नीचे ही जाना पड़ता हो, उसे नरक कहते हैं अथवा जिसमें थोड़ा भी सुखदायक स्थान न हो, उसे नरक कहते हैं।

मूल- **अथापि न चेत्यष इदित्यनेन सम्प्रभुज्यतेऽनु पुष्टे, न चेत् सुरां पिबन्ति इति। सुरा सुनोते।**

हिन्दी- 'न' तथा 'च' यह दोनों निपात जब 'इत' निपात के साथ संप्रयुक्त होते हैं, तब अनुपृष्ट अर्थ को प्रकाशित करते हैं जैसे 'न चेत् सुरा पिबन्ति। इस वाम्प में 'नचेत्' इस सहोच्चारित निपात का अर्थ अनुवृष्ट बतलाया गया है।

मूल- **एवमुच्चावचेष्वर्येषु निपतन्ति व उपेक्षितव्याः।**

हिन्दी- इस प्रकार विभिन्न प्रकार के अर्थों में निपात प्रयुक्त किये जाते हैं, उन्हें निवर्चन की रीति से परीक्षण कर लेना चाहिए।

मूल- **इतीमामि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि, नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च।**

हिन्दी- इस प्रकार नाम आख्यात उपसर्ग और निपात ये चार प्रकार के पदसमुदाय क्रमशः वर्णित कर दिये गये।

इति तृतीय पाद :।

8.4.4 अथ चतुर्थः पादः

मूल- **तत्र नामानि आख्यातजाकि इति शाकटायनो-नैरक्त समपश्य।**

हिन्दी- उपर्युक्त पादों में क्रमशः नाम-आख्यात-उपसर्ग और निपातों का विवेचन किया गया है, उनमें नाम, आख्यात से ही उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें, आख्यातज कहा जाना चाहिए। ऐसा ही आचार्य शाकटायन का मत तथा निरुक्तकारों का सिद्धान्त समझना चाहिए।

मूल- **न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।**

हिन्दी- आचार्य गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण सभी नामों को आख्यात से उत्पन्न (आख्यातज) नहीं मानते हैं।

मूल- **तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्थानाम् संविज्ञातानि तानि। यथा गौः, अश्वः पुरुषों हस्तीति।**

हिन्दी- नाम पदों से आख्यातज मानने के लिये प्राचीन निरूक्तकारों द्वारा तीन प्रकार की व्यवस्था

बतलायी गयी है। (1) प्रत्यक्ष क्रिया वाले नामपद, (2) प्रकल्प्य क्रिया वाले नाम पद, (3) अविद्यमान क्रिया वाले नाम पद, मूल में 'तद्' पूवोक्त गार्ग्यमत का अनुशरण करता है, तदनुसार-जिन नाम पदों में उदात्रादि स्वर तथा प्रकृति प्रत्यय सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता हो, तथा जो शब्दशास्त्रीय नियमों से सुसंगत हो, उन्हे ही आख्यातज नाम कहा जाना चाहिए, जैसे-कर्ता, कारकः पक्ता, पाचकः इत्यादि। क्योंकि कर्ता में 'कर्ता' नाम में 'कृ' धातु तथा वृच् प्रत्यय तथा 'कारक' पद में 'कृ' धातु तथा वुन् प्रत्यय स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु जिन नामों में स्वर और संस्कार व्याकरण नियमों से प्रत्यक्ष न दिखाई पड़ते हों, बल्कि उनकी कल्पना द्वारा सुसंगत किया गया हो, उन्हें द्वितीय कोटिका प्रकल्प्या ख्यातज नाम कहा जाना चाहिए, जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती आदि। अविद्यमानाख्यातजनाम तो डित्थ, डवित्थ अवाङ् अरविन्द आदि के रूप में गिनाये गये हैं। प्रदेश, क्रिया को कहा जाता है, प्रादेशिक गुण का तात्पर्य है कि जिस क्रिया को आधार मानकर नाम की स्थापना की गई हो, वह नाम प्रादेशिक गुण वाला कहा जाता है।

मूल- **अथ चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरम्। यः कश्च अध्वानमश्नुवीत अश्वः सवचनीयः स्यात्। यत् किञ्चित् तृन्द्यात् तृणं तत्।।**

हिन्दी- आचार्य गार्ग्य सभी नामों को आख्यातज नहीं मानते हैं, उनका आक्षेप यह है कि यदि सभी नाम आख्यातज मान लिये जायेंगे तो जो कोई पुरुष जिस कार्य को करेगा, उसी कार्य के क्रियावाचक आख्यात द्वारा उसके नाम का अभिधान होते लगेगा, जैसे अंशूङ्' व्यातौ धातु से निष्पन्न अश्व शब्द, मार्ग को अपनी गति से व्याप्त करने के कारण आख्यातज है परन्तु सभी नाम आख्यातज मानने पर, जो कोई पुरुष भी मार्ग को अपनी तेज गति से व्याप्त कर लेगा, तो वह भी अश्व कहा जाने लगेगा, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार जो कुछ भी तर्दन-छेदन किया जाय, वह तर्दन क्रिया योग से तृण कहा जायेगा, जबकि छेदन बहुत से वस्तुओं का किया जाता है, परन्तु सभी को तृण नहीं कहा जाता है, इसलिये सभी नामों को आख्यातज मानना उचित नही है।

मूल- **अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भयो नामधेय प्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैव स्थूणा रशदया वा सज्जनी च स्यात्।**

हिन्दी- दूसरे भी कारण से सभी नाम आख्यातज नहीं कहे जा सकते हैं, वह यह है कि यदि सभी नामों को आख्यातज मानेंगे, जो एक ही वस्तु यदि अनेक क्रियाओं से संयुक्त होता है तो उसके अनेक नाम हो जाएंगे, तथा अनेक वस्तु यदि एक क्रिया से संयुक्त हैं तो उन सभी वस्तुओं का भी एक ही नाम हो जाएगा। जैसे एक ही स्थूणाखम्भा, दर-गर्त में शयन करने के कारण 'दरशया' भी कहा जा सकता है, परन्तु लोक में खम्भा को दरशया नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार 'सञ्जयतेऽस्यां वंशः इति सज्जनी' इस निर्वचन के अनुसार स्थूणा खम्भा के ऊपर छाजन होने के कारण एक नाम सज्जनी भी होना चाहिए, परन्तु नहीं होता है, अतः सभी नामों को आख्यातज कहना युक्ति संगत नहीं है।

मूल- **अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो, यथा चापि प्रतीतार्थानि**

स्युस्तथैतान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशयः इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इति अश्वम् तर्दमिति तृणम् ॥

हिन्दी- एक दूसरे कारण से भी सभी नाम आख्यातज नहीं कहे जा सकते हैं, वह यह है कि यदि सभी नाम आख्यातज माने जायेंगे, तो उन नामों में जो लक्षणात्मक कृत्प्रत्ययात्मक संस्कार किये जाते हैं, उनसे क्रिया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है उन प्रत्यक्ष दृष्ट क्रियाओं के साथ ही उन नामों को कहना चाहिए, परन्तु ऐसा लोक व्यवहार में नहीं कहा जाता है, पुरुष को पुरिशयः अश्व को अष्टा, तथा तृण को तर्दन नहीं कहा जाता है, इससे स्पष्ट है कि सभी नामों को आख्यातज कहना उचित नहीं है।

मूल- अथापि निष्पन्नेऽभि व्याहारेऽभिविचारयन्ति - प्रथनात् पृथिवीत्याहुः। क एनामप्रथयिष्यतः? किमाधारश्च इति।

हिन्दी- अभिव्याहार पद से नाम करण कहा जाता है, लोक में किसी का कोई नाम प्रसिद्ध हो जाने के अनन्तर, उसके नामकरण पर विचार करते हैं, जैसे पृथिवी नाम भूमि का प्रसिद्ध है, इसपर शाकटायन आदि निरक्ताचार्य विचार करते हैं कि विस्तारार्थक प्रथन धातु से पृथिवी नाम बाद में पड़ा होगा, परन्तु यदि पृथिवी का नामकरण उसके आख्यातज होने के कारण माना जाय, तो यह प्रश्न उदित होता है कि कौन इसका प्रथन किया होगा? तथा उसका तथा पृथिवी का आधार क्या रहा होगा? इस प्रश्न का कोई सार्थक एवं समुचित समाधान न मिलने के कारण पृथिवी को आख्यातज नहीं माना जा सकता, इस प्रकार सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते यह जो गार्ग्य आचार्य का पक्ष है वह चरितार्थ होता है।

मूल- अथानन्वितेऽथेप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेत-रार्धान् संस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिचान्तः करणम्, अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

हिन्दी- धातुज नामों की सिद्धि करने के लिये आचार्य शाकटायन ने एक अतिरिक्त पद्धति का भी निर्देश किया है, उनके अनुसार जहाँ कहीं एक धातु से नाम का अर्थ सुसंगत न होता हो, वहाँ दो-दो धातुओं से निष्पन्न पदों से एक-एक अंश लेकर पूर्वोत्तर पदावयव की प्रकल्पना कर लेनी चाहिए, जैसे- सत्यं शब्द सिद्ध करने के लिए 'इण्गतौ' धातु के णिजन्त रूप से 'य' अंश लेकर पद के अत्य अवयव के रूप में रखते हैं, पुनः 'अस भुवि' धातु का शुद्धरूप 'सत्' अंश का आदि में रखकर - 'सत्य' नाम निष्पन्न कर लेते हैं, जिसका अर्थ होता विद्यमान का बोध कराने वाला ज्ञान।

मूल- अथापि सत्त्वपूर्वोभाव इत्याहुः। अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति।

हिन्दी- नामों के आख्यातज मानने पर एक दूसरा दोष यह दिखाई पड़ता है कि जब उत्तर कालीन् क्रिया से पूर्व कालिक द्रव्य का नामकरण किया जाता है, जबकि द्रव्य पूर्वक ही क्रिया होती है, ऐसा प्राचीन आचार्यों ने पहले ही बतला दिया है, जैसे अश्व नाम पहले प्राप्त होता है, बाद में "अश्नुते अध्वानम्" इति क्रिया द्वारा उसका निर्वचन किया जाता है, क्रिया पहले हो नाम वाद में पड़े ऐसा लोके में नहीं देखा जाता है, अतः इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सभी नाम आख्यातज नहीं कहे जा सकते हैं।

मूल- **तदेतन्नोषपद्यते।**

हिन्दी- सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते हैं यह जो गार्ग्य का पक्ष है वह ठीक नहीं है। क्योंकि आचार्य गार्ग्य ने जिन कारणों से नामों मके आख्यातज होने का निषेध किया है, उन्हीं कारणों में समाधान बतलाकर शाकटायनादि आचार्यों का आख्यातज सिद्ध किया है।

मूल- **यथो हि नु वा एतद् तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौं प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, सर्व प्रादेशिक मिति। एवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।'**

हिन्दी- गार्ग्यादि आचार्यों ने यह जो कहा, कि जिस नाम में स्वर-और संस्कार शाब्दिक व्युत्पत्ति की रीति से उपनन्न होते हों, उन्हीं को मात्र आख्यातज कहा जा सकता है, अन्य को नहीं इसका समाधान शाकटायनादि के पक्ष से यह दिया गया है कि ''सर्वं प्रादेशिकमिति'' हमारा तो पक्ष ही यह है सभी नाम प्रादेशिक हैं अर्थात् व्याकरण प्रक्रिया से व्युत्पन्न हो सकने योग्य होने के कारण आख्यातज हैं, ऐसी स्थिति में किसी उपालभ्भ का अवसर ही नहीं है।

मूल- **यथो एतद् यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन इति, पश्यामः समान-कर्मणां नामधेय प्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। यथा-तक्षा, परिव्राजको, जीवनो, भूमिज इति।**

हिन्दी- निरूक्तकार यास्क, आचार्य शाकटायन के पक्ष में आश्रय लेकर कहते हैं कि 'सभी नाम आख्यात हैं' इस शाकटायन के सिद्धान्त पर जो आक्षेप करते हैं, उनका यथोक्तरूप से खण्डन हो जाता है, क्योंकि शाकटायन का अभिप्राय यह नहीं है कि जो कोई जिस किसी कार्य को करता है, तो वह उस क्रिया के योग से अभिहित किया जाता है, बल्कि उनका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति अनेक क्रिया से युक्त होने पर भी, अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा समान क्रिया किये जाने पर भी, स्वभावतः और नियमतः जो जिस क्रिया के साथ युक्त रहता है वही उस क्रिया के अभिधान से अभिहित किया जाता है, सभी नहीं। जैसे लोक में तक्षा नाम बढ़ई का है क्योंकि वह तक्षण क्रिया (काष्ठों को छिलना, काटना, बनाना, आदि अनेक कर्म) से स्वभावतः एवं नियमतः युक्त रहता है, यदा-कदा अपने किसी प्रयोजन से काष्ठ छिलने या काटने वाले को 'तक्षा' = बढ़ई पद से व्यवहार नहीं किया जाता है, इसी प्रकार व्रजन का अर्थ गमन होता है, 'परि' उपसर्ग परित्याग अर्थ को द्योतित करता है, इस प्रकार अपने भरे पूरे परिवार को रोता बिलखता छोड़कर घर से निकल जाने वाले को परिव्राजक (सन्यासी) नाम से अभिहित किया जाता है न कि अपने प्रयोजन से गमन करने वाले सभी को परिव्राजक कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीवनाधायक होने के कारण 'जीवन' शब्द गन्ने के रस के लिये कोषादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, परन्तु जीवनाधायक बहुत से पदार्थ हैं वे सभी 'जीवन' नाम से नहीं कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'भूमिज' नाम भूमिपुत्र मङ्गल के लिए प्रसिद्ध है, जबकि भूमि से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों का नाम भूमिज नहीं कहा जाता है, अतः यही कहना युक्तिसंगत है कि जिस किसी का स्वभावतः एवं नियमतः जिस क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, वही उस क्रिया के सम्बन्ध से अभिहित किया जाता है, सभी नहीं।

मूल- **यथो एतद्यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्त थैना-न्याचक्षीरन्निति। सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिका यथा-व्रततिः दमूना, जाटयः, आरणारो, जागरुको, छर्विहोथीति।**

हिन्दी- गार्ग्यादि आचार्यों का यह आक्षेप कि यदि नाम आख्यात माने जायेंगे, तो जिस धात्वर्थ की प्रतीति जहाँ होगी, वहाँ ही तादृश नामधेय होने लगेगा, जैसे पुरुषः, का दूसरा अभिधान पुरिशयः, अश्व का दूसरा अभिधान अष्टा भी हो सकता है, निरुक्तकार ने शाकटायन के पक्ष से इसका समाधान बताया है कि इस प्रकार के नाम शास्त्रों में अत्यल्पमात्रा में देखे जाते हैं, तथा जहाँ कहीं हैं भी तो वहाँ वे किसी एक नाम के लिये रुढ़ अथवा प्रसिद्ध है, जैसे व्रतति' यह अभिधान - वृषवरुणे, तथा तनु-विस्तारे दोनों धात्वर्थ वल्ली-लता के लिये प्रसिद्ध है, दमूना का निर्वचन अग्नि के लिये यथार्थ है, जाटच शब्द जटावान के लिये प्रयुक्त होता है, आह्णार-शब्द अप्नशील के लिए कहा गया है जागरूक शब्द जागरणशील के लिये प्रयुक्त होता है, जो सदैव दर्वी (करछुली) के हवन करता हो, उसे दर्वी हो भी कहा जाता है,। धात्वर्य की प्रतीति मात्र होने से सर्वत्र अभिधान नहीं किया जा सकता है।

मूल- **यथो एतान्निस्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योग परिशिष्टिः।**

हिन्दी- गार्ग्यादि आचार्यों का दूसरा आक्षेप यह है कि आख्यातज नाम के सिद्ध हो जाने पर शाकटायनादि आचार्य उस नाम के अवयवार्थ पर विचार करते हैं, इसका समाधान यह दिया जाता है कि -शाकटायनादि आचार्य ठीक ही तो करते हैं क्योंकि नाम के आख्याज सिद्ध हो जाने पर ही तो उसके अवयवार्थ की परीक्षा की जाती है।

मूल- **प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथमिस्यत् किमाधारश्चेति अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथितो चेदप्यन्यैः।**

हिन्दी- नाम के आख्यातज होने पर उसके अवयवार्थ के विचार के सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जाता है कि दृश्यमान यह पृथिवी 'पृशु' विस्तारे धातु के योग से निष्पन्न मानी जाती है, क्योंकि फैली हुयी पृथिवी को देखकर 'पृथु' धातु का योग किया जाता है, अन्यथा धात्वर्थ उपपन्न नहीं होगा। यद्यपि इस पृथिवी को किसने विस्तारित किया तथा उस विस्तार के समय कौन सा आधार था। इत्यादि प्रश्नों का यथोचित उत्तर नहीं दिया जा सकता, फिर भी किसी के द्वारा विस्तारित किया जाना ज्ञान न होने पर भी लोक दृष्टि में विस्तारित दिखाई पड़ने के कारण इसको 'पृथिवी' कहा जाना आख्यातज नाम के सर्वथा अनुरूप है।

मूल- **अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते।**

हिन्दी- किसी वस्तु को देखकर तदनुरूप प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करने वाले सिद्धान्त को 'दृष्टप्रवाद' कहा जाता है, यह यद्यपि लोक में उपलम्भित-निन्दित माना जाता है। तथापि प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति एवं प्रत्यय का सम्बन्ध बोध कराने के कारण वैदिक विद्वानों के द्वारा समादृत भी माना जाता है।

मूल- **यथो एतत्पदेभ्यः पदेतरार्थान्त्संचस्कारेति योऽनन्वितेऽथे संचस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुष गर्हा न शास्त्रगर्हा इति।**

हिन्दी- और भी गार्ग्यादि पक्ष से यह जो आक्षेप किया गया था कि शाकटायनादि आचार्यों द्वारा जो

कई पदों से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर शब्द निर्वचन किया जाता है वह ठीक नहीं है सो उसका समाधान यह है कि यदि शाकटायनादि किसी असम्बद्ध अर्थ में शब्दनिर्वचन किये होते, तो अवश्य निन्दा के पात्र माने जाते, परन्तु उन्होंने तो सर्वथा अन्वित अर्थात् शास्त्रानुगत अर्थ में ही शब्द निर्वचन किया है, जैसे 'सत्य' शब्द से निर्वचन हेतु उन्होंने दो पदों से थोड़ा-थोड़ा अंश लिया है, जो शास्त्रामुगत है परन्तु जो कोई असंगत अर्थ में शब्द का निर्वचन करता है, वह अवश्य ही निन्दनीय है, और यह उसके अल्पज्ञता का दोष है, शास्त्र का दोष नहीं है।

मूल- **यथो एतद् अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो-नोपद्यत इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वाना मपरस्माद् भावात् नामधेय प्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। यथा विल्वादो लम्बचूडक इति। विल्वं भरणाद् वा भेदनाद्वा।**

हिन्दी- पूर्व में यह जो आक्षेप किया गया था कि उत्तरकालिक क्रिया के द्वारा पूर्वोत्पन्न द्रव्यों का नामकरण करना उचित नहीं है, सो इसका समाधान यह किया जाता है कि लोक में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं जिसका सम्बन्ध भविष्य में होने वाली क्रिया के साथ होता है। फिर भी उसका नामकरण पूर्व में ही कर दिया जाता है। जैसे किसी बालक का नाम विल्वाद अथवा लम्बचूड रख दिया गया। 'द्वादशे पिता नाम कुर्यात्' इस विधि के अनुसार जन्म के बारहवें दिन नामकरण किया जाता है, नामकरण के समय 'विल्वं अत्ति', अथवा 'लम्बाचूडा यस्य' नाम का यह निर्वचन उपपन्न नहीं है तथापि उत्तरकालिक क्रिया के योग से यह नामकरण सार्थक माना जाता है। इसी प्रकार बिल्व फल का नामकरण भी परमेश्वर ने उसके उत्तरकालिक क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण किया है, 'बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद् वा'' निर्वाचन से ज्ञात होता है कि विल्वफल, खाने वाले का भरण करता है, तथा खाने के समय वह अवश्य फोड़ा जाता है इसी उत्र कालिक क्रिया 'भरण' तथा 'भेदन' के द्वारा बिल्व फल का बिल्व नामकरण सार्थक एवं उपपन्न होता है।

इति चतुर्थः पादः

8.4.5 अथ प्रथमाध्याये पञ्चमः पादः

मूल- **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते, अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्या स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ साधकञ्च।**

हिन्दी- निरुक्तकार यास्क 'अथ' शब्द के द्वारा निरुक्तशास्त्र के मुख्य प्रयोजन को प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा करते हैं। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, मन्त्रों का यथार्थ परिज्ञान अतः ग्रन्थकार यह निर्देश करते हैं कि निरुक्तशास्त्र को जाने बिना मन्त्रों का अर्थपरिज्ञान नहीं हो सकता है, अर्थ बोध नहीं होने पर स्वर-संस्कारों का उपदेश भी निरर्थक हो जाता है, अतः मन्त्रों का अर्थबोध कराने के कारण यह निरुक्तशास्त्र व्याकरण शास्त्र का पूरक तथा शास्त्रानुमोदित अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण स्वार्थ साधक भी कहा जाता है।

मूल- **यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः**

तदेतेनोपेक्षितव्यम्।

हिन्दी- यदि निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन मन्त्रार्थ परिज्ञान के लिए है, तो यह अनर्थक अर्थात् व्यर्थ है क्योंकि आचार्य कौत्स के अनुसार मन्त्रों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है, वे यज्ञादिकर्मों में उच्चारण मात्र से कृतार्थ माने जाते हैं मन्त्रों के अर्थराहित्य को निम्नलिखित प्रकार से अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

मूल- नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

हिन्दी- आचार्य कौत्स जिन-जिन कारणों से मन्त्रों को अर्थरहित मानते हैं उनको क्रमशः उपस्थापित किया जाता है, जिनमें सबसे प्रथम कारण यह बतलाया जा रहा है कि वेद मन्त्रों में पद विन्यास तथा उनका पौर्वापर्य निश्चित होता है जैसे 'अग्निमीडे पुरोहितं' मन्त्र को शब्दान्तर से 'बह्निमीडे पुरोधसं' अथवा पुरोहित मग्निमीडे' अनियत आनुपूर्वी से उच्चारित नहीं किया जा सकता है, जबकि लोक में अर्थवशात् पदों का स्थल परिवर्तन भी किया जा सकता है, जैसे 'जलमानय' वाक्य को आनयं जलं, देहि पानीयं, नीरं प्रयच्छ, आदि वाक्यों के द्वारा भी कहा जा सकता है, क्योंकि इन पदों में अर्थ बोध एक समान होता है, अतः कह सकते हैं कि वेद मन्त्रों में पदानुपूर्वी नियत होने के कारण उनमें कोई अर्थ नहीं होता है। उनका अपरिवर्तित स्वरूप ही अलौकिक श्रेयःसाधक माना जा सकता है।

मूल- अथापि ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ना विधीयन्ते ''उरु प्रथस्वेति प्रथयति'' प्रोहाणीति प्रोहति।

हिन्दी- आचार्य कौत्स मन्त्रों के अर्थरहित होने में यह दूसरा कारण बतलाते हैं कि मन्त्रों में स्वतः अपने अर्थ को व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं होता, इसीलिये उनके अर्थों को ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा व्यक्त किया जाता है, तदनुसार उन्हें वैदिक कर्मों में विनियुक्त किया जाता है, जैसे उरु प्रथस्वोरुते यज्ञपतिः प्रथताम् ''यह मन्त्र प्रथन-विस्तारण अर्थ को स्वयं नहीं व्यक्त करता है, अपितु उरुप्रथ स्वेति प्रथयति'' इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा पुरोडाश प्रथन में विनियुक्त किया जाता है, इसी प्रकार प्रोहण कर्म के लिये जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसका विनियोग भी ब्राह्मण वाक्य के द्वारा किया जाता है, इससे यही तथा उद्गत होता है कि मन्त्र अपने अर्थ को स्वयं नहीं व्यक्त करते हैं, वे तो ब्राह्मण वचनों के द्वारा ही कृतार्थ होते हैं अतः निरर्थक कहे जा सकते हैं।

मूल- अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति, ओषधे! त्रायस्वै-नम्। स्वधिते मैन ंँ ति ंँ सीः इत्याह हिंसन्।

हिन्दी- मन्त्र के अनर्थक कहने में यह दूसरा कारण बतलाया जाता है, कि मन्त्रों की अर्थ अनुपपन्न = असंगत होता है, जैसे ''ओषधे त्रायस्वैनं'' इस मन्त्र का विनियोग बालक के चूड़ाकरण के समय उसके दक्षिण कर्ण के उपर के केश' में स्थापित कुशपत्र के छेदन में किया गया है। वहाँ पर कुशपत्र केश के साथ स्वयं कर्तित होता है, वह बालक की रक्षा कैसे करेगा, जबकि अर्थानुसार वहाँ रक्षा करने की प्रार्थना व्यक्त होती है, इसी प्रकार ''स्वाधिते मैंने'' हिंसीः'' यह मन्त्र क्षुर के लिये विनियुक्त है, जो स्वतः केश कर्तन रूप हिंसा कर रहा है, उसी से हिंसा न करने की प्रार्थना की जा रही है, जो असंगत है। अतः असंगत अर्थ के कारण मन्त्र अनर्थक कहे जाते हैं।

मूल- **अथापि विप्रतिसिद्धार्था भवन्ति, एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः। असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्। अशुत्ररिन्द्र जज्ञिसे। शतं सेना अजयत् साकमिन्द्र :।**

हिन्दी- मन्त्र के अनर्थक कहे जाने में यह भी एक कारण है कि मन्त्रों के परस्पर विरुद्ध अर्थ दिखाई पड़ते हैं जैसे एक मन्त्र में कहा गया है कि एक ही रुद्र उत्पन्न हुआ। दूसरा कोई नहीं, परन्तु दूसरे मन्त्र में इसके ठीक विपरीत कहा गया है कि पृथिवी पर हजारों की संख्या में रुद्र उत्पन्न हुये हैं। इसी तरह एक मन्त्र में इन्द्र को अजात शत्रु बतलाया गया है वहीं दूसरे मन्त्र में इन्द्र के द्वारा सैकड़ो शत्रु सेनाओं को जीतने की भी बात कही गयी है इस तरह परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण भी मन्त्रों को अनर्थक कहा जा सकता है।

मूल- **अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति, अग्नये सम्यिमानाय अनुब्रूहीति।**

हिन्दी- स्वाध्याय काल में ही ऋत्विजों को अपने - अपने कर्त्तव्य की जानकारी करा दी जाती है, फिर भी यज्ञ के समय अध्वर्युः होता को वही वही कार्य करने के लिए आदेश देता है, जिसको वह पहले से जानता है, 'अग्नसे ममिध्यभानाय अनुब्रुहि'' (श0ब्रा0 1/3/2/3) अर्थात् प्रदीप्त होने वाले अग्नि के लिये मन्त्रोच्चारण करो। भला कौन नहीं जानता है कि आग्नि में आहुति तभी डालनी चाहिए, जब वह प्रज्जवलित हो। इस प्रकार विज्ञात अर्थ के सम्प्रेषण से मन्त्र का आनर्थक्स ही सिद्ध होता है।

मूल- **अथाप्याह - 'अदितिः सर्वम्' इति अदितिद्यौ रदितिरन्तरिक्षमति'' तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।**

हिन्दी- मन्त्र के अनर्थक होने मे यह भी एक कारण है कि मन्त्र में अदिति को ही सब कुछ कह दिया है, जैसे ''आदितिद्यौरदितिरन्त रिक्षमिति'' इस मन्त्र की व्याख्या आगे की जाएगी।

विशेष- मंत्र में अदिति को द्यलोक तथा अन्तरिक्ष लोक माता पुनः पिता, पुत्र आदि परस्पर विरुद्ध अर्थ से युक्त किया गया है, जो व्यावहारिक दृष्टि से उपपत्र नहीं हो सकता है, इस कारण से मन्त्रों को अनर्थक बतलाया जा सकता है।

मूल- **अथापि अविस्यष्टार्था भवन्ति, अम्यग् यादृश्मिन् जारयायि, काणुका, इति।**

हिन्दी- मन्त्र के अनर्थक कहे जाने में यह भी एक कारण है कि कतिपय अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका प्रभृति मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाते हैं।

विशेष- उपर्युक्त सात कारणों को दिखलाकर आचार्य कौत्स वेद मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध करना चाहते हैं, तत्कालीन अन्य आचार्यों की दृष्टि में मन्त्र उपर्युक्त कारणों से अनर्थक नहीं कहे जा सकते हैं, जिसे अब आचार्य यास्क समाधान के रूप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

मूल- **अर्थवन्तः शब्द सामान्यात्**

हिन्दी- मन्त्रों के अर्थ होते हैं, क्योंकि लोक एवं वेद में समान रूप से शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे गो आदि शब्द लोक में अर्थवान है, वही गो आदि शब्द वेद में अर्थ रहित कैसे हो सकते हैं, अतः लोक एवं वेद के शब्द समान होने के कारण मन्त्र अर्थवान कहे जा सकते हैं।

विशेष- अब लौकिक उदाहरण के उपस्थापन के उपरान्त वैदिक उदाहरण के लिए ब्राह्मणवचन प्रस्तुत करते हैं।

मूल- **'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म-क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्'**

हिन्दी- ब्राह्मण वचन भी वेदमन्त्रों के सार्थक होने का समर्थन करते हैं, उन्हें अर्थवान् समझकर ही

भिन्न-भिन्न श्रौतकर्मों में द्रव्य-देवता-क्रिया के स्मारक के रूप में उनका विधान-विनियोग किया जाता है। मन्त्रों के अर्थवान् होने के सम्बन्ध में ब्राह्मण वचन से यह स्पष्ट होता है कि 'यज्ञ की समृद्धि वही है। जो यज्ञ के स्वरूप को समृद्ध करे, यज्ञ का स्वरूप द्रव्य-देवता-त्याग के रूप में माना गया है, इसी द्रव्य-देवता-त्याग क्रिया या स्मरण वेद मन्त्रों के द्वारा कराया जाता है, अतः मन्त्र सार्थक कहे जा सकते हैं।

मूल- **''क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः'' इति।**

हिन्दी- मन्त्रों के स्वरूप समृद्धि को प्रमाणित करने के लिये आचार्य यास्क मन्त्र के एक अंश को उद्धृत करते हैं परन्तु यहाँ पुरा मन्त्र उदाहरणीय एवं व्याख्येय है, ''इहैव स्तं या वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वेगृहे'' (ऋ. 8/3/28/12) सोम के साथ सूर्या के विवाह के अवसर, यह मन्त्र विनियुक्त है, मन्त्र में परमेष्ठी ऋषि के द्वारा सोम-सूर्या (पति-पत्नी) को आशीर्वाद दिया गया है, कि तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में यहीं अपने घर में रहो, कभी भी एक दूसरे से पृथक मत होवो, अपने पुत्र पौत्रों के साथ खेलते तथा सदैव प्रसन्न रहते हुए जीवन का समग्र आयु प्राप्त करो।

विशेष- पूर्ण आशीर्वाद से भरा हुआ उपर्युक्त समग्र मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है, जिसे कथमपि अनर्थक नहीं कहा जा सकता है, अब आचार्य यास्क सामान्येन मन्त्रों की सार्थकता प्रमाणित करने के उपरान्त कौत्स के आक्षेपों का क्रमशः खण्डन करते हैं।

मूल- **यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्। यथा इन्द्राग्नी पिता पुत्रामिति।**

हिन्दी- यह जो पूर्व में कहा गया था कि मन्त्र नियत - पाद योजना वाले तथा नियत पदक्रम वाले होते हैं अतः निरर्थक हैं यहाँ उसका यह समाधान किया जाता है कि केवल नियत पदयोजना तथा नियत क्रम के कारण कोई पद अथवा वाक्य निरर्थक नहीं हो जाता है क्योंकि लोक में भी नियतानुपूर्वीक पद देखे जाते हैं जैसे - इन्द्राग्नी, तथा पिता पुत्रौ। लोक में कहीं भी अग्नीन्द्रौ, पुत्रपितरौ प्रयोग नहीं देखा जाता हैं। अतः नियत पद प्रयोग के कारण मन्त्रों को अनर्थक नहीं कहा जा सकता है।

मूल- **यथो एतद्ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ना विधीयन्ते इति उदितानुवादः स भवति।**

हिन्दी- यह जो दूसरा आक्षेप किया गया था, कि मन्त्र यदि अर्थवान् होते, तो उनके अर्थों के प्रतिपादन हेतु ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा पुनः विधान नहीं किया जाता। इसका यह समाधान दिया जाता है कि यह तो उत्त्पानुवाद मात्र है, अपूर्व विधान नहीं है, अपूर्वता तो मन्त्रार्थ में ही है, इससे मन्त्र और ब्राह्मण दोनों अर्थवान् प्रमाणित होते हैं, मन्त्र स्वयं अपने आपको कर्म में विनियुक्त नहीं करता है तो ब्राह्मण वाक्य मन्त्रार्थानुरोध से उक्तानुवाद द्वारा मन्त्र कर्म में विनोयोग करा देता है।

मूल- **यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नाय वचनादहिंसा प्रतीयेत।**

हिन्दी- पहले यह जो शङ्का की गयी थी, कि कुछ मन्त्रों के अर्थ असंगत होते हैं, तथा उदाहरण के रूप में - ''ओषधे त्रायस्व, स्वधिते मैनं हिंसीः'' उद्धृत किया गया था, उसका समाधान यह दिया जाता है कि मन्त्रगत ओषधि शब्द से ओषध्याभिमानी देवता से त्राण की कामना की गयी है, जो कि उचित ही है। दूसरे मन्त्र में हिंसा की निवृत्ति की प्रार्थना की गयी है, क्योंकि वेदविहित होने के कारण केशकर्त्तनादि में भी अहिंसा ही समझनी चाहिए।

मूल- **यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति, इति लौकिके ष्वप्येतद्। यथा असपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति।**

हिन्दी- पहले यह जो कहा गया था, कि मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थवाले होते हैं, अतः निरर्थक हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक वाक्यों में भी इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ देखे जाते हैं, फिर भी वे अनर्थक नहीं माने जाते हैं। उदाहरण में यह जो बताया गया था कि एक ही रुद्र उत्पन्न हुआ, पुनः दूसरे मन्त्र में असंख्य रुद्रो की उत्पत्ति बतलायी गयी, इसको विरुद्ध अर्थ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि देवता एक होते हुए भी अपनी शक्ति से अनेक होने का सामर्थ्य रखते हैं, श्रुति भी ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप इयते'' इत्यादि मन्त्रों द्वारा उक्त तथ्य को प्रमाणित करती है, इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में इन्द्र को अजात शत्रु कहकर पुनः इन्द्र के द्वारा हजारों शत्रुओं की सेनाओं को जीतने की बात कही गयी है, जो परस्पर विरुद्ध है, सो इसका समाधान यह है कि लोक में इसी प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं, जैसे असपत्नोऽयं ब्राह्मणः यह ब्राह्मण अजातशत्रु है। शत्रुओं की अल्पता में वाक्य का तात्पर्य है सर्वथा अभाव में नहीं। इसी प्रकार 'अनमित्रो राजा' वाक्य से राजा को बिना मित्र वाला बतलाया गया है, परन्तु इसका तात्पर्य है, अल्प मित्र तथा अधिक शत्रु वाला राजा होता है क्योंकि मित्र-शत्रु और उदासीन सभी के होते हैं यह बात स्मृत्ति ग्रन्थों में कही गयी हैं। जैसे-

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीन भमवः।।

मूल- **यथो एतज्जानत्तं सम्प्रेष्यनीति। जानन्तममिवादयते, जानते मधुपक प्राहेति।**

हिन्दी- यह जो कहा गया था, कि मन्त्र में 'अग्नीत्' नामक ऋत्विक् को अग्नि विहरण के लिये प्रैष (आज्ञा) दिया जाता है जबकि वह पहले से ही अपना कर्त्तव्य जानता है, अतः जानने वाले को प्रैष देना निरर्थक हैं, सो ठीक नहीं है क्योंकि लोक में भी गुरू, अपने शिष्य का नाम गोत्र आदि यद्यपि जानता है फिर भी शिष्य गुरु को प्रणाम करते समय अपना नाम एवं गोत्र का उच्चारण करता है, इसी प्रकार विवाह के समय वर (दूल्हा) यह देखता है कि यह मधुपर्क = निष्ठात्र है, जो मुझे खाने के लिए दिया जा रहा है, फिर भी देते समय 'मधुयर्को मधुर्षकः'' ऐसा तीन बार कहा जाता है इसे निरर्थक नहीं माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञात के प्रति प्रैष भी निरर्थक नहीं कहा जा सकता है।

मूल- **यथो एतददितिः सर्वामिति, लौकिकेष्येतद्। यथा सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयमिति।**

हिन्दी- पहले यह जो कहा था कि अदितिः ही सब कुछ है ऐसा मन्त्र में कहा जाता है, जो ठीक नहीं है, इसका समाधान यह दिया जाता है कि लोक में भी श्रद्धा तिशय से किसी देवता को भी 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' आदि के द्वारा माता पिता कहा जाता है, जल में सभी रसों की प्राप्ति बतलायी जाती हैं। इससे वाक्य अनर्थक नहीं हो जाते हैं, अतिशय आदर का भाव वहाँ अन्तर्हिति रहता है।

मूल- **अयो एतद्विस्पष्टार्था भवन्तीति । नैषस्थाणोपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुष-विशैषों भवति। पारोवर्यवित्सुतु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।**

हिन्दी- पूर्व में अम्यक्, जारयायि, काणुका इत्यादि मन्त्रों को उदाहृत कर यह जो कहा गया था, कि इन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं है सो ठीक नहीं है, क्योंकि पशु को बांधने के लिये गाड़े गये खूंटे से कोई अन्धा टकराकर गिर जाता है तो यहाँ उस खूंटे का कोई अपराध नहीं होता है, गिरने वाले पुरुष अन्धेपन का अपराध (दोष) माना जाता है, उसी प्रकार निगम-निरुक्त आदि को अच्छी तरह न जानने वाला पुरुष यदि कतिपय मन्त्रों का अर्थ नहीं जानता, तो इसमें मन्त्र का कोई दोष नहीं होता है, अपितु निरुक्तादि मन्त्रार्थ बोधक शास्त्रों से अपरिचित होना ही दोष है, जनपदीय कार्यों में अपनी विद्या की कुशतलता से ही पुरुष जाना जाता है, शास्त्रों के जानने वाले विद्वानों में भी बहुज्ञ एवं बहुश्रुत विद्वान् ही प्रशंसनीय होता है, क्योंकि वह अपनी बहुज्ञता से अविस्पष्टं अर्थवाले मन्त्र की भी व्याख्या अतीव सरलता से कर देता है, उसे किसी भी मन्त्र में कठिनता इसलिये नहीं होता, क्योंकि वह शास्त्रीय चक्षुष्मान होता है, लोक में अचक्षुष्मान् (अंधा) ही खूंटे से टकराकर गिरता है तथा दोष खूंटे को देता है, इसीलिए आचार्य यास्क ने लैकिक न्याय को उदहृत किया है।

नैष स्थाणोरपराधः यदेनमाधोन पश्यति, पुरुषापराधः स भवतीति।

इति पञ्चमः पादः

8.4.6 बोध प्रश्नोत्तर

प्र0 निरुक्त में कितने शब्दों का निर्वचन किया गया है?

उ0 निरुक्त में चार प्रकार के पदों का निर्वचन बताया गया है। जिन्हें नाम, आख्यात्, उपसर्ग, निपात कहा गया है।

प्र0 नाम किसे कहते हैं, तथा आख्यात का लक्षण क्या है?

उ0 सामान्यतः सुबन्त पदों को नाम कहा जाता है, जिसमें सत्त्व की प्रधानता होती है, सत्व-लिङ्ग, संख्या से युक्त द्रव्य को कहते हैं, आख्यात् का लक्षण - 'भाव प्रधानमा ख्यात्म्' किया गया है। भाव-व्यापार और क्रिया को कहा जाता है।

प्र0 भाव विकार कितने और कौन होते हैं?

उ0 भाव विकास छः बतलाये गये हैं, जिनके नाम हैं जायते, अस्ति,विपरिणमते, बर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।

प्र0 निरुक्त में किस आचार्य ने शब्द को अनित्य बतलाया है?

उ0 आचार्य औदुम्परायण ने शब्द को अनित्य बतलाया है।

प्र0 किस के मत में 'उपसर्ग' वाचक अथवा द्योतक माने जाते हैं?

उ0 आचार्य शाकटायन के मत में उपसर्ग द्योतक, तथा आचार्य गार्ग्य के मत में वाचक माने जाते हैं।

प्र0 निपात कितने प्रकार के बतलाये गये हैं?

उ0 निपात तीन प्रकार के बतलाये गये हैं, (1) उपमार्थक निपात (2) कर्मोपसग्रहात्मक निपात

(3) पद पूरणार्थक निपात।

प्र0 नामों को कौन आचार्य आख्यातज मानते हैं?

उ0 आचार्य शाकटायन तथा निरुक्तकार सभी नाम पदों को आख्यातज मानते हैं, जबकि आचार्य गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण कतिपय नामों को ही आख्यातज मानते हैं सभी को नहीं।

प्र0 मन्त्रों का अर्थनहीं होता है, यह किस आचार्य का मत है?

उ0 आचार्य कौत्स के अनुसार मन्त्रों में अर्थ नहीं होता है उनका मत है, कि मन्त्र केवल उच्चारणीय होते हैं अर्थवान् नहीं।

प्र0 उपमार्थक निपात कितने प्रकार के बतलाये गये हैं?

उ0 निपातों में इव, न, चित्, नु ये चार निपात उपमार्थक बतलाये गये हैं।

प्र0 'न' निपात के उपमार्थक एवं निषेधार्थक होने के भेद क्या हैं?

उ0 निषेधार्थक निपात 'न' सदैव पाद के प्रारम्भ में प्रयुक्त होता है, जबकि उपमार्थक निपात 'न' सदैव वाक्य के मध्य में प्रयुक्त होता है।

प्र0 निपातों का प्रतिपादन निरुक्त के किस पाद में किया गया है?

उ0 निरुक्त के प्रथम अध्याय के द्वितीय एवं तृतीय पादों में निपात का विस्तार से विवेचन किया गया है।

प्र0 पञ्चम पाद का प्रतिपाद्य विषय क्या है।

उ0 पञ्चम पाद में मन्त्रों के सार्थक होने का प्रामाण्य पूर्वोत्तर पक्षों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

इकाई -9 : केनोपनिषद् - व्याख्या एवं बोध प्रश्न

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. इकाई की परिधि
4. इकाई में नियत विषय का व्याख्यान
5. बोध प्रश्नोत्तर

9.1 उद्देश्य

स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थी के लिए समग्र संस्कृत साहित्य का बोध होना आवश्यक माना जाता है, परन्तु थोड़े समय में सम्पूर्ण साहित्य का यथातथ्य बोध करा पाना कठिन एवं अत्यधिक श्रमसाध्य है, इसीलिए द्वितीय इकाई में वेदाङ्गों का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'निरुक्त' का परिचय प्रथम अध्याय के विषयों के प्रतिपादन से कराया गया, अब तृतीय इकाई में उपनिषद् साहित्य के सर्वमान्य ग्रन्थ 'केनोपनिषद' से परिचित कराया जायगा।

9.2 प्रस्तावना

उपनिषद् ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य जीव-जगत् तथा ब्रह्म का निरुपण करना है, परन्तु केनोपनिषद में साक्षात् ब्रह्मविद्या स्वयं उपस्थित होकर देवताओं के अभिमान को नष्ट कर देती है, ब्रह्मविद्या वस्तुत: उपनिषद् विद्या है, वहीं उपनिषदों का परम प्रतिपाद्य है, अत: स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप 'केनोपनिषद' का परिज्ञान इस इकाई में कराया जायगा। अन्य उपनिषदों में जहाँ सृष्टि विद्या आदि के माध्यम से परमतत्त्व का निरुपण किया गया है वहीं केनोपनिषद् में गुरुशिष्य संवाद के माध्यम से सृष्टि के गुह्यातिगुह्य रहस्यों को साक्षात् ब्रह्म विद्या के द्वारा समझाया गया है, अत: अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इसका अधिक महत्त्व माना जाता है।

9.3 इकाई की परिधि

इस तृतीय इकाई में पाठ्यक्रम के रूप में सम्पूर्ण 'केनोपनिषद' रखा गया है, जिसमें कुल चार खण्ड हैं, खण्डों के अन्तर्गत पद्यात्मक एवं गद्यात्मक वाक्य प्राप्त होते हैं, मूलरूप में उनका उपस्थापन कर सरल तथा सुबोध हिन्दी भाषा के माध्यम से उनका तात्पर्य निरूपण करना ही इस इकाई की परिधि है।

9.4 नियत पाद व्याख्या

9.4.1 केनोपनिषद का व्याख्यान

अथ प्रथमः खण्डः

मूल - **ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः। केनेषितां वाच मियां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ 1 ॥**

हिन्दी- यह मन किससे प्रेरित हुआ अपने अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है, किससे प्रयुक्त होकर यह प्रमुख प्राण चलता है। सभी प्राणी किसके द्वारा प्रेरित होकर इस अभीष्ट वाणी को बोलते हैं, और कौन देव चक्षु एवं श्रोत को प्रेरित करता है ।। 1।।

विशेष- केनोपनिषद् वस्तुतः सामवेदीय तवल्कार शाखा का नवम् अध्याय है, इसके पूर्व में वैदिक कर्मों का प्रतिपादन किया गया है, अब निष्काम पुरुष के विशुद्ध अन्तः करण में अनित्य पदार्थो से वैराग्य हो जाने के उपरान्त नित्य शुद्ध बुद्ध प्रत्यगात्मा के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिसको 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्नोत्तर रूपा श्रुति के द्वारा इस उपनिषद में दिखलाया गया है।

मूल - **श्रोतस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकदमृता भवन्ति ॥ 2 ॥**

हिन्दी- जो श्रोत्र का श्रोत्र, मनका मन, तथा वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण, तथा चक्षु का चक्षु है, अर्थात् श्रोत्रादि में श्रवणादि का सामर्थ्य जिससे प्राप्त होता है, उसे जानकर धीर पुरुष वर्तमान शरीर त्याग के अनन्तर अमृत-अमर हो जाते हैं ।। 2 ।।

मूल- **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागाच्छति नो मनोन विद्मो न विजानीमो, यथैतद् अनुशिस्याद् अन्यदेव, तद् विदितात् अथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये मस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ 3 ॥**

हिन्दी- जो श्रोत्रादि का प्रेरक सर्वाधिष्ठान पर ब्रह्म है उसमें नेत्रादि इन्द्रियां नहीं जा सकती है, मन भी वहाँ नहीं पहुँच सकता है। अतः जिज्ञासु शिष्य को उस निरुपाधिक ब्रह्म का उपदेश कैसे करना चाहिए यह बात हम नहीं जान सकते हैं क्योंकि उस ब्रह्म के विषय में हम स्वयं नहीं जानते हैं, वह तो विदित वस्तु से अन्य ही है, तथा अविदित (अज्ञान) से भी परे है, ऐसा हमने अपने पूर्व पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति इसी रूप में उस निरुपाधिक चैतन्त ब्रह्म का व्याख्यान किया था।। 3 ।।

मूल- **यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 4॥**

हिन्दी- जो परब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु जो वाणी को प्रकाशित करता है, उसी को तुम ब्रह्म जानों, क्योंकि देशकाल से परिच्छिन्न जिस वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।। 4 ।।

विशेष- उपनिष्न् के तात्पर्य को प्रश्नोंत्तर रूप से दर्शाया गया है, जिसमें श्रोणिय ब्रह्मनिष्ठ गुरू के पास पहुँच कर शिष्य द्वारा अपनी प्रत्यागात्मक विषयक जिज्ञासा का उपस्थापन तथा तदुपरान्त आचार्य द्वारा समाधान बतलाया गया है, गुरु एवं शिष्य के इस श्रुति संवाद में

लौकिक प्रष्टा एवं वक्ता की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मूल - **यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमत्।**

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 5 ॥

हिन्दी- जिसे कोई भी मन से मनन नहीं कर सकता है, परन्तु जो मन का भी मनन कर सकता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, देश काल से परिच्छिन्न जिस वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

मूल- **यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति।**

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 6 ॥

हिन्दी- जिसे नेत्र के द्वारा नहीं देखा जा सकता है, परन्तु जो अनेकानेक नेत्रों को देख सकता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, देशकाल से परिच्छिन्न जिस वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

मूल- **यच्छोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।**

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 7 ॥

हिन्दी- जिसे श्रोत्र के द्वारा नहीं सुना जा सकता है, परन्तु जो श्रोत को भी सुन सकता है, उसी को तुम ब्रह्म जानों , देशकाल से परिच्छिन जिस वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नही है।

मूल- **यत्प्राणेन प्राणिती येन प्राणीः प्रीणयते।**

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ 8 ॥

हिन्दी- जिसे कोई नासिकाछिद्र के द्वारा प्राणन् = श्वसन का विषय नहीं बना सकता है, परन्तु जिस आत्म चैतन्य के द्वारा नासिका छिड्रववर्ती घ्राण प्राणम्-श्वसन् क्रिया में समर्थ होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो देशकाल से परिच्छिन्न जिस वस्तु की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।''

विशेष- इस खण्ड में इन्द्रियों के स्थान श्रोत्र-नेत्र, घ्राण आदि के द्वारा विषयों के ग्रहण कर सकने में जिस अन्तश्चेतना का योग दान प्राप्त होता है, उसी प्रत्यगात्मचैतन्य को ब्रह्म शब्द से व्यवहृत किया गया है, गूंगे अथवा बधिर को मुख एवं श्रोत रहने पर भी बोलने अथवा सुनने का सामर्थ्य नहीं होता है, क्योंकि उन इन्द्रियों को अन्तश्चेतना की प्रेरणा प्राप्त नहीं होती है।

इति प्रथमः खण्डः

9.4.2 अथ द्वितीय : खण्डः

मूल- **यदि मन्य से सुवेदेति दरहमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथनु मीमांस्यमेव ते मन्त्र विदितम् ॥ 1 ॥**

हिन्दी- यदि कदाचित् ऐसा मानते हो, कि ब्रह्म को मैं अच्छी तरह जानता हूँ तो निश्चय ही तुम ब्रह्म के स्वरूप को थोड़ा ही जानते हो, इस ब्रह्म का जो मनुष्यों में आध्यात्मिक और देवताओं में आधिदैविक रूप विदित है, वह अत्यल्प ही है, अतः तेरे लिये ब्रह्म अभी विचारणीय ही है। इस प्रकार गुरू का उपदेश सुनकर शिष्य ने एकान्त देश में पुनः ब्रह्म का विचार

किया, तत्पश्चात् उसने कहा कि अब मैंने ब्रह्म को अच्छी तरह जान लिया, ऐसा मैं समझना हूँ ।। 11 ।।

मूल- **नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।**

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ 2 ॥

हिन्दी- ब्रह्म को अच्छी तरह जान लिया, ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ, ऐसा भी मैं नहीं समझता हूँ, अतः ब्रह्म को मैं जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ। हम शिष्यों में से जो कोई ऐसा कहता है कि "मैं तो ब्रह्म को जानता हूँ और वस्तुतः नहीं भी जानता हूँ" वही वस्तुतः ब्रह्म को जानता हूँ।। 2 ।।

मूल- **यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः।**

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ 3 ॥

हिन्दी- जिस ब्रह्मवेत्ता को, ब्रह्म अविदित है, उसी को वस्तुतः विदित है, ऐसा समझना चाहिए, और जिसे ब्रह्म विदित है, वह वस्तुत उसे नहीं जानता, क्योंकि वह ब्रह्म जानने वालों को अविज्ञात रहता है, और न जानने वालों को ज्ञात होता है, अर्थात् अन्य वस्तु की भाँति फलव्याप्ति का विषय न होने से और ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी होने से ऐसा कहा गया है, अतः विद्वानों की दृष्टि में स्वयं प्रकाश वह सदा अविषय ही माना गया है।

मूल- **प्रतिबोध विदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते।**

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ 4 ॥

हिन्दी- जो प्रत्येक बोध में प्रत्यगात्मा के रूप से विदित है, वही ब्रह्म है और यही उस ब्रह्म का ज्ञान है, ऐसे ब्रह्म ज्ञान से ही अमृतत्व को प्राप्त करता है, अमरत्व नित्य आत्म स्वरूप से ही प्राप्त होता है, ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्य मात्र मिलता है अर्थात् विद्या से आवरण को निवृत्ति होने पर अमरत्व नित्य चैतन्य आत्म स्वरूप से ही मिलना है अन्य से नहीं ।। 4 ।।

मूल- **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्या स्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ 5 ॥**

हिन्दी- यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है, और यदि उसे इस मनुष्य जन्म में रहते रहते नहीं जान सका तो, समझो बहुत बड़ी क्षति हो गयी। अतः बुद्धिमान पुरुष समस्त प्राणियों में उस ब्रह्म तत्व को प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक से वर्तमान शरीर त्याग के अनन्तर अद्वैतभाव रूप से क्षमा हो जाते हैं, अर्थात् - ब्रह्म ही हो जाते हैं।

इति द्वितीयः खण्ड :

9.4.3 अथ तृतीयः खण्डः

मूल- **ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणे-विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माक-मेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ 1 ॥**

हिन्दी- यह प्रसिद्ध है कि पूर्वोक्त ब्रह्म ने देवासुर संग्राम में देवताओं के लिये असुरों को जीता। उसी ब्रह्म की विजय में देवता गण महिमान्वित हुये, देवतागण इस सच्चाई को भूलकर अपनी

विजय बतलाने लगे, यह विचार आते ही वे कहने लगे, हमने असुरो को जीत लिया, यह विजय हमारी है, और यह महिमा -(सामर्थ्य) भी हमारी है।। 1 ।।

मूल- **तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्योह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ 2 ॥**

हिन्दी- देवताओं के इस मिथ्या अभिमान को इस ब्रह्म ने जान लिया, और वह देवताओं के सामने अपने योग माहात्म्य से यक्ष रूप में प्रकट हुआ, तब देवता लोग, उसे न जान सके कि यह यक्ष कौन है।

मूल— **ते अग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि कि मेतद्यक्षमिति तथेति ॥ 3 ॥**

हिन्दी- उन देवताओं ने अग्नि से कहा-हे जातवेद । इसे जाकर पता लगावो, कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने कहा - अच्छी बात है, मैं जाकर पता लगाता हूँ।। 3 ।।

मूल- **तदभ्यद्रवत तमभ्यवदत् को ऽसीति आग्निर्वा अहमास्मि इत्थब्रबीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ 4 ॥**

हिन्दी- अग्नि, उस यक्ष के पास पहुँच गया, कुछ पूछने की इच्छा से आये हुये उस अग्नि से यक्ष ने पूछा- तू कौन है? उसने कहा मैं अग्नि हूँ मेरा नामजातवेदा है।

मूल- **तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्व दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ 5 ॥**

हिन्दी- पुनः उस यक्ष ने अग्नि से पूछा, यदि तुम जातवेदा अग्नि हो, तो तुम्हारे में क्या सामर्थ्य है? अग्नि ने कहा कि पृथिवी में जो कुछ यह स्थावर जङ्गमादि पदार्थ है, उन सभी को मैं जला सकता हूँ।। 5 ।।

मूल- **तस्मै तृणं निदधावेतद् दह इति, तदुप-प्रेयाय सर्वजवेन तन्त्र शशांक दग्धुं, सतत एवं निववृत्ते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥ 6 ॥**

हिन्दी- तब यक्ष ने उस अग्नि के लिये तिनका रख दिया, और कहा, इस जलाओ, अग्नि उस तृण के पास गया, और अपने सम्पूर्ण वेग से उस तिनके को जलाना चाहा, परन्तु उसे जला न सका, वह बिना कुछ कहे लज्जित होकर उस यक्ष के पास से लौट आया, और देवताओं के समक्ष कहा, कि मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है? ।। 6 ।।

मूल - **अथ वायुमब्रुवन वायवे तद्विजानीहिकिमेतद् यक्षमिति तथेति ॥ 7 ॥**

हिन्दी- तत्पश्चात् उन देवताओं ने वायु से कहा- हे वायो! तुम जाकर पता लगावो कि यह यक्ष कौन है? वायु ने भी कहा ठीक है मैं जाकर पता लगाता हूँ।

मूल- **तदभ्यद्रवत तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमास्मि इत्यव्रवीन् मातरिभ्वा वा अहमस्मीति।**

हिन्दी- वायु देवता भी उस यक्ष के पास पहुँचा, यक्ष ने वायुदेवता से पूछा तुम कौन हो वायु ने उत्तर दिया मैं वायु देवता हूँ, मुझे मातरिश्वा के नाम से जाना जाता है।

मूल- **तास्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ 9 ॥**

हिन्दी- तब यक्ष ने पूछा, यदि तुम मात रिश्वा वायु हो तो, तुझमें क्या सामर्थ्य है? वायु ने कहा, पृथिवी में स्थावरङ्गमारि जो भी पदार्थ हैं, उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ।

मूल- **तस्मै तृणं निदधौ एतद् आदत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकं विज्ञातुं आदातं स तत एव निववृते नैतदशकं यदेतद्यक्षमिति ॥ 10 ॥**

हिन्दी- तब उस यक्ष ने वायु के समक्ष भी वही तिनका रख दिया, और कहा कि इसे ग्रहण करो,

वायु उस तिनके के पास गया, पर अपने सारे वेग से भी वह उस तिनके को ग्रहण नहीं कर सका, तब वायु उसके पास से ही लौट आया और कहा, यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।

मूल- **अथेन्द्रमब्रुवन् मधवन्नेत द्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत् तस्मातिरोदधे ॥ 11 ॥**

हिन्दी- तत्पश्चात् देवताओं ने इन्द्र से कहा हे मधवन् यह यक्ष कौन है, अब इसका पता आप स्वयं लगाइये, तब इन्द्र बहुत अच्छा कहकर उस यक्ष के पास गये, परन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया।

मूल- **स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम, बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥ 12 ॥**

हिन्दी- जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था। उसी आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के पास वह इन्द्र आया, और स्वर्णभरण भूषिता अथवा हिमालयतनया रूप उमा से पूछा, यह यक्ष कौन है ?

इति तृतीय खण्डः

9.4.4 अथ चतुर्थः खण्डः

मूल- **सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति॥**

हिन्दी- उस ब्रह्मविद्यारूप उमा ने इन्द्र से कहा-यह ब्रह्म है, तुम लोग ब्रह्म के ही विजय में इस प्रकार गौरव को प्राप्त किये हो, तब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ कि यह यक्ष पूजनीय ब्रह्म है।

मूल- **तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यद्ग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्यनेन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनप्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ 2॥**

हिन्दी- चूंकि अग्नि - वायु और इन्द्र इन तीन देवताओं ने ही संवादादि के द्वारा अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था, और उन्हीं तीनों ने सबसे पहले यह जाना कि यह यक्ष साक्षात् ब्रह्म है, अतः वे अन्य देवताओं की अपेक्षा ज्ञान-ऐश्वर्यादि में सबसे प्रमुख हो गये।

मूल- **तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरा मिवान्यायन् देवान्स ह्यिनन्नेदिष्ठम् पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ 3 ॥**

हिन्दी- उन तीन देवताओं में भी इन्द्र इसलिये- देवाधिपति हो गये, क्योंकि उन्होनें ही समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था, और उन्होंने ही सर्व प्रथम हैमवती उमा द्वारा ब्रह्म का परिचय प्राप्त किया था।

मूल- **तस्मैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा 3इतीन्न्यमीमिषदा 3 इत्यधिदैवतम् ॥4॥**

हिन्दी- उस ब्रह्म उपासना सम्बन्धी यह आदेश है जो बिजली की चमक के समान एवं पलक झपकने के समान प्रकट हुआ, यही उस ब्रह्म का अधिदैवतरूप है।

मूल- **अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव न मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ 5॥**

हिन्दी- इसके बाद अब अध्यात्म उपासना का आदेश बतलाया जाता है, जो यह मन जाता हुआ सा कहा जाता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि मन

से ही ब्रह्म का स्मरण किया जाता है, और बार-बार मन के द्वारा ही उसके स्मरण का संकल्प किया जाता है।

मूल- **तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासित्तव्यं स य एतदेवं वेद्दाभि हेनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ 6 ॥**

हिन्दी- वही यह ब्रह्म बन है, अर्थात् वननीय = भजनीय है, अतः उस ब्रह्म की 'वन' नाम से उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है उस सभी प्राणी अच्छी तरह चाहने लगते हैं। ।। 6 ।।

मूल- **उपनिषदं भी ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमैति ॥ 7 ॥**

हिन्दी- ब्रह्म निष्ठ गुरू के पास पहुँच कर शिष्य ने जब अपने गुरूजी से प्रार्थना की कि हे गुरूजी मुझे अब उपनिषद = ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये, शिष्य के ऐसा कहने पर गुरूजी ने कहा, हमने मुझे उपनिषद् = ब्रह्मविद्या बतला दी है, अब उससे सम्बन्धित अन्य आवश्यक बाते तुझे बतलाते हैं।

मूल- **तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गनि सत्यमायतनम् ॥ 8 ॥**

हिन्दी- तप, दम, कर्म, और सम्पूर्ण वेद एवं उसके समस्त वेदाङ्ग उसी ब्राह्मनी उपनिषद् = ब्रह्मविद्या के प्राप्ति के साधन है तथा सत्यभाषण उसका आयतन = निवास स्थान है।। 8।।

मूल- **यो वा एतामेवं वेदापहृत्य पाम्मानमनत्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति प्रतिष्ठिति ॥ 9॥**

हिन्दी- जो कोई निश्चय पूर्वक इस ब्राह्मनी उपनिषद् को उपर्युक्त रीति से जानता है, वह अपने समस्त पापों के ध्वंस कर अनन्त एवं महनीय स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, पुनः संसार में जन्म नहीं लेता है।

इति चतुर्थ खण्डः

9.4.5 बोध प्रश्नोत्तर

प्र० केनोपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है?

उ० सामवेदीय तबल्कार शाखा के नवम् अध्याय को केनोपनिषद् कहा गया है, अतः इसका सम्बन्ध सामवेद से है।

प्र० केनोपनिषद् के नामकरण में प्रवृत्ति निमित्त क्या है?

उ० उपनिषद् का प्रथम मन्त्र 'केनोपनिषद्' पतति0' से प्रारम्भ होता है, यह प्रथम पद उपनिषद् के नामकरण में प्रवृत्ति निमित्त बतलाया गया है।

प्र० केनोपनिषद् में मुख्यतः किस विषय का प्रतिपादन किया गया है?

उ० केनोपनिषद् में मुख्यतः ब्रह्म विद्या का उपदेश किया गया है।

प्र० केनोपनिषद् में कुल कितने मन्त्र, खण्ड, एवं आन्हिक हैं।

उ० केनोपनिषद् में कुल 34 मन्क्ष हैं, जिन्हें चार खण्डों में तथा तीन आन्हिक में विभक्त किया गया है।

प्र० केनोपनिषद् का क्या कोई नामान्तर भी है?

उ० केनोपनिषद् को तवल्कारोपनिषद् के नाम से भी जाना जाता है, अतः यही नामान्तर भी है।

प्र0 उपनिषद् साहित्य में 'केनोपनिषद्' का महत्व क्यों है?

उ0 महत्त्वपूर्ण उपनिषदों पर आद्य शङ्कराचार्य ने भाष्य लिखा है, केनोपनिषद् पर उन्होंने दो भाष्य लिखा है, जिसका नाम पदभाष्य तथा वाक्यभाष्य इसी कारण इस उपनिषद् का विशेष महत्त्व माना जाता है।

प्र0 केनोपनिषद् में यक्ष का प्रादुर्भाव किस खण्ड से होता है।

उ0 केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में यक्ष का प्रादुर्भाव बतलाया गया है।

प्र0 केनोपनिषद् के किस खण्ड में हेमवत्ती उमा ने इन्द्र को उपदेश दिया है।

उ0 केनोपनिषद् के चतुर्थ खण्ड में भगवती उमा ने इन्द्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है।

प्र0 केनोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मविद्या के साधन कौन-कौन हैं।

उ0 तप, दम, कर्म, सम्पूर्ण वेद एवं वेदाङ्ग उस ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं।

----000-----

इकाई -10 वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा -

(क) उद्देश्य

(ख) प्रस्तावना

(ग) इकाई की परिधि

(घ) नियत अंश का व्याख्यान

(ङ) बोध प्रश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य वैदिक वाङमय के अन्तर्गत संहिता भाग तथा ब्राह्मण भाग से परिचित कराना है। इसके द्वारा आप वेद का सामान्य परिचय तथा वेद के चार मुख्य स्तम्भों (संहिता, ब्राह्मण,आरण्यक, उपनिषद्) में से प्रथम दो स्तम्भों का विस्तृत परिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

10.2 प्रस्तावना

तृतीय इकाई में प्रसिद्ध उपनिषद् ''केनोपनिषद्'' का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि वह पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित है, परन्तु इस इकाई का पाठ्य विषय निर्धारित किये गये हैं, जो हैं,वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत मन्त्र संहिता तथा ब्राह्मण भाग का विशेष विवेचन । इसी नियत अंश का विस्तृत विवेचन इस इकाई में प्रस्तुत किया जायेगा।

10.3 इकाई की परिधि

इस इकाई में वैदिक विद्वानों द्वारा सुविचारित एवं गवेषित तथ्यों में मन्त्र संहिता एवं ब्राह्मणभाग के सन्दर्भो को रखा जायगा। वैदिक वाङ्मय के इन दो स्तम्भों की विवेचना के पहले सामान्य रूप से वेद का स्वरूप एवं उसके रचना आदि के विषय में प्रसिद्ध विचारकों का मन्तव्य दर्शाया जायेगा । यही इस इकाई की परिधि कही जायगी।

10.4 नियत अंश का व्याख्यान

इस इकाई में वेद का सामान्य स्वरूप तथा रचनादिकाल का निर्देश कर मन्त्र संहिता एवं ब्राह्मण भाग के विषय में विस्तृत विचार किया जाना निर्धारित है, अतः यथाक्रम उनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है ।

10.5 वेद का सामान्य परिचय

भारताय मनीषियों ने मन्त्र ब्राह्मणात्मक अपौरूषेय शब्द राशि को 'वेद' शब्द से अभिहित किया है। उनके अनुसार वेद किसी पुरूष विशेष की वाणी नही, अपितु परमेश्वर का निश्वास् अर्थात

प्राण कहा जाता है, वेद शब्द के अर्थ के विषय में यद्यपि अनेक विचार प्राप्त होते हैं, फिर भी सर्वमान्य मत यही है कि वेद का अर्थ ज्ञान होता है, वह ज्ञान परमेश्वर का स्वरूप लक्षण है, ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''इस तैत्तिरीय श्रुति के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि जो ज्ञान सर्वदा नित्य, सत्य एवं अनन्त है वह ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर है, उस वेद-ज्ञान का बोध जिस शब्दराशि से साकल्येन प्राप्त होता है उसे भी वेद नाम से अभिहित किया जाता है।

10.5.1 वेद शब्द का अर्थ

वेद शब्द 'विद् ' धातु से करण तथा अधिकरण कारकों में 'घञ' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है, महर्षि पाणिनि के अनुसार 'विद् ' धातु का प्रयोग चार अर्थों में किया जाता है, जो कि इस प्रकार है - विद् ज्ञाने विद् सत्तायाम, विद्लृलाभे, विद् विचारणे,इन धातुओं में ''हलश्चेति'' सूत्र से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान किया गया है, जिससे 'वेद' शब्द बना है। ऋग्वेद प्रतिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति की प्रस्तावना में आचार्य विष्णु मित्र ने 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है, ''विद्यते ज्ञायते, लभ्यते वैभिर्धर्मादि पुरूषार्थ इति वेदः'' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरूषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान ही वेद शब्द वाच्य है, आचार्य सायण ने तैत्रिरीय भाष्य भूमिका में स्पष्ट कहा है कि ''इस प्राप्त्यनिषपरि हास्योरलौकिकमुपायं यो ग्रन्धोवेदयति न वेदः'' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार हेतु अलौकिक उपाय बतलाता है, वह वेद है। मनुस्मृति कार धर्म ज्ञान के प्रामाण्य के रूप में वेद को स्वीकार करते हैं,तद्यथा - ''धर्म'' जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति'' तैत्तिरीय संहिता में भी वेद के वेदत्व को इस प्रकार बतलाया गया है, ''वेदेन वै देवाः असुरणां वित्तं वेद्यमविन्दत्त तद वेदस्य वेदत्वम् '' अर्थात् वेद के द्वारा ही देवताओं ने असुरों की सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया, यही वेद का वेदत्व है।

वैदिक शास्त्रों में अन्तोदात्त 'वेद' शब्द का अर्थ कुशभुष्टि तथा आद्युदात्त वेद शब्द का अर्थ ज्ञान बतलाया गया है ज्ञान स्वरूप होते हुये भी वेद पारलौकिक आध्यात्म ज्ञान का साधन भी माना गया है, आचार्य सायव ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में इसी तथ्य को उद्घाषित किया है, तद्यथा-

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माात् वेदस्य वेद्वता ।।

इस प्रकार भारतीय मनीषियों की चिन्तन परम्परा में वेद शब्द का अभिद्येय अर्थ ज्ञान अथवा ज्ञान प्राप्ति का अलौकिक उपाय है। सम्पूर्ण विश्व को इसी ज्ञानालोक से आलोकित करने का प्रथम श्रेय परमेश्वर रूप वेद को ही दिया गया है, वेदव्यास ने वेद को साक्षात नारायण का स्वरूप बतलाया है, तद्यथा

वेद प्रणिहितो धर्मः, हथधर्मस्तद् विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भुरिति शुश्रुमः ।।

10.5.2 वेद शब्द में नामान्तर

वेद शब्द के पर्याचवाची शब्दों में श्रुति, आम्नाय, त्रयी, छन्दस् , स्वाध्याय, आगम तथा निगम मुख्य है, इनके नाम वेद के तटस्थ लक्षण के अनुसार रखे गये हैं, जिनका थोड़ा विवेचन यहाँ अति प्रासंगिक होगा।

श्रुति - प्राचीन् काल में गुरूमुख से सुनकर शिष्य गण वेदमन्त्रों को स्वर सहित उच्चारण करते थे, तथा उन्हें भी वेद कण्ठस्थ हो जाता था, पुनः वे अपने शिष्यों को पूर्व प्राप्त वेद शब्दों के उच्चारण को यथावत् ग्रहण कराते थे, इस प्रकार श्रवण परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेद का एक नाम ''श्रुति'' भी पड़ गया है, जिसका शाब्दिक तात्पर्य यही है कि जो सुनकर ग्रहण किया गया है।

आम्नाय - आम्नाय पद 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'म्ना' अभ्याप्ते धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, अभ्यास के द्वारा ग्रहण किया गया शब्दराशि, गुरूमुख से एक बार सुन लेने पर शिष्य के द्वारा बार बार अभ्यास के द्वारा कण्ठ किये जाने के कारण वेद को आम्नाय शब्द से कहा जाता है।

त्रयी ' 'त्रयी' शब्द भी वेद का समानार्थक है, क्योंकि इसमें ऋक् ययजु साम तीनों प्रकार के मन्त्र संग्रहीत किये गये होते हैं पद्य, गद्य एवं गेय मन्त्रों का संकलन सभी वेदों में होने के कारण 'त्रयी' शब्द सामान्येन चारों वेदों का वाचक माना जाता है।

छन्दस् - • वेद के पर्याय के रूप में 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है, महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'बहुलं छन्दसि' सूत्र का अनेकों बार प्रयोग किया, उनके अनुसार छन्दस् शब्द मन्त्र ब्राह्मण दोनों के लिये प्रयुक्त किया जाता है, निरूक्त कार यास्क ने 'छन्द्' आच्छादने 'धातु से 'छन्दस् ' शब्द निष्पन्न माना है, उनके अनुसार प्रत्येक मन्त्र किसी दैवी अर्थ विशेष से आच्छादित रहता है अतः उन्हें छन्दस् ' कहा जाता है।

स्वाध्याय - स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै. आ0 2/15)

स्वाध्यायान्माप्रमदः (तै. उप. 1/11/1) आदि वैदिक वाक्यों में स्वाध्याय शब्द का अर्थ वेद बतलाया गया है ।स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है जो अच्छी तरह अध्ययन करने योग्य हो, प्राचीन काल में वेद ही एकमात्र सभी द्विजातियों का स्वाध्याय था, जिसके नित्य अध्ययन करने का विधान था, वैदिक ग्रन्थों में वेद का नित्य अध्ययन 'ब्रह्म यज्ञ' के नाम से कहा गया है।

आगम - महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभास्य में -

''रक्षोहागमलध्वसन्देहा प्रयोजनम् '' इस वाक्य में आगम शब्द का प्रयोग वेद के लिये किया है।सांख्यकारिका शब्द का प्रयोग वेद के लिये किया है।सांख्यकारिका की छठी कारिका में ग्रन्थकार ईश्वर कृष्ण ने ''तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमात्पागमात्'' के द्वारा भी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिये आगम शब्द का प्रयोग किया है, भारतीय सम्प्रदायों का उत्सस्थान वेद होने के कारण कालान्तर में सभी सम्प्रदाय के लोग अपने सम्प्रदाय के साथ आगम शब्द का प्रयोग करने लगे, जैसे तन्त्रागम, शैवागम, वैष्णवागम, शाक्तागम, बौद्धागम, जैनागम आदि ।

निगम - आगम के समान निगम शब्द भी प्रायः वेद के लिये सर्वत्र प्रयोग किया जाता है आचार्य यास्क ने निरूक्त में जितने उदाहरण वेदों से दिये है, उन सबके लिये प्रायः निगम शब्द का प्रयोग किया है, आगम एवं निगम दोनों ही पद रचना एवं अर्थ की दृष्टि से समान है, अन्तर मात्र आ एवं नि उपसर्गों का है, वेद का जो ज्ञान किसी देवता विशेष से आगत होता है, तो उसे आगम कहा जाता है, जो ज्ञान निश्चय रूप से परम्परा से प्राप्त होता है, उसे निगम कहा जाता है।

10.5.3 वेद का महत्त्व

वैदिक संहिताओं में वेद शब्द दो प्रकार से प्राप्त होते हैं, (1) अन्तोदात्त (2) आद्युदात्त वेद शब्द विदल् लाभे धातु से निष्पन्न माना जाता है जिसका अर्थ धन, अथवा कुशमुष्टि किया जाता है। आधुदात्र वेद शब्द 'विद् ' ज्ञाने धातु से निष्पन्न माना जाता है, जिसका अर्थ ज्ञान किया जाता है। वैश्विक साहित्य में वेदों को सर्व प्राचीन ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है, यही समस्त ज्ञान विज्ञान का स्रोत माना गया है, भारतीय मान्यताके अनुसार 'वेद' शब्द किसी एक ग्रन्थ का वाचक न होकर सम्पूर्ण अलौकिक ज्ञान का वाचक है। वेद की प्रशंसा करते हुये मनु ने कहा है कि -

वेद शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रये वसन् ।
इहैवलोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। 12/102

'वेदों' के अध्ययन से ही हम अपने पूर्वजों के जीवन प्रणाली के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, सभी भारतीय दर्शनों का स्रोत वेदों में उपनिषद्ध है, उपनिषद साहित्य, वैदिक साहित्य का प्राण है जो सदैव परब्रह्म परमात्मा को अपना विवेच्य बनाकर विश्व का कल्याण कर रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद विश्वज्ञान का भण्डार है। मानव सभ्यता का दर्पण है। भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ है एवं भारतीयों का परम पूज्य ग्रन्थ रत्न है। इसीलिये इसे 'भगवान् वेदः' नाम से भी सम्मानित किया गया है। इसके महत्व का जितना वर्णन किया जाय, कम ही है।

10.5.4 वेद का विभाग

वेदों के मुख्यतः चार विभाग किये जाते हैं, (1) मन्त्र संहिता (2) ब्राह्मण भाग, (3) आरण्यक (4) उपनिषद् , जिस ग्रन्थ में मन्त्रों का संग्रह किया गया है उन्हें ही मन्त्र संहिता कहा जाता है, मन्त्र मुख्यतः ऋक् यजुः, साम के रूप मे तीन प्रकार के माने गये हैं सभी वेदों में यद्यपि ये तीनों प्रकार के मन्त्र संग्रहीत हैं, फिर भी बहुलता से इनका व्ययदेश किया जाता है। जैसे ऋग्वेद मन्त्र संहिता, यजुर्वेद मन्त्र संहिता, सामवेद मन्त्र संहिता तथा अथर्ववेद मन्त्र संहिता आदि ।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार पद है प्रकृति जिसकी वह संहिता है अथवा पदों की प्रकृति संहिता इन दोनों व्याख्याओं के अनुसार इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि पदों की संहिति को ही संहिता कहते हैं,वाजसनेयि प्रातिशांख्य के अनुसार वेणी का एक श्वास में उच्चारण ही संहिता कहलाता है। यद्यपि पाणिनि के अनुसार वर्णों की अत्यधिक सन्निकटता की संज्ञा संहिता है।

सम्पत्ति मन्त्र संहिता ग्रन्थों की संख्या चार मानी जाती है, जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट ऋक् मन्त्रों का संकलन किया गया है उसे ऋग्वेद मन्त्र संहिता कहा जाता है, तथा जिस ग्रन्थ में वैदिक यज्ञानष्ठानों में प्रयुक्त होने वाले यजुष मन्त्रों का संकलन किया गया है, उसे यजुर्वेद मन्त्र संहिता कहा जाता है इसी प्रकार जिस ग्रन्थ में वैदिक यागों के विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले साम मन्त्रों का संकलन हुआ है, उसे सामवेद मन्त्र संहिता कहा जाता है । एवमेव जिस ग्रन्थ में लौकिक अनुष्ठानों शान्तिक एवं पौष्टिक कर्मों से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन किया गया है, उसे अथर्ववेद मन्त्र संहिता कहा जाता है। ऋक् , यजुष् , साम की अधिकता के कारण उन उन संहिताओं का नाम ऋक संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता रखा गया, परन्तु अथर्ववेद संहिता का नामकरण उनके संकलन कर्ता अथर्वा एवं अंगिरा ऋषियों के नाम पर "अथर्वाङ्गिरस संहिता रखा गया, उसे ही अथर्ववेद संहिता कहा जाता है।

प्रत्येक वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, इससे यह अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में वेद की जितनी शाखायें प्रसिद्ध थीं उतनी उनकी मन्त्र संहितायें भी अवश्य रही होंगी। जब तक वेद का अध्ययनाध्यापन केवल श्रवण परस्परा से होता रहा, तब तक उन्हें शाखा के नाम से जाना जाता रहा, परन्तु जब शाखायें लिपिबद्ध होने लगीं तब उनका नाम संहिता पड़ गया। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वैदिक शाखाओं की संख्या का उल्लेख किया, उनके अनुसार ऋग्वेद की 21 शाखायें, यजुर्वेद की 101 शाखायें, सामवेद की 1000 शाखायें तथा अथर्ववेद की केवल 09 शाखायें उस समय प्रचलित थी।

सम्प्रति ऋग्वेद की शकल एवं वास्कल दो शाखायें, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी काठक, तथा कठ कपिष्ठल की चार शाखायें, शुक्ल यजुर्वेद की कण्व और माध्यन्दिन केवल दो

शाखायें, सामवेद की कौथुमी, राणायनी, जैमिनी केवल तीन शाखायें अथर्ववेद की शौनक एवं पिप्लाद केवल दो शाखायें प्राप्त होती हैं।

10.5.4.1 ब्राह्मण भाग

संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ को ब्राह्मण ग्रन्थ कहा जाता है, ब्रह्म शब्द का अर्थ मन्त्र अथवा यज्ञ बतलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड सम्पूर्ण विधि विधान प्राप्त होता है। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यानों द्वारा विवेच्य विषय को अत्यन्त सरलता से समझाया गया है। सभी ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यमय है। प्रत्येक संहिताओं के स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते थे, परन्तु आज किसी वेद की संहिता प्राप्त है तो उसका ब्राह्मण भाग अनुपलब्ध है, यदि ब्राह्मणभाग उपलब्ध होता है, तो संहिता भाग अनुपलब्ध है।

10.5.4.2 आरण्यक भाग

जिन ग्रन्थों का प्रणयन विभेद रूप से अरण्य में पढ़ने के लिये किया गया था, वे ही आरण्यक ग्रन्थ कहे गये, आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है।

10.5.4.3 उपनिषद् भाग

उपनिषद् ब्रह्म विद्या का नाम है यह वह विद्या है जिसके अनुशीलन से मोक्षार्थी जनों के सांसारिक आवागमन के कारणभूत अविद्या का नाम हो जाता है, मुमुक्षुजन ब्रह्म के समीप पहुँच जाते हैं, तथा उनके जन्ममरण के बन्धन सदा-सदा के लिये शिथिल हो जाते हैं, आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों को ब्राह्मण भाग का परिशिष्ट बतलाया गया है।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाजन का एक विशेष कारण यह बतलाया गया है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण मानव जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था, जिनके नाम हैं, (1) ब्रह्मचर्य (2) गृहस्थ, (3) वानप्रस्थ तथा (4) सन्यास। इनके लिये ''शतायुर्वैपुरुष'' के अनुसार मानव जीवन को 100 वर्ष की पूर्णायु मानकर प्रारम्भ की 25 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य, उसके बाद 50 वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ, तत्पश्चात् 75 वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ तथा शेष 100 वर्ष की अवस्था तथा उससे भी अधिक परमेश्वर की कृपा से यावज्जीवन सन्यास आश्रम में रहने का विधान किया गया था। ब्रह्मचर्य अवस्था में मन्त्र सहिंताओं का अध्ययन एवं अभ्यास कर कण्ठस्थ कर लेना विहित था, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनके अनुसार यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करने का विधान किया गया था, वानप्रस्थ में पुत्रों पर परिवार का भार सौंप कर अरण्य में जाकर आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन तथा तदनुसार उपासनाओं के करने का विधान किया गया था, जीवन की अन्तिम अवस्था सन्यास ग्रहण कर आध्यात्मिक सुधा धारा का पान करने के लिये ब्रह्मनिष्ठ गुरू के समीप में उपनिष्दों का अध्ययन तथा तदनुसार चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए स्वयं तथा लोक का उपकार करने का विधान किया गया था।

10.5.4.4 मन्त्र संहितायें

(1) ऋग्वेद मन्त्र संहिता

'ऋग्वेद' में मन्त्रों का संकलन सूक्तों के द्वारा किया गया है, सूक्त का अर्थ है, एक ऋषि के द्वारा दृष्ट सुभाषित एवं उत्तम वचन, इसीलिये ऋग्वेद सूक्तों का वेद कहा जाता है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद मन्त्र संहिता सार्वधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है, इसमें किसी भी विद्वान को किञ्चिन्मात्र आपत्ति नहीं है, छन्दोवृद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को ऋक् कहा गया है, सम्पूर्ण

संहिता छन्दोवद्ध ऋचाओं का संग्रह है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में ऋग्वेद की एक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है, किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल पांच शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होता है, ये शाखायें हैं, शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और मण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति पूर्णरूप से शाकल शाखा ही प्राप्त होती है, यही आजकल ऋग्वेद संहिता के रूप में प्रचलित है। इसी का विशेष वर्णन अगले पृष्ठों में दिया जाएगा। वाष्कल शाखा की यद्यपि कोई संहिता-उपलब्ध नहीं होती है, तथापि इसकी विशिष्टताओं का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। कुछ आचार्य शाकल संहिता के अष्टकक्रम विभाजन को ही वाष्कल संहिता मानते हैं, शाकल शाखा के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है, "समानी व आकृतिः" ऋ. 10/191/4 परन्तु वाष्कल संहिता के अनुसार "6 तच्छंयोरावृणीमहे है" अन्तिम ऋचा है।

ऋक्परिशिष्ट

शाकल शाखा के अन्त में "ऋक्परिशिष्ट" के नाम से 36 सूक्त संग्रहीत किये गये हैं, जिनमें ऋचाओं की संख्या में एक रूपता नहीं है, किन्ही सूक्तों में तो केवल एक ही ऋचा उपलब्ध है, परन्तु किसी में 48 ऋचाओं की स्थिति है, इन सूक्तों में कतिपय नितान्त प्रख्यात तथा बहुधः चर्चित है, जैसे श्री सूक्त, रात्री सूक्त, मेघा सूक्त, शिव संकल्प सूक्त, तथा संज्ञान सूक्त।

ऋग्वेदीय शाकल संहिता में कुल 1017 सूक्त प्राप्त होते हैं, जिसमें वालखिल्य के 11 सूक्तों को मिला देने से कुल सूक्त की संख्या 1028 मानी जाती है, इसमें मन्त्रों की संख्या लौगाक्षिस्मृति के मन्त्रानुसार 105801/4 बताई गयी है। परन्तु कुछ विद्वान् लगभग 10600 ऋचायें मानते हैं। शाकल संहिता का विभाजन जो प्रकार से प्राप्त होता है, (1) अष्टक क्रम (2) मण्डल क्रम

अष्टक क्रम - सम्पूर्ण संहिता को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है, प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय किये गये हैं, इस प्रकार पूरी ऋग्वेद संहिता 64 अध्यायों में संकलित है, प्रत्येक अध्यायों के अवान्तर विभागों का नाम 'वर्ग' है जो सम्भवतः अध्ययन के सौकार्य के लिये किया गया है। 'वर्ग' ऋचायों के समुदाय की संज्ञा है, परन्तु वर्गों में ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है, क्योंकि एक मन्त्र से लेकर नव मन्त्रों तक के वर्ग प्राप्त होते हैं इस प्रकार सम्पूर्ण वर्ग की संख्या 2006 बतलायी गयी हैं।

मण्डल क्रम - दूसरा विभाग अत्यधिक महत्त्वशाली ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है, पूरी ऋक संहिता को 10 मण्डलों में विभक्त किया गया है, मण्डल के अन्तर्गत अनुवाक तथा अनुवाक के अन्तर्गत सूक्तों का विभाजन किया गया है। सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र अथवा ऋचायें समाम्नात हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद मन्त्र संहिता में 10 मण्डल , 85 अनुवाक, 1028 सूक्त तथा 10580 1/2 ऋचायें प्राप्त होती हैं।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषयवस्तु के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वानों का यह मानना है कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, जिन्हें 'वंशमण्डल' के नाम से जाना जाता है, क्योकि इन मण्डलों का सम्बन्ध किसी एक ऋषि विशेष से है, जैसे द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पञ्चम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज, सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं, अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है, नवम मण्डल के ऋषियों द्वारा सोम देवता के स्तुतिपरक सूक्त संग्रहीत हैं, अतः सोम के पवमान कहे जाने के कारण पूरे नवम मण्डल पवमान मण्डल भी कहा जाता है। प्रथम एवं दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन माने जाते हैं क्योंकि इन मण्डलों के सूक्तों में स्थान-स्थान पर अन्य मण्डलों के मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है,

भाषा की दृष्टि से भी-इन दोनों मण्डलों को अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध किया गया है।

अष्टम मण्डल के अन्त में प्राप्त बालखिल्य सूक्तों को आधुनिक विद्वान् प्राचीनतम मानते हैं, परन्तु ये सूक्त संहिताओं में क्यों संकलित नहीं किये गये, यह विचारणीय है। डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री ने ऋग्वेद संहिता के सूक्तों एवं मन्त्रों की संख्या मण्डलानुसार निर्दिष्ट की है जो इस प्रकार है ।

मण्डल	सूक्त संख्या	ऋक्संख्या	ऋषि
प्रथम	191	2006	विभिन्न
द्वितीय	43	429	गृत्समद
तृतीय	62	617	विश्वामित्र
चतुर्थ	58	589	वामदेव
पञ्चम	87	727	अत्रि
षष्ठ	75	765	भारद्वाज
सप्तम	104	841	वशिष्ठ
अष्टम	92	1636	विभिन्न
नवम	114	1108	सोमविषयक
दशम	191	1754	विभिन्न
	1017	10472	

10.5.5 ऋग्वेद का प्रतिपाद्य

सामान्यतः छन्दोंवद्ध मन्त्रों को ऋचा कहा जाता है। ऋग्वेद उन्हीं ऋचाओं का वेद कहा गया है। यद्यपि अन्य वेदों में भी ऋचाओं का संकलन है, फिर भी ऋग्वेद में केवल ऋचायें संकलित की गयी है, इन ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की गयी है, स्तुतियों के बव्याज से ही धर्म, दर्शन, एवं संस्कृति के उदात्त विचार भी प्रकट किये गये हैं, इसके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशाओं का भी परिज्ञान कराया गया है, इसी प्रकार ऋग्वेद में सृष्टिविद्या से सम्बन्धित दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति रिवाज, पशु-पक्षी-वृक्षों आदि से सम्बद्ध मन्त्र, संवाद सूक्त,आख्यान एवं दानस्तुतियाँ प्राप्त होती हैं।

ऋग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूल रूप में विद्यमान हैं, ऋग्वेद वस्तुतः हिन्दू धर्म और दर्शन की आधार मिला है,भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का संकेत भी यहाँ पर प्राप्त होता है, इसी प्रकार विश्व सर्जक तत्त्वों की जिज्ञासा, उनका रूपकात्मकवर्णन, मानव जीवन की आकांक्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के अध्ययन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दार्शनिक तत्त्व-जीव, जगत, आत्मा, ब्रह्म, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं, तथा वहाँ पर देवतावाद, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी दिखाई पड़ता है। दार्शनिक सूक्तों में नासदीय सूक्त , पुरूषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, वाक्सूक्त, तथा अस्यवाकीय सूक्त प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार ऋग्वेद भारतीयों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का परिचायक होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं नितान्त आदरणीय माना जाता है।

10.5.6 यजुर्वेदमन्त्र संहिता

अनियताक्षरावसानो यजुः, गद्यात्मकोयजुः इत्यादि वाक्यों द्वारा 'यजुष्' का लक्षण बतलाया गया है, इन्हीं यजुष मन्त्रों का संकलन यजुर्वेद कहा जाता है, यद्यपि यजुर्वेद में ऋग्वेदीय पद्यात्मक

मन्त्रों का भी संकलन देखा जाता है, परन्तु वे सभी मन्त्र यजुर्वेदीय धर्म 'गद्यात्मक उच्चारण' से ही बोले जाते हैं, महर्षि पतञ्जलि ने 'एकशतमध्वर्युभारवा'' बतलाकर इसके 101 शाखाओं कानिर्देश किया है। इसमें भी कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद दो प्रकार के विभाजन प्राप्त होते हैं। जिन्हें सामान्यतः तैत्तिरीय शाखा एवं वाजसनेयी शाखा के नाम से भी जाना जाता है।

कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद

वेद पहले एक ही थी, जब वेदव्यास ने अपने चार- शिष्यों को चारों वेदों को प्रदान किया, उस समय महर्षि वैशम्पायन को यजुर्वेद, पैल को ऋग्वेद, जैमिनि को सामवेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद प्राप्त हुआ। यजुर्वेद के पुनः कृष्ण शुक्ल दो विभाग होने के मूल में पुराणों का यह आख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार हैं वेदव्यास के शिष्य महर्षि वैशम्पायन ने अपने अनेक शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया, उनमें सबसे मेधावी शिष्य याज्ञवलक्य थे। वैशम्यायन के साथ एक कष्टप्रद घटना घटी, जिसके कारण प्रायश्चित्त स्वरूप कृच्छ व्रतोपवास हेतु अपने समस्त शिष्यों को वैशम्यायन ने आदेश दिया। याज्ञवलक्य ने अपने गुरू जी से निवेदन किया कि मैं अकेले आपके प्रायश्चित्त के लिये कृच्छव्रतोपवास कर सकता हूँ, अन्य दुर्बल शिष्यों को कृपया इस व्रत के लिए प्रेरित न करें, वैशम्यायन क्रुद्ध हो गये, उन्होंने कहा हमारे सभी शिष्य समान हैं, तुम अपने शिष्य पुंगव क्यों समझते हो, तुम्हें अपनी मेधा पर अभिमान हो गया है। अतः तुम हमारे द्वारा पढ़ायी गयी वेद विद्या को मुझे वापस लौटा दो। जब गुरू वैशम्यायन ने याज्ञवलक्य से अपनी पढ़ाई हुई वेद विद्या को वापस करने का पौनः पुन्येन आदेश दिया तब याज्ञवलक्य ने अपनी योग विद्या से गृहीत वेद विद्या को वमन कर दिया, यजुर्विद्या कृष्ण एवं धूम्रवर्ण में वान्त के रूप में दिखाई पड़ी महर्षि वैशम्यायन ने यजुर्वेद विद्या के लुप्त होने के भय से अपनी योग विद्या से अपने अन्य शिष्यों को तित्तर पक्षी बना दिया तथा आदेश दिया कि इन कृष्ण धूम्र वर्ण वाले यजुवों को ग्रहण करलो शिष्यों ने उन यजुवों को तित्तर पक्षी बन कर ग्रहण कर लिया। याज्ञवलक्य रिक्तवेद होकर पुनः वेदविद्या की प्राप्ति के लिये भगवान् भुवन भास्कर की कठोर आराधना की, जिसके फल स्वरूप उन्हें पुनः वेद विद्या प्राप्त हुयी, भगवान सूर्य ने वाजी- अश्व रूप धारण कर याज्ञवलक्य को यजुर्वेद विद्या प्रदान की, अतः यह वाजसनेयी यजुर्विद्या कहलायी, जो दिन के मध्य में प्राप्त होने के कारण माध्यन्दिन संहिता के रूप में प्रसिद्ध हुयी, और शुक्ल यजुर्वेद संहिता कहलायी, उधर तित्तर के द्वारा गृहीत वेद विद्या तैत्तिरीय कही गयी, विद्वानों ने इसके शुल्कत्व एवं कृष्णत्व के विषय में अनेक कारणों का निर्देश किया है।

प्रसिद्ध विदेशी वैदिक विद्वान मैकडानल के अनुसार शुक्ल यजुर्वेद विषय की दृष्टि से शुद्ध एवं निर्मल है तथा पाठकों के बुद्धि को प्रकाशित करता है इसमें विवेच्य विषय की क्रमबद्धता सुस्पष्ट है, तथा यह ब्राह्मण भाग से सर्वथा अस्पृष्ट है, अर्थात मिश्रित नहीं है, अतः यह शुक्ल यजुर्वेद के नाम से अभिहित किया गया, जबकि कृष्ण यजुर्वेद मन्त्र और ब्राह्मण एक में मिश्रित होने के कारण मलिन अथवा कृष्ण कहे गये । शतपथ ब्राह्मण में ''आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्ये नाख्यायन्त'' इस कथन से ज्ञात होता है। याज्ञवलक्य के द्वारा सूर्य से प्राप्त वेद विद्या शुक्ल यजुर्वेद कही गयी। इसी तथ्य को भारतीय प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री जी द्वारा भी स्पष्ट किया गया, उनके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद का एक भाग कृष्ण यजुर्वेद तथा सम्मिश्रण रहित शुद्ध मन्त्र होने के कारण द्वितीय भेद शुल्क यजुर्वेद के नाम से अभिहित किया गया । शुक्ल यजुर्वेद को आदित्य सम्प्रदाय का तथा कृष्ण यजुर्वेद ब्रह्म सम्प्रदाय का माना जाता है।

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य

विदित है कि यजुर्वेद यजुषों का संकलन है, यजुष् का शाब्दिक अर्थ है, यजन, पूजन, अर्चन, आदर, श्रद्धा आदि । इस प्रकार वेद का वह भाग, जिसका सम्बन्ध यजनपूजनादि से है, यजुर्वेद कहा जाता है । इसकी वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता एवं काण्व संहिता मात्र दो संहितायें प्राप्त होती हैं, वर्ण्य विषय की दृष्टि से दोनों में अधिक समानता है। माध्यन्दिन संहिता में कुल चालिस अध्याय हैं। प्रारम्भ के 25 अध्याय विषय वस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों में - दर्शपौर्णमास के मन्त्र संग्रहीत हैं। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य के मन्त्र बतलाये गये हैं। चतुर्थ से अष्टम अध्याय पर्यन्त अग्निष्टोमादि सोमयज्ञों से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं वाजपेय तथा राजसूय यज्ञों का वर्णन नवम तथा दशम अध्यायों में प्राप्त होता है, एकादश से अष्टदश अध्याय तक अग्निचयेन से सम्बन्धित विवरण तथा याज्ञिक नियमों का संग्रह प्राप्त होता है, उन्नीसवें तथा बीसवें अध्याय में सौमामणी याग से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन है, इक्कीसवें से 25वें अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ का विधिविधान एवं प्रार्थनायें निर्दिष्ट हैं छब्बीस से 35 अध्याय तक खिल सूक्त माना जाता है इसी में 31वां अध्याय पुरूष सूक्त कहा गया है, 36 से 39 अध्याय तक प्रवर्ग्य से सम्बन्धित विवरण एवं प्रार्थनायें संग्रहीत हैं। 40वे अध्याय प्रसिद्ध उपनिषद् ईशावास्योपनिषद् के नाम से विख्यात है। इसमें कुल मन्त्र संख्या 1975 हैं ।

कृष्णयजुर्वेद में भी तैत्तिरीय संहिता मुख्य मानी गयी है, विषय वस्तु के दृष्टि से दर्शपूर्णमासादि कर्म दोनों में समान रूप से वर्णित है, मन्त्रों का विनियोग अपनी अपनी संहिता से किया जाता है, यहाँ मन्त्रों के साथ ब्राह्मण भाग का भी संकलन है।

10.5.7 सामवेद मन्त्र संहिता

जिस वेद में गेय मन्त्रों का विशिष्ट प्रकार से संकलन किया गया है, उसे सामवेद मन्त्र संहिता कहा जाता है। सामदेव का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये 'वृहद् देवता' नामक ग्रन्थ में कहा गया है ''सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम् '' अर्थात् जो सामों के विभिन्न प्रकारों को जानता है, वही वेद के तत्त्व को जानता है गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं को 'सामवेद स्वरूप' कहा है ''वेदानां सामवेदोऽस्मि''। साम शब्द का प्रयोग ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले 'गान' के लिए प्राप्त होता है, सामवेद के मन्त्रों का गान उद्गाता नाम का ऋत्विक् यज्ञीय अवसरों पर करता है।

सामवेद मन्त्र संहिता में केवल 75 मन्त्रों को छोडकर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं, महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के अनुसार सामवेद की कभी एक हजार शाखायें थीं, परन्तु सम्प्रति केवल तीन शाखायें प्राप्त होती हैं, (1) कौथुमी शाखा (2) राणायनीय शाखा (3) जैमिनीय शाखा।

सामवेद के पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक दो भाग प्राप्त होते हैं, दोनों भागों की सम्पूर्ण ऋक संख्या 1810 है। पूर्वार्चिक के ऋचाओं की संख्या 650 है, इसमें छः प्रपाठक है। प्रथम प्रपाठक में अग्नि देवता से सम्बन्धित ऋचाओं का संग्रह है, अतः इसे 'आग्नेय काण्ड' कहा जाता है। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक इन्द्र देवता से सम्बन्धित ऋचाओं का संग्रह है। अतः इसे 'ऐन्द्रपर्व' कहा जाता है। पञ्चम प्रपाठक में सोमपरक ऋचाओं का संग्रह है, अतः इसे पवमान पर्व कहा जाता है, छठां प्रपाठक आरण्यक पर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

सामवेद के उत्तरार्चिक में प्रपाठकों की संख्या नव है, पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम छन्द

एवं देवताओं के आधार पर निश्चित हुआ है, परन्तु उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर उसका क्रम निर्धारित हुआ है, उत्तरार्चिक के प्रारम्भिक पांच प्रपाठकों में दो दो अध्याय हैं, अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन तीन अध्याय हैं उत्तरार्चिक में लगभग 400 गान प्राप्त होते हैं। एक एक गान में प्रायः तीन तीन ऋचायें होती हैं। कहीं कहीं दो या चार ऋचायें भी प्राप्त होती हैं आचार्य जैमिनि ने स्वरों को गान का प्राण कहा है, तथा ऋचाओं को सामगान का मूलाधार या योनि कहा है, सामवेदीय ऋचाओं को संगीतमय करने के लिये कतिपय शब्दों को जोड़ा जाता है, इन्हें 'स्तोम' कहा गया है जो इस प्रकार हैं, हाऊ, होई, औ, हो, ह ऊ आदि। सामवेद के पूर्वार्चिक में ग्राम गान तथा अरण्यगान प्राप्त होता है, जबकि उत्तरार्चिक में ऊजगान तथा उह्यगान प्राप्त होता है।

10.5.8 अथर्ववेद संहिता

चारों वेदों के क्रम में अथर्ववेद का नाम सबसे अन्त में आता है । इसके नामकरण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि आङ्गिरस गोत्रीय अर्थवा नामक ऋषि के द्वारा मन्त्रों का संकलन किया गया, अतः इसका नाम अथर्ववेद पड़ गया। सातवलेकर के अनुसार अथर्व का अर्थ है, गति रहित, स्थिर,निश्चल आदि। क्योंकि निरूक्त में 'थर्वति गतिकर्मा, न थर्वः अथर्वः' ऐसा निर्वचन प्राप्त होता है, इस वेद में मन्त्रों का संकलन ब्रह्मा नामक श्रेष्ठ ऋत्विक् के लिये किया गया है, अतः इसे ब्रह्म वेद भी कहा जाता है, इस वेद में पूर्ववर्ती वेदों का सार निहित है, क्योंकि गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "श्रेष्ठों हि वेदस्तपसोऽभिजातो ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूव । (गो. ब्रा. 1/9)

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वाङ्गिरसः । ये अङ्गीरसः स रसः । ये अथर्वाणस्तद् भेषजम् , यद् भेषजं तदमृतम् ,यदमृतं तद् ब्रह्म ।।

सम्पूर्ण अथर्ववेद संहिता में बीस काण्ड हैं सभी काण्डों को 38 प्रपाठकों में विभक्त किया गया है, इसमें 760 सूक्त तथा लगभग 6000 मन्त्र हैं, अनुवाकों की संख्या 80 है। अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड तक विषयों का कोई क्रम निश्चित नहीं है उनमें विशेष रूप से प्रार्थनायें, कुछ मन्त्र प्रयोग तथा विधियाँ बतलायी गयी हैं, इन विधियों और प्रयोगों से सभी प्रकार के भय से तथा भूत प्रेत पिशाच-राक्षस-डाकिनी-शाकिनी बेताल आदि से रक्षा की जाती है। जादू, टोना, मारण,मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि के प्रयोगों के लिये भी मन्त्रों का संकलन इसी भाग में हुआ है । चौदहवें काण्ड में विवाह की रीतियों का वर्णन है पन्द्रहवें, सोलहवें एवं सत्रहवें काण्डों में विशेष प्रकार के मन्त्रों का संकलन है, अठ्ठारहवें काण्ड में अन्त्येष्टि, क्रिया की विधियां तथा पितरों तथा श्राद्धविधि के मन्त्र संग्रहीत हैं, उन्नीसवें तथा बीसवें काण्डों में विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित मन्त्र हैं, जिसमें इन्द्रसम्बन्धी सूक्त अधिक है, महर्षि पतञ्जलि के अनुसार इसकी कभी नव शाखायें थी, परन्तु सम्पत्ति दो शाखायें, (शौनकीय शाखा तथा पैप्पलाद शाखा) प्राप्त होती है शौनकीय शाखा के काण्डगत विषयों का उल्लेख उपरितन पंक्तियों में किया गया है। इसके अतिरिक्त 'औरव्य'' तथा काण्डिकेय नामक दो अन्य शाखाओं के उपलब्ध होने के संकेत प्राप्त होते हैं।

10.5.9 ब्राह्मण ग्रन्थ

वैदिक वाङ्मय में मन्त्रसंहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान आता है, ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अभिन्न अंङ्ग माने जाते हैं, ब्रह्म का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि,ब्राह्मण ग्रन्थ, मन्त्रों का व्याख्यान तथा यज्ञादि विधियों का निर्देश करता है इसके विषय में यह कहा गया है कि "ब्राह्मणं नामकर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः " । वस्ततः वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञविज्ञान का गम्भीर

विवेचन करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ कहलाते हैं।शबरस्वामी ने ब्राह्मणग्रन्थों के दस मुख्य विषयों का निर्देश किया है, तद्यथा -

हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
पर क्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ।।
उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च ।।शा भा-2/1/8

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित अपने ब्राह्मण भाग प्राप्त होते हैं, क्रमशः उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

10.5.9.1 ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

ऋग्वेद से सम्बन्धित दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, (1) ऐतरेय ब्राह्मण (2) कौषीतकी ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, इसमें कुल चालीस अध्याय हैं, जो पांच पांच अध्यायों की आठ पञ्चिकाओं में विभक्त है। इतरा नामक दासी से उत्पन्न महीदास ऐतरेय इसके व्याख्याता माने जाते हैं। प्रारम्भिक 16 अध्यायों में अग्निसोम नाम सोमयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है, 17वें तथा 18वें अध्यायों में सांवत्सरिक गवामयन संज्ञक सोमयाग का वर्णन किया गया है, उन्नीसमें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिवसों में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है, अवशिष्ट सोलह अध्यायों में आग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है, इसके उन्तालिसवें एवं चालिसवें अध्यायों में क्रमशः ऐन्द्रमहाभिषेक तथा पौरोहित्य सम्वादन विधियों का वर्णन प्राप्त होता है।

कौषीतकी ब्राह्मण का दूसरा नाम सांख्यायन ब्राह्मण भी है यह ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भिक पांच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है, इस ब्राह्मण में कुल तीस अध्याय हैं, इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें शुनःशेष आख्यान सर्वविदित है। जिसे हरिश्चन्द्रोपाख्यान अथवा वरूणोपाख्यान भी कहा जाता है।

10.5.9.2 यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

यजुर्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, (1) कृष्ण यजुर्वेदीय तैतिरीय ब्राह्मण (2) शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण, इसमें भी शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्चिन शतपथ, तथा शुक्ल यजुर्वेदीय काण्य शतपथ भिन्न भिन्न है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में मुख्यतः सौ अध्याय प्राप्त होते हैं अतः ''शतं पन्थानो यस्य' इस निरूक्ति के अनुसार इसे शतपथ ब्राह्मण कहा जाता है, दोनों शतपथ ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य विषय वैदिक श्रोत यागों का निरूपण है, जो विस्तृत होते हुये भी सुव्यवस्थित एवं समान है। माध्यन्दिन शाखा के शत पथ ब्राह्मण का विभाजन चौदह काण्डों में तथा काण्य शाखा के शतपथ ब्राह्मण का विभाजन सत्रह काण्डों में हुआ है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भिक नौ काण्डों में वाजसनेयी मन्त्र संहिता के प्रारम्भिक अट्ठारह अध्यायों की व्याख्या दशम काण्ड में अग्निचयन का विवेचन है। ग्यारहवें से 13वें तक उपनयन, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि तथा सर्वमेध आदि का विवेचन प्राप्त होता है। इसका चौदहवां काण्ड बृहदारण्यक कहा जाता है, इसके अन्त के अध्यायों में वृहदारण्यकोपनिषद् प्राप्त होता है। जिसका विवेचन उपनिषद् प्रकरण में किया जाएगा।

इस ब्राह्मण ग्रन्थ में रामायण एवं महाभारत के कतिपय कथाओं का स्रोत प्राप्त होता है, संक्षेपतः कद्रू सुपर्णा, की कथा,पुरूरवा- उर्वशी का प्रेमाख्यान अश्विनी कुमारों द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन दान, आदि कथायें इसमें उपलब्ध होती हैं इसी में जलप्लावन आख्यान, मत्स्यावतार की कथा का उत्स प्राप्त होता है, जो परवर्ती साहित्य मे काव्य नाटकादि के रूप में विस्तृत हो गये हैं।

10.5.9.3 सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ -

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनसार सामवेदीय ब्राह्मणों की संख्या आठ बतलायी गयी है

जिनके नाम हैं - (1) ताण्ड्य ब्राह्मण (2) षड्विशंब्राह्मण (3) सामविधान ब्राहमण (4) आर्षेय ब्राह्मण (5) दैवत ब्राह्मण (6) उपनिषद् ब्राह्मण (7) संहितोपनिषद् ब्राह्मण तथा (8) वंश ब्राह्मण । इन ब्राह्मणों में मुख्यतः चार ब्राह्मणों की सत्ता सम्प्रति प्राप्त होती है, (1) ताण्ड्य ब्राह्मण या पञ्चविश ब्राह्मण (2) षड्विशं ब्राह्मण (3) जैमिनीय ब्राह्मण (4) सामविधान ब्राह्मण। ताण्ड्य ब्राह्मण में पच्चीस अध्याय प्राप्त होते हैं, अतः उसे पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है, इसमें सामान्यतः विभिन्न सोमयागों का वर्णन किया गया है, रचना की दृष्टि से वह प्रौढ़ तथा प्राचीन माना जाता है, इसमें 'व्रात्यस्तोम' नाम यज्ञ का भी वर्णन मिलता है। ताण्ड्य ऋषि अथवा शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इसको ताण्ड्य ब्राह्मण के नाम से अभिहित किया जाता है।

षडविंशब्राह्मण को कुछ विद्वान् ताण्ड्य ब्राह्मण का ही अंग स्वीकार करते हैं क्यों इस ब्राह्मण में भी सामान्यतः सोम यागों का वर्णन है, एक अध्याय अधिक होने के कारण इसका अतिरिक्त नामकरण षड्विंश (छब्बीस अध्यायों वाला) पड़ गया, इसके अन्तिम अध्याय में 'अद्भुत ब्राह्मण' भी कहा जाता है, इसमें देवताओं के हास्य एवं रूदन तथा ऐन्द्रजालिक अनेक अलौकिक घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

जैमिनीय ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेदीय तवल्कार शाखा से माना जाता है, जैमिनि के नामपर इस ब्राह्मण का नामकरण प्रतीत होता है। इसमें पांच मण्डल पाया जाता है। प्रथम तीन मण्डलों में यज्ञविधियों का वर्णन है चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण के नाम से जाना जाता है। पांचवें मण्डल का नाम ही आर्षेय ब्राह्मण है। इसमें सामवेदीय ऋषियों के नामों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

चतुर्थ सामविधान ब्राह्मण में कृच्छव्रतों तथा आयुष्य वृद्धि के साधनों, मोक्ष साधनादि के उपाय वर्णित हैं। इस में सामवेदीय ऋचाओं का प्रयोग धनोपार्जन हेतु एवं शत्रुमारणादि तथा प्रायश्चित्रादि कर्मों के लिये बतलाया गया है। नाना प्रकार के उपद्रवों की शान्ति के लिये सामवेदीय गानों तथा अनुष्ठानों का विधान बतलाने के कारण ही इसका नाम सामविधान ब्राह्मण पड़ गया। इस ब्राह्मण में मुख्यतः तीन प्रकरण हैं जिसमें धर्म सूत्रों में वर्णित दोष, अपराध एवं उनके प्रायश्चितों का वर्णन है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र 'गोपथ ब्राह्मण' प्राप्त होता है, इसके दो भाग हैं पूर्व गोपथ एवं उत्तर गोपथ । प्रथम भाग में पांच अध्याय तथा द्वितीय भाग में कुल छः अध्याय हैं, विषय वस्तु की दृष्टि से इस पर शतपथ ब्राह्मण का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है, इसमें ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों से भी विषय सामग्री ली गयी है, तथा इसकी अतिपरिष्कृत व्याकरण सम्मत शब्दावली इसको अर्वाचीन प्रमाणित करती है।

ब्राह्मण साहित्य के गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ, ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाले 'होता' नाम के ऋत्विक वर्ग के यज्ञीय कार्यो की व्याख्या करते हैं, यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विकगण के कार्यों की व्याख्या करते हैं इसी प्रकार सामवेदीय तथा अथर्ववेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ भी क्रमशः उदगाता तथा ब्रह्मा के ऋत्विग्गणों के कार्यों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

10.5.10 बोध प्रश्नोत्तर

प्र. वेद का सामान्य लक्षण क्या है?

उ. 'मन्त्र ब्राह्मणोर्वेदनाम धेयम् ' अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहा जाता है, यही वेद

का सामान्य लक्षण है।

प्र. वेदों के कितने विभाग किये गये हैं ?

उ. सभी वेदों के मुख्यतःचार भाग किये गये हैं।
(1) मन्त्रसंहिता, (2) ब्राह्मण (3) आरण्यक, (4) उपनिषद्

प्र. वेद को 'त्रयी' क्यों कहा जाता है?

उ. वेद के शब्दों का उच्चारण गद्य, पद्य, तथा गीतमय रूप में किया जाता है, उच्चारण धर्म के त्रित्व से वेद को 'त्रयी' शब्द से अभिहित किया जाता है।

प्र. सूक्त किसे कहते हैं?

उ. मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के सुभाषित वचन सूक्त कहे जाते हैं, व्यावहारिक रूप में एक ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का समुदाय सूक्त कहलाता है।

प्र. ऋग्वेद में कुल कितने मण्डल तथा सूक्त हैं?

उ. ऋग्वेद में कुल 10 मण्डल तथा 1028 सूक्त हैं।

प्र. अनुवाक किसे कहते हैं?

उ. ऋग्वेद के विभाजन में मण्डल के अन्तर्गत अनेक सूक्तों के समुदाय को अनुवाक बताया गया है, जिसकी कुल संख्या 85 है।

प्र. ऋग्वेदीय सप्तम मण्डल का ऋषि कौन है?

उ. ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं।

प्र. वंश मण्डल किसे कहते हैं?

उ. ऋग्वेद के दसोंमण्डलों में 2 से 7 मण्डल तक के ऋषि समान गोत्रीय अथवा एक ही वंश के हैं अतः इन अध्यायों को 'वंशमण्डल' के नाम से जाना जाता है।

प्र. बालाखिल्य सूक्त किसे कहते हैं?

उ. 'बालाखिल्य' परिशिष्ट शब्द का पारिभाषिक नामान्तर है, ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के अन्त में 11 बालखिल्य सूक्त परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं।

प्र. यजुर्वेद के कृष्ण एवं शुक्ल होने का सामान्य भेद क्या है?

उ. मन्त्र और ब्राह्मण भाग का मिश्रित रूप में प्राप्त होना कृष्णत्वं तथा मन्त्रसंहिता एवं ब्राह्मणभाग का अलग अलग प्राप्त होना शुक्लत्व कहा गया है।

प्र. सामवेद में कितमे प्रपाठक एवं पर्व हैं?

उ. सामवेद में कुल छः प्रपाठक एवं चार पर्व हैं पर्वों के नाम हैं - आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व, तथा आरण्यक पर्व है।

प्र. सांख्यायन ब्राह्मण किस वेद से सम्बन्धित है?

उ. ऋग्वेदीय कौषीतकी ब्राह्मण का ही दूसरा नाम सांख्यायन है।

प्र. काण्य शतपथ ब्राह्मण में कुल कितने अध्याय तथा काण्ड हैं?

उ. काण्व शतपथ में कुल 104 अध्याय तथा 17 काण्ड है, जबकि माध्यन्दिन शतपथ में कुल 100 अध्याय तथा 14 काण्ड हैं।

प्र. सामवेदीय ऋषियों की नामावली किस ब्राह्मण में प्राप्त होती है?

उ. आर्षेय ब्राह्मण में सामवेदीय ऋषियों के नामों की लम्बी सूची प्राप्त होती है।

इकाई - 11 आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग

इकाई की रूपरेखा

(क) उद्देश्य

(ख) प्रस्तावना

(ग) इकाई की परिधि

(घ) नियत भाग का व्याख्यान

(ङ) बोध प्रश्नोत्तर

11.1 उद्देश्य

वैदिक वाङ्मय का साङ्गोपाङ्ग परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से पिछली इकाई में मन्त्र संहिता तथा ब्राह्मण भाग का परिचय कराया जा चुका है। इस इकाई में शेष भाग से परिचय कराना उद्देश्य है।

11.2 प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य में वैदिक वाङ्मय सर्वप्रथम एवं विस्तृत है, उसके चारों स्तम्भों का पूर्ण परिचय प्राप्त करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक है, सुगमता की दृष्टि से दो इकाइयों में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से परिचित कराने की प्रकल्पना की गयी है , पूर्व चौथी इकाई में संहिता एवं ब्राहमण भाग से परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त अब आप इस इकाई में आरण्यक एवं उपनिषद तथा वेदाङ्गों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

11.3 इकाई की परिधि

इस इकाई में विवेच्य विषय है, आरण्यक उपनिषद् एवं वेदाङ्ग । विदित है कि आरण्यक एवं उपनिषद ब्राह्मण भाग के ही परिशिष्ट हैं, जिनकी चर्चा पिछली इकाई में की जा चुकी है। प्रत्येक वेद से सम्बन्धित आरण्यक एवं उपनिषद प्राप्त होते हैं, वेदाङ्गों में शिक्षा एवं कल्पसूत्र भी वेदानुसार बतलाये गये हैं, वेद के इन्हीं दोनों भागों तथा समस्त वेदाङ्गों पर यथा प्रमाण प्रकाश डालना इस इकाई का उद्देश्य है, अतः इन्हीं विषयों को क्रम से अगली पंक्तियों में परिचित कराया जाएगा।

11.4 नियत भाग का व्याख्यान

11.4.1 आरण्यक

आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण तथा उपनिषद ग्रन्थों के मध्यवर्ती साहित्य माने जाते हैं, ये ब्राह्मण ग्रन्थों की ही भाषा शैली में उनके पूरक ग्रन्थ के रूप में प्राप्त होते हैं। आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन नगरों तथा ग्रामों से सुदूर अरण्यों में होता था, तैत्रिरीय आरण्यक के भाषा में आचार्य सायण ने कहा है कि - अरण्याध्यायनादेतद् आरण्यकमितीर्य ते ।

अरण्ये तदधीयीतेत्यैवं वार्म्य प्रचक्षते ।।

अति प्राचीन भारत में भारतीय आश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मचर्य अवस्था में संहिता ग्रन्थ, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण ग्रन्थ, वानप्रस्थ आश्रम में आरण्य ग्रन्थ तथा संन्यास आश्रम में उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन विछिप्त था। वानप्रस्थी व्यक्ति जंगलो में जाकर आरण्यक ग्रन्थों का ही अध्ययन एवं मनन करता था, तथा तदनुसार उपासना करता था।

आरण्यक ग्रन्थों का शाब्दिक कलेवर ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही पाया जाता है, परन्तु वर्ण्य विषय में सामान्य अन्तर दिखाई पड़ता है जो क्रमशः रहस्यात्मक दृष्टान्तों अथवा रूपकों के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन में बदल गया है। साधारणतः धार्मिक क्रिया कलापों और रूपकों वाले भाग ही आरण्यक कहलाते हैं तथा दार्शनिक भाग उपनिषद् कहलाते हैं, आरण्यक ग्रन्थ धार्मिक उपासनाओं का मुख्यतः वर्णन करते हैं, तथा यत्र तत्र उनकी रहस्यपूर्ण व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन काल में वैदिक शिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर विद्यार्थीयों के समक्ष तीन मार्ग होते थे। (1) अपने गुरू के समीप आजीवन रहना (2) गृहस्थ जीवन बिताना (3) वैरवानस अथवा वानप्रस्थी बनना। जिनमें से एक का चयन कर वह जीवन यापन करता था। सम्भवतः तृतीय मार्ग के लिए ही आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन निहित था।

11.4.2 ऋग्वेद में आरण्यक ग्रन्थ

ऋग्वेद के दो आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनके नाम हैं - (1) ऐतरेय आरण्यक और कौषीतकि आरण्यक । ऐतरेय आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से है, इसमें पांच खण्ड प्राप्त होते हैं, इसके दूसरे खण्ड में उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता है। इसीलिए इसे ऐतरेय उपनिषद् के नाम से जाना जाता है। ऐतरेय आरण्यक के प्रथम खण्ड में महाव्रत , द्वितीय में उक्थ भस्म प्राणविद्या तथा पुरूष का विवेचन है, तृतीय में ध्वनि विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वरं तथ व्यञ्जन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पांचवें खण्डों में कतिपय अन्य विषयों के साथ ''निस्कैवल्प शस्म का वर्णन प्राप्त होता है, कतिपय विद्वान उपर्युक्त पांच खण्डों को ही पांच आरण्यक के नाम से अभिहित करते हैं।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या सांख्यायन आरण्यक कहा जाता है, इसमें तीन खण्ड प्राप्त होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय निर्देश एवं विधियाँ वर्णित हैं तीसरा खण्ड ही कौषीतकि उपनिषद् कहा जाता है। इसमें अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

11.4.3 यजुर्वेद के आरण्यक ग्रन्थ

शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र आरण्यक वृहदारण्यक प्राप्त होता है, इसमें जीव,जगत, एवं आत्मतत्व का विभेद विवेचन किया गया है, कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीय आरण्यक मिलता है, इसमें दस प्रपाठक हैं. इसके प्रथम और तृतीय प्रपाठक में यज्ञाग्नि् की स्थापना के नियम बतलाये गये हैं। दूसरे प्रपाठक में स्वाध्याय के नियम बतलाये गये हैं। चतुर्थ से षष्ठ तक के प्रपाठकों में दर्शपूर्णमासादि तथा पितृमेधादि विषयों का विचार किया गया है। इसका सातवां,आठवां,नौवां प्रपाठक तैत्रीरीय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें शिक्षा एवं ब्रह्मविद्या का विशद प्रतिपादन किया गया है।

11.4.4 सामवेद के आरण्यक ग्रन्थ

सामवेद से सम्बन्ध रखने वाले दो आरण्यक सम्प्रति प्राप्त होते हैं (1) छान्दोग्य आरण्यक

(2) तवलकार आरण्यक । छान्दोग्य आरण्यक में छः प्रपापक प्राप्त होते हैं, इसका सम्बन्ध सामसंहिता के मन्त्रों का गान करने वाले छान्दोगों से है, इस आरण्यक में छन्दोगों के करणीय कार्यों का निर्देश हुआ है, प्रसिद्ध सामवेदीय उपनिषद् ''छान्दोग्योपनिषद् '' इसी का परिशिष्ट है। तवल्कार आरण्यक को 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण '' भी कहा जाता है, इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में छोटे-छोटे अनुवाक हैं। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में प्रसिद्ध उपनिषद् ''केनोपनिषद् '' वर्णित है।

11.4.5 अथर्ववेद के आरण्यक ग्रन्थ

अथर्व वेद से सम्बन्धित एक भी आरण्यक ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता है, अथर्ववेद से सम्बद्ध जो अनेक उपनिषद् उपलब्ध होते हैं, वे किसी आरण्यक के अंश न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्राप्त होते हैं।

आरण्यक ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य उद्गत होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञान काण्ड प्राप्त होता है, उनका प्रारम्भ आरण्यकों में ही हो गया था, आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार आरण्यकों का मुख्य विषय यज्ञ नही,प्रत्युत यज्ञ भागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा करना है, इनमें प्राण विद्या तथा प्रतीक उपासना का विषय वर्णित किया गया है।

11.5 उपनिषद् ग्रन्थ

वैदिक वाङ्मय के चतुर्थ अंग के रूप में उपनिषदों की गणना की जाती है। वेद के अन्तिम भाग होने के कारण इन उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त हैं, वैदिक धर्म की मूल तत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में 'उपनिषद ग्रन्थ ही मुख्य माने गये हैं। अन्य दो प्रस्थान गीता तथा ब्रह्मसूत्र का आधार भी वही है।

उपनिषद् मुख्यतया ब्रह्मविद्या का द्योतक है, क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार बीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है। उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है, मुक्तकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी जाती है, जिसमें आचार्य शंकर ने दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है, वस्तुतः यही उपनिषद् प्राचीनतम एवं प्रामाणिक माने जाते हैं,उनके नामों का क्रम इस प्रकार है -

ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं दश ।।

उपनिषदों में जीव और जगत् के रहस्यों के उदघाटन के साथ अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया गया है। यहाँ कतिपय प्रमुख उपनिषदों का परिचय दिया जा रहा है।

11.5.1 ऐतरेयोपनिषद्

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध अत्यन्त लधुकाय माना जाता है, ऐतरेय ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को 'ऐतरेयोपनिषद् ' कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं जिनमें क्रमशः सृष्टिविद्या, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है।इस उपनिषद् का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरूष सूक्त है, जिसमें समस्त चराचर जगत को एकमात्र आत्मा = पुरूष से उदभूत बतलाया गया है।

11.5.2 कौषीतकि उपनिषद्

इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद से हैं,कौषीतकि आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिला कर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि के द्वारा किया गया प्रतीत होता है, इसमें कतिपय याज्ञिक विधानों के साथ ब्रह्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है।

11.5.3 श्वेताश्वतरोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित है, इसमें सम्पूर्ण विश्व को मायिक तथा ब्रह्म का प्रतिरूप माना गया है, इसमें यत्र तत्र योग के सिद्धान्तों सम्यक् प्रतिपादन प्राप्त होता है, यह कठोपनिषद् का उत्तरवर्ती उपनिषद् है क्योंकि इसमें कठोपनिषद् के अनेक अंश उद्धृत किये गये हैं।

11.5.4 कठोपनिषद्

यह भी कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है, इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से है, इसमें दो अध्याय है, तथा प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन बल्लियाँ हैं इसमें यम-नचिकेता के संवाद के माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिये जीव,जगत और परमात्म तत्व का सरलतम एवं हृदयग्राही उपदेश प्रस्तुत किया गया है। श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को बांधते हैं परन्तु आत्म ज्ञानी प्रेय से अपने को मुक्त कर लेता है तथा श्रेय का वरण कर लेता है। इसी तथ्य को इस उपनिषद् में अच्छी तरह समझाया गया है।

11.5.5 तैत्रिरीयोपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक का सातवां, आठवां, नौवां, प्रपाठक ही वस्तुतः तैत्रिरीयोपनिषद् कहा जाता है, इन तीनों प्रपाठकों में क्रमशः शिक्षा का माहात्म्य, ब्रह्मतत्त्व निरूपण, तथा वरूण द्वारा अपने पुत्र को दिया गया ब्रह्मज्ञान (वारूणी विद्या) का निरूपण प्राप्त होता है। इन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षा बल्ली, ब्रह्मानन्द बल्ली, तथा भृगुबल्ली के नाम से अभिहित किया जाता है इसमें ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के लिए यद्यपि वारूणीउपनिषद् का प्राधान्य है तथापि चित्र की शुद्धि तथा गुरूकृपा की प्राप्ति के विभिन्न शिक्षा बल्ली का साधन के रूप में उपयोग आवश्यक है।

11.5.6 मैत्रायणीयोपनिषद्

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा से है,इसमें सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें सात प्रपाठक हैं, तथा पूरा उपनिषद् प्रायः गद्यात्मक है,इसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान जैसे विषयों का निरूपण किया गया है।

11.5.7 वृहदारण्यकोपनिषद्

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है,शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के 14वें काण्ड का अन्तिम छः अध्याय ही वृहदारण्यकोपनिषद् कहा जाता है, यह पर्याप्त विशालकाय होने से वृहद आरण्यक कहा गया है, यह तीन भागों में विभक्त है तथा पुनः प्रत्येक भाग के दो दो अध्याय किये गये हैं [illegible] 'याज्ञवल्क्य काण्ड' ततीय भाग 'खिल काण्ड' कहा

जाता है, इसमें आत्मतत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।

11.5.8 ईशावास्योपनिषद्

इस उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेदीय मन्त्र संहिता से है, शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम चालीसवां अध्याय ''ईशावास्यमिदं सर्वम् '' से प्रारम्भ होता है, अतः यह ''ईशावास्योपनिषद् नाम से कहा जाता है, इसमें केवल 18 मन्त्र हैं, परन्तु उपनिषदों के सभी विषयों का समावेश इसमें संक्षेपतः हो गया है । प्रथमतः वेदोक्त कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करने के लिए उपदेश दिया गया है, अन्त में सबकुछ ईश्वर का मान कर त्यागभावना से सासांरिक वस्तुओं उपभोग का निर्देश दिया गया है।

11.5.9 छन्दोग्योपनिषद्

यह सामवेदीय उपनिषद् है। इसमें आठ प्रपाठक हैं जिनमें अन्तिम तीन प्रपाठक आध्यात्म ज्ञान की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है, आदि के प्रपाठकों में ऊँकार का स्वरूप, साम एवं उद्गीत का महत्त्व,सूर्य की उपासना एवं जन्म का विवेचन, गायत्री महत्त्व,आध्यात्म शिक्षा आदि विषयों का निरूपण किया गया है, ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' यह प्रसिद्ध श्रुतिवाक्य इसी उपनिषद् से लिया गया है। इसी में रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्यकाम जाबाल का आख्यान, तथा महाराज उपकोशल को सत्यकाम जाबाल से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का रोचक विषय प्रस्तुत किया गया है। ''तत्त्वमासि'' यह महा वाक्य यही से लिया गया है,इसमें परम दार्शनिक आचार्य 'आरूणि' है, तथा इसी में सनत्कुमार तथा नारद का नितान्त विश्रुतवृत्रान्त वर्णित है, जिसका अन्तिम उपदेश है, ''यो वै भूमा तदमतम् ,अथ यदल्यं तन्मर्त्यम् '' ।

11.5.10 केनोपनिषद्

यह सामवेदीय जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ तवलकार का नवम अध्याय है, अपने प्रारम्भिक पद - (केनेषितं पतति प्रेषित मनः) के कारण इसका नाम ''केनोपनिषद्'' होगया है, इसमें कुल चार खण्ड हैं, प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है, दूसरे में रहस्य मय तत्त्व का संकेत है, तीसरे तथा चौथे में हैमवती भगवती उमा के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्मपरमात्मा के सर्वशक्तिमान होने का तथा इन्द्रादि देवताओं के अल्पशक्तिमान होने का सुन्दर निदर्शन दिया गया है।

11.5.11 मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय शौंनक शाखा से सम्बद्ध है, सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभक्त है, पुनः प्रत्येक मुण्डक दो दो अध्यायों में विभक्त है, इस उपनिषद का नामकरण सम्भवतः 'मुण्ड' साधुओं के नाम पर पड़ा है, जो आध्यात्म चिन्तन के लिए अपने सिर को सदैव मुड़ाये रखते थे, इसमें सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन किया गया है।

11.5.12 माण्डूक्योपनिषद्

यह उपनिषद् भी अथर्ववेद से सम्बन्धित अत्यन्त लधुकाय उपनिषद् है, इसमें कुल 12 मन्त्र हैं, प्रथम मन्त्र से ही ओंकार की महिमा का वर्णन किया गया है तथा अवसान भी ओंकार तत्त्व की

महिमा के साथ हुआ है।

11.5.13 प्रश्नोपनिषद्

इस उपनिषद् का सम्बन्ध अथर्व वेद की पिप्पलाद शाखा से है, सम्पूर्ण उपनिषद् प्रायः गद्यमय है, इसमें महर्षि पिप्पलाद के द्वारा छः जिज्ञासु ऋषियों के छः प्रश्नों का विचार पूर्ण उत्तर प्रस्तुत किया गया है तथा इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने के व्याज से आत्म तत्त्व का विशद विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अनेक अन्य उपनिषदों की भी सत्ता प्राप्त होती है जैसे महानारायणोपनिषद्, वास्कलमन्त्रोपनिषद् , छागलेयोपनिषद्, आर्षेयोपनिषद, शौनकोपनिषद् आदि। इन उप निषदों में आध्यात्म तत्त्व का विवेचन तथा मानवीय कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है।

11.6 वेदाङ्गो का सामान्य परिचय

वेद मन्त्रों का सही उच्चारण तथा उनके अर्थो का सही बोध सम्पन्न करने के लिए ही प्राचीन आचार्यो ने वेद के छः सहायक ग्रन्थों का निर्माण किया, जिन्हें वेदाङ्ग कहा जाता है, इनके नाम हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष। वेदों के शुद्ध पाठ, अर्थज्ञान, यज्ञों में मन्त्रों की उपयोगिता, यज्ञ के लिए उचित समय का ज्ञान, तथा वेदी निर्माण की सही प्रक्रिया का परिज्ञान, आदि अनेक विषय उपर्युक्त वेदाङ्गों के वर्ण्य विषय हैं। पाणिनि शिक्षा के अनुसार ध्राण (नासिका) हस्त, मुख, श्रोत्र,पाद, तथा नेत्र क्रमशः शिक्षादि के रूप में वेद के अंङ्ग माने गये हैं जैसे -

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षु र्निरूक्तं श्रोत्र मुच्यते ।
शिक्षा ध्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्तृम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।

पा.शि. 41,42

जिस प्रकार आंख,नाक, कान, मुख, हाथ और पैर से शरीर सर्वाङ्ग पूर्ण माना जाता है, उसी प्रकार इन शिक्षा आदि वेदाङ्गों के अध्ययन से वेदाध्ययन की परिपूर्णता मानी जाती है, यहाँ वेदाङ्गों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

11.6.1 शिक्षा

षड्वेदाङ्गों में शिक्षा का स्थान प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण हैं। यह वेद की नासिका बतलायी गयी है, (शिक्षा ध्राणं तु वेदस्य)। शिक्षा का लक्षण यह बतलाया गया है ''स्वर वर्णोच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'' अर्थात् जिस शास्त्र में वेदमन्त्रों के स्वरों तथा वर्णों के उच्चारण का ठीक ठीक उपदेश किया गया हो, उसे 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग कहा जाता है।

वेदों की विभिन्न शाखाओं के उच्चारण प्रकार को बतलाने के लिये प्राचीन आचार्यो ने विभिन्न शिक्षा ग्रन्थों का निर्माण किया। शिक्षा संग्रह नामक ग्रन्थ में 32 शिक्षा ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसमें प्रतिवेद से सम्बन्धित भिक्षा ग्रन्थों का संग्रह किया गया है। सम्प्रति शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवलक्य शिक्षा, कृष्ण यजुर्वेद की व्यास शिक्षा, सामवेद की नारदीय शिक्षा, तथा अथर्ववेद की माण्डूरी शिक्षा सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है, पाणिनि शिक्षा को ऋग्वेदीय शिक्षा के रूप में

मान्यता दी जाती है। इसके अतिरिक्त वाशिष्ठी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, गौतमी शिक्षा, आपिथली शिक्षा, केशवी शिक्षा आदि का भी अस्तित्व प्राप्त होता है।

शिक्षा ग्रन्थोंके वर्ण्य विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान, इन्हीं छः तत्वों की गणना की गयी है। इन्हें विषयों में से किसी एक या दो विषय को लेकर शिक्षा ग्रन्थों की प्रवृत्ति देखी जाती है, प्रातिशाख्यों में भी शिक्षा के विवेच्य विषय प्राप्त होते हैं, अतः प्रातिशाख्य को शिक्षा वेदाङ्ग के अन्तर्गत रखा गया है।

11.6.2 कल्प

षड्वेदाङ्गों में दूसरा वेदाङ्ग 'कल्प' के नाम से जाना जाता है, इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, वैदिक कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन, संस्कारों का विधान, वेदी निर्माणादि का निर्देश तथा धार्मिक आचार विचारों का उपदेश आदि। कल्पग्रन्थ प्रायः सूत्रों में प्रणीत है, जिन्हें चार भागों में विभक्त किया गया है, (1) श्रौत सूत्र (2) गृह्य सूत्र (3) शुल्ब सूत्र (4) धर्मसूत्र।

श्रौत सूत्रों में श्रुति द्वारा प्रतिपादित कर्मों के विधान का निर्देश किया गया है, जैसे अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्माष्य, सोमयाग, राजसूययाग, अश्वमेध याग आदि।

गृह्य सूत्रों में स्मृति तथा पुराणादि ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित पारिवारिक संस्कारों के कृत्यों का निर्देश किया गया है, जैसे विवाह, यज्ञोपवीत, मुण्डन, नामकरण, अन्नपाराशन, आदि संस्कार।

शुल्बसूत्र में वेदी तथा मण्डप, कुण्ड आदि के निर्माण में यथाशास्त्र लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आदि के विषय में निर्देश किया गया है। इसी प्रकार धर्म सूत्र में यज्ञीय कार्यों में लगे हुये ऋत्विक यजमानों के लिये पालनीय नियमों एवं करणीय आचारों का निर्देश प्राप्त होता है। कल्प वेदाङ्ग के ये चारों विभाग प्रत्येक वेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्राप्त होते हैं। जैसे कात्यायन श्रौत्रसूत्र, आश्वलायन श्रौस सूत्र, सत्याषाठ श्रौत्र सूत्र, बोधायन श्रौत सूत्र, आपरत्त श्रौतसूत्र, भारद्वाज श्रौत सूत्र, पाधूल श्रौत सूत्र आदि।

श्रौत सूत्रों की तरह गृह्य सूत्र तथा धर्म सूत्रों की भी विभिन्नता प्राप्त होती है। जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र, पारस्कर गृह्य सूत्र, शांखायन गृह्यसूत्र, कौशिक गृह्य सूत्र, खादिरगृह्य सूत्र आदि। धर्म सूत्र संप्रति पांच उपलब्ध होते हैं। आपस्तम्भवधर्म सूत्र, हिरण्य के भी धर्मसूत्र, बोधायन धर्म सूत्र, गौतम धर्मसूत्र, तथा वशिष्ठ धर्म सूत्र। इसी प्रकार शुल्ब सूत्रों में कात्यायन शुल्बसूत्र मानवशुल्व सूत्र,मैत्रायणी शुल्ब सूत्र, तथा वाराह शुल्ब सूत्र का उल्लेख प्राप्त होता है।

11.6.3 व्याकरण

व्याकरण शास्त्र को वेदपुरूष का मुख बतलाया गया है, वेदाङ्गों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, शब्दों में प्रकृति प्रत्यय को बोध कराकर शब्दार्थ बोध कराना ही इसका मुख्य प्रयोजन है। तद्यथा "व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् " व्याकरण की परम्परा यद्यपि बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है फिर भी छठी शताब्दी में महर्षि पाणिनि ने लगभग 4000 सूत्रों से समन्वित आठ अध्यायों में व्यवस्थित "अष्टाध्यायी" नामक ग्रन्थ की रचना करके व्याकरण परम्परा को स्थिरता प्रदान की। अष्टाध्यायी में कुल आठ अध्याय, तथा प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टाध्यायी ग्रन्थ 32 पादों में विभक्त है, इसमें लौकिक संस्कृत के साथ

वैदिक संस्कृत व्याकरण का भी विवेचन किया गया है। इसी ग्रन्थ पर आचार्य कात्यायन ने वार्तिक लिखकर पाणिनि की दृष्टि से ओझल हुये कतिपय तथ्यों को स्पष्ट कर दिया है, पुनः महर्षि पतञ्जलि ने इसी ग्रन्थ पर विस्तृत 'महाभाष्य' की रचना कर पाणिनि एवं कात्यायन के सूक्ष्म दृष्टिकोण का यथोचित समर्थन किया है।

इस प्रकार इन तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि) के द्वारा 'व्याकरण' नामक वेदाङ्ग ने परिपूर्णता को प्राप्त कर लिया। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र के मुख्य पांच प्रयोजन बतलाये हैं- "रक्षोहागमलध्व सन्देहाः प्रयोजनम् " अर्थात् वेदों की रक्षा, नूतन पदों की संरचना, आगम = श्रुतियों के तात्पर्य का परिज्ञान, लघु पदों से विस्तृत अर्थ को बोध कराना, तथा सर्वथा सन्देह रहित अर्थ का निरूपण करना व्याकरण शास्त्र का प्रयोजक है।

11.6.4 निरूक्त

आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्यभूमिका में निरूक्त का लक्षण बतलाया है, "अर्थावबोधे पद जातं यत्रोक्तं तनिरूक्तम् " अर्थात् अर्थ बोध के लिए कठिन पदों में स्वतन्त्र रूप से प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करके अर्थनिर्धारण करने वाला शास्त्र 'निरूक्त' कहा जाता है। वस्तुतः वैदिक क्लिष्ट पदों का संग्रह प्राचीन ऋषियों ने 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ में किया था, जिन में सरलता से प्रकृति- प्रत्यय का बोध नहीं हो पाता था, उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन क्लिष्ट पदोंपर अपनी व्याख्या की, जो निरूक्त शास्त्र के नाम से जाना गया। इस प्रकार निघण्टु पर व्याख्या करने वाले निरूक्तकार कहे गये। सम्प्रति उपलबध निरूक्त के रचनाकार 'यास्क' माने जाते हैं। इन्होंने निघण्टु के पांच अध्यायों की व्याख्या 12 अध्यायों में की है, जो 'निरूक्त शास्त्र' के नाम से जाना जाता है, बाद में परिशिष्ट के रूप में दो अध्याय और जोड़ दिये गये हैं, इस प्रकार सम्प्रति उपलब्ध निरूक्त तीन काण्ड (नैधण्टुक काण्ड, नैगमकाण्ड, दैवतकाण्ड) तथा 14 अध्यायों में विभक्त है, निरूक्त के प्रसिद्ध भाष्य कार 'दुर्गाचार्य' माने जाते हैं, आचार्य 'यास्क' ने अपने पूर्ववर्ती निरूक्तकारों का स्मरण निरूक्त में किया है, एक मान्यता के अनुसार 'आचार्य यास्क' 14वें निरूक्तकार माने जाते हैं। निरूक्त का वर्ण्य विषय मुख्यतः पांच बतलाया गया है तद्यपा

वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ ।
धातो स्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविद्यं निरूक्तम् ।।

अर्थात् वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धातु के अतिशय अर्थ का योग इन्हीं पांच उपायों से शब्द का निर्वचन किया जाता है। निरूक्त के दैवत काण्ड में देवताओं का स्वरूप, तथा उनके निवास स्थान एवं सहयोगी देवी-देवताओं के विषय में पर्याप्त काश डाला गया है।

11.6.5 छन्दः शास्त्र

"छन्दः पादौ तु वेदस्य" कथन के द्वारा छन्द को वेद का पाद बतलाया गया है, जिस प्रकार पाद के बिना किसी भी जीव की गति नहीं हो सकती। उसी प्रकार छन्दः परिज्ञान के बिना वेदमन्त्रों के उच्चारण एवं अर्थबोध में गति नहीं आ सकती है। आचार्य कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' नामक ग्रन्थ में 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' के द्वारा छन्द का लक्षण बतलाया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद, सामवेद, एवं अथर्ववेद छन्दों पर आधारित विभिन्न पादों में व्यवस्थित हैं, यजुर्वेद में भी छन्द हैं परन्तु उनका **उच्चारण यजुर्वेदीय** उच्चारण धर्म से अर्थात गद्यात्मक रीति से किया जाता है। गायत्री-उष्णिक आदि

छन्दों पर समस्त वेदों का समान्नान होने के कारण 'छन्दस् ' शब्द से वेद का बोध किया जाता है।

आचार्य कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' में मुख्यतः सात वैदिक छन्दों का उल्लेख हुआ है, गायत्री,उष्णिक,अनुस्टुप, वृह्ती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, इनमें क्रमशः 24, 28, 32, 36, 40, 44, 48, अक्षरों का परिमाण बतलाया गया है, इसके भूरिक निभृत आदि अनेक भेद बतलाये गये हैं । पिङ्गलाचार्य रचित "पिङ्गलछन्दः सूत्रम् " के वैदिक प्रकरण में वेद के समस्त छन्दों का सर्वांङ्गपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है,प्रायः सभी वैदिक छन्द आक्षरिक हैं, इन्हीं के आधार पर लौकिक छन्दों के आक्षरिक एवं मात्रिक स्वरूप का विकास माना जाता है।

11.6.6 ज्योतिष शास्त्र

'ज्योतिषं नेत्र मुच्यते' के अनुसार ज्योतिष शास्त्र वेद का नेत्र माना गया है, याज्ञिक विधि विधान के लिए तिथि, नक्षत्र, पक्ष,मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का परिज्ञान आवश्यक बतलाया गया है, इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का अध्ययन अपरिहार्य माना गया है। वेदाङ्ग ज्योतिष से सम्बन्धित प्राचीन काल के दो प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, (1) याजुष ज्योतिष (2) ऋकज्योतिष, स्पष्ट है कि याजुष ज्योतिष का सम्बन्ध यजुर्वेद से तथा ऋक ज्योतिष का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। प्राचीन कालिक 'लगध' नाम के एक आचार्य ने भी 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जिसमें वैदिक यज्ञानुष्ठानों के लिये विहित नक्षत्रादि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। उस समय वराहमिहिर द्वारा रचित 'सूर्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ ने भी विशेष महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त किया। बाद के समयों में ज्योतिष से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना हुयी, प्रारम्भ में ज्योतिष के दो भेद पाये जाते थे, (1) गणित ज्योतष, (2) फलित ज्योतिष। कालान्तर में होरा, संहिता, गणित,प्रश्न,और निमित्त इन पांच अंगोंका विकास हुआ।

ज्योतिष शास्त्र के द्वारा तिथि नक्षत्रादि का परिज्ञान करने के उपरान्त ही वैदिक यज्ञानुष्ठानादि कर्मों को समुहूर्त में करने का निर्देश प्राप्त होता है, तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में, और वैश्य को शरद ऋतु में अग्नि का आधान करना चाहिए, इसी प्रकार कुछ यज्ञ की सायंकाल एवं प्रातःकाल, विशिष्ट मासों, पक्षों एवं तिथियाँ बतलाये गये हैं। इसके साधुसम्पादन के लिये जो काल विधानशास्त्र (ज्योतिष) को जानता है वही वस्तुतः वेद एवं वेदोक्त कर्मों को अच्छी तरह जानता है, तद्यथा

वेदा हि यज्ञार्थममिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ।।

(लगध ज्योतिष)

11.7 बोध प्रश्नोत्तर

प्र. ऋग्वेद के कितने आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं?

उ. ऋग्वेद के दो आरण्यक (1) ऐतरेय आरण्यक (2) कौषीतकि आरण्यक प्राप्त होते हैं।

प्र. सांख्यायन आरण्यक किस वेद से सम्बन्धित है?

उ. ऋग्वेदीय कौषीतकि आरण्यक का दूसरा नाम सांख्यायन आरण्यक है, अतः यह ऋग्वेद से सम्बन्धित आरण्यक माना जाता है।

प्र. बृहदारण्यकोपनिषद् का सम्बन्ध किस वेद से है?

उ. वृहदारण्यकोपनिषद् का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है।

प्र. तैत्तिरीय आरण्यक में कुल कितने प्रपाठक हैं?

उ. तैत्तिरीय आरण्यक में कुल दस प्रपाठक हैं।

प्र. तैत्तिरीयोपनिषद् किस वेद से सम्बन्ध रखता है?

उ. तैत्तिरीयोपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। वस्तुतः तैत्रिरीय आरण्यक का सातवां, आठवां और नौवा प्रपाठक ही तैत्तिरीयोपनिषद् कहा जाता है।

प्र. कठोपनिषद् का विभाजन किस प्रकार किया गया है?

उ. कठोपनिषद् दो अध्यायों में विभक्त है, तथा प्रत्येक अध्याय में तीन तीन बल्लियाँ हैं।

प्र. वारूणी विद्या का उपदेश किस ग्रन्थ में किया गया है?

उ. तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगुवल्ली में 'वारूणी विधा' का उपदेश प्राप्त होता है।

प्र. माण्डूक्योपनिषद् किस वेद से सम्बन्धित है?

उ. माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित है।

प्र. प्रातिशाख्यों की गणना किस वेदाङ्ग में की जाती है?

उ. प्रातिशाख्यों की गणना शिक्षा नामक वेदाङ्ग में की जाती है।

प्र. कल्प वेदाङ्ग के कितने विभाग बतलाये गये हैं?

उ. 'कल्प' के चार विभाग माने जाते हैं (1) श्रौत सूत्र, (2) गृह्यसूत्र (3) शुल्ब सूत्र (4) धर्म सूत्र ।

प्र. व्याकरण शास्त्र के आद्य उपदेशक कौन हैं?

उ. मुनित्रय - पाणिनि - कात्यायन, पतञ्जलि को व्याकरण शास्त्र का आद्य उपदेशक माना जाता है।

NOTE

NOTE

NOTE

NOTE